परमार्थसार

भगवान अभिनवगुप्तपादप्रणीत
शैवाचार्य श्रीयोगराजरचित वृत्ति

संस्कृत मूलपाठ तथा हिन्दी रूपान्तरण टिप्पण सहित

प्रो० नीलकंठ गुर्टू

परमार्थसार

आचार्य अभिनवगुप्तपादप्रणीत एवम्
शैवाचार्य श्रीयोगराजकृत संस्कृत वृत्ति

सम्पादन एवं हिन्दी रूपान्तरण
प्रो० नीलकंठ गुर्टू

पेनमैन पब्लिशर्स
दिल्ली (भारतवर्ष)

ISBN : 81-85504-41-5

संस्करण : 2004
© प्रो॰ नीलकण्ठ गुर्टू

प्रकाशक :

जवाहरलाल गुप्त पीजीडीबीपी(सम्पा.)

पेनमैन पब्लिशर्स

7308, प्रेम नगर

शक्ति नगर, दिल्ली-110007

दूरभाष : 011-27112806

ई-मेल : penman_bks@hotmail.com

अक्षरायोजक :

कम्पाग्राफिक प्वाइंट,

ब्रह्मपुरी, दिल्ली-110053

दूरभाष : 22172322

मुद्रक :

अमित एन्टरप्राइजेज

मौजपुर, दिल्ली

PARAMĀRTHASĀRA BY ĀCĀRYA ABHINAVAGUPTAPĀDA

With Sanskrit Commentary by Śrī Yogarāja

Edited & Translated into Hindi By N.K. Gurtoo

RS.295/-(PB)

PARAMĀRTHASĀRA

(Quintessence of the Highest Spiritual Knowledge)

OF ĀCĀRYA ABHINAVAGUPTAPĀDA

WITH SANSKRIT COMMENTARY OF ŚRĪ YOGARĀJA
EDITED WITH HINDI TRANSLATION AND NOTES

PROF. N.K. GURTOO

PENMAN PUBLISHERS
DELHI (INDIA)

ॐ नमः शिवाय

पूर्वावलोकन

भगवती शारदा के मनभावन निवासस्थल एवं समग्र भारतवर्ष के रत्नमंडित किरीटतुल्य कश्मीर के सुदूर पूर्वकालीन अद्वैततंत्रों, जिनमें अधिकांश के अब केवल नाममात्र ही अवशिष्ट रहे हैं, में वर्णित पूर्ण अद्वैतसिद्धांत को पराद्वैतवाद या परमाद्वैतमार्ग के नाम से जाना जाता था। वह अद्वैतवाद विशुद्ध रूप में सैद्ध-सिद्धान्त था। उसमें सिद्धान्तपक्ष अथवा दर्शन, एवं प्रयोगपक्ष अथवा साधनापद्धति का अलग-अलग विश्लेषण एवं विभाजन नहीं पाया जाता था। उसमें नीरस तार्किक वाद-प्रतिवादों एवं सर्वसम्मत मान्यताओं के खंडन-मंडन के लिए कोई स्थान नहीं था। उस समय आत्मज्ञान की पिपासा को शांत करने के लिए उत्सुक और यथार्थरूप में मुमुक्षु शिष्यगण पहले सिद्ध गुरुवर्यों की शुद्धभाव से परिचर्या करके उनसे अध्यात्मसंबन्धी सिद्धान्तपक्ष की पूरी जानकारी प्राप्त कर लेते थे। उपरान्त उन्हीं के द्वारा उपदिष्ट साधना-पक्ष का धीरता से अभ्यास एवं अनुसंधान करने के द्वारा प्राप्त की हुई आत्मिक अनुभूति की अपार क्षमता से यथार्थ-तत्त्व का अपने अंतस् में ही साक्षात्कार करके कृतकृत्य बन जाते थे। वे लोग सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक विषयों को आंतरिक संवेदन से ही प्रमाणित कर पाते थे। ऐसा करने के लिए उनको हृदयपक्ष (चित्-विमर्श) की पूरी अवहेलना करके कोरे बौद्धज्ञान के लिए अपेक्षित प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की वशवर्तिता नहीं करनी पड़ती थी। तात्कालीन साधकों का इस तथ्य के विषय में शत प्रतिशत मतैक्य था कि सर्वव्यापी, सर्वतोमुखी एवं स्वयं-सिद्ध चित्-प्रकाशमय परमार्थ स्थूल इन्द्रियबोध पर आधारित उपायों से गम्य नहीं है–

'उपाय जालं न शिवं प्रकाशयेत्-
घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।'

वह परमार्थ-तत्त्व (स्वात्ममहेश्वरदेव) ईश्वरीय अनुग्रह एवं अपनी अनथक साधना के द्वारा, अपने ही अंतस् में निर्मल ऋतंभरा-प्रज्ञा, दृढ़ आंतरिक अनुशीलन और आत्म-शक्ति को उजागर बनाने से ही स्व-संवेद्य बन जाता है, अगर अपने ही अंदर तीव्र-जिज्ञासा का भाव उदित हुआ हो। वे उत्कृष्ट कोटि के साधक होने के कारण इस लक्ष्य को पाने के लिए व्यर्थ के तार्किक वादविवादों के द्वारा आध्यात्मिक गुत्थियों को सुलझाने में अपना अमूल्य मानवजीवन नष्ट करने के पक्ष में नहीं थे। यद्यपि 'तर्को योगाङ्गमुत्तमम्'—इस शास्त्रकथन के अनुसार वे लोग भी तर्क को योगसाधना का एक उत्कृष्ट एवं अपेक्षित अंग मानते थे, परन्तु अर्वाचीन बुद्धिवाद प्रध ान युग में तर्क शब्द का जैसा अभिप्राय लिया जाता रहा है उससे उन प्राचीन लोगों का दृष्टिकोण नितरां भिन्न था। उनकी मान्यता के अनुसार सत्-तर्क का रूप शुष्क वाद या वितण्डा नहीं, प्रत्युत अपने अनुसंधान में प्रतिपल चित्प्रकाशमय परमार्थ के साथ आत्मिक एकाकारता के रूपवाली 'अहंभावना' को परिपक्व बनाने वाली युक्ति था—'सत्-तर्को युक्तिः'। अभिप्राय यह कि गुरुवाक्य, शास्त्रवाक्य और निजी अनुभूति इन तीनों का अपने अंतस् में गहरा अनुशीलन करने के उपरान्त परमार्थ की टोह लगाने को ही वे लोग सत्-तर्क मानते थे। ज़ोर-ज़बर्दस्ती अपने पक्ष को सबल और परपक्ष को निर्बल ठहराने के अभिप्राय से किये जानेवाले शास्त्रीय घात-प्रतिघात को वे लोग निःसार वितण्डामात्र समझते थे। इन्हीं कारणों से उनके लिए अद्वैतवाद के सिद्धान्तपक्ष एवं प्रयोगपक्ष का अलग-अलग विभाजन करना अपेक्षित नहीं था।

ईसा की आठवीं और नवीं शताब्दियों में कश्मीर में विशुद्ध बुद्धिवाद एवं भौतिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों पर आधारित प्रखर बौद्ध-तर्क का बोल-बाला रहा। बौद्ध दार्शनिकों की मीमांसाशैली पूर्णतया अनात्मवाद पर आधारित होने के कारण तर्कबहुल थी। फलतः तात्कालीन शैव दार्शनिकों को भी उनके सबल तर्कों का खंडन करने के हेतु उनसे भी अतिप्रबल तार्किक युक्तियों का आश्रय लेना अनिवार्य बन गया। इस प्रक्रिया में प्राचीन पराद्वैत सिद्धान्त के दार्शनिक एवं प्रायोगिक पक्षों का विभाजन किया जाना नितरां स्वाभाविक बन गया। सिद्ध वसुगुप्त, जिसको कश्मीर की प्रचलित लोकपरंपरा के अनुसार साक्षात् स्वयं महादेव ने

स्वप्नावस्था में दर्शन देकर अद्वैतज्ञान की दीक्षा दी थी, ने और उसकी शिष्य परंपरा ने इस दुरूह कार्यभार को पूरा करने का बीड़ा उठाया। सब से पहले उसके प्रमुख शिष्य आचार्य सोमानन्द ने **शिवदृष्टि** नामक मौलिक सिद्धान्तग्रन्थ लिख कर बौद्ध-तर्क पर ऐसा ज़ोरदार कुठाराघात किया कि वह सहसा धराशायी हो गया। यह ग्रन्थ तर्कबहुल होने के कारण सर्वसाधारण जनसमाज के लिए इतना दुरूह था कि आगे चलकर उनके शिष्य आचार्य उत्पलदेव को **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** नामक दर्शनशास्त्र लिखकर इसमें वर्णित विषयों का विश्लेषण करना पड़ा। परन्तु उनके ऐसा प्रयत्न करने पर भी समस्या का पूरा समाधान संभव नहीं हो सका क्योंकि **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** शास्त्र भी साधारण प्रतिभा वाले शिष्यों के लिए लाभप्रद सिद्ध नहीं हुआ। ऐसी परिस्थिति में उनके ख्यातिप्राप्त प्रशिष्य आचार्य अभिनवगुप्त को उस पर विमर्शिनी एवं विवृतिविमर्शिनी नामवाली गंभीर एवं पांडित्यपूर्ण विस्तृत टीकाएँ लिखनी पड़ी। उन्होंने भगीरथ प्रयत्न करके इन बृहती टीकाओं में पराद्वयवाद के दार्शनिक पक्ष की सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं तर्कपूर्ण विवेचना प्रस्तुत की।

इसके अतिरिक्त उन्होंने उस प्राचीन सैद्ध-सिद्धान्त के साधनापक्ष को भी पिछड़ने नहीं दिया। **तन्त्रालोक** जैसे विशालकाय ग्रन्थ और **परात्रीशिकाटीका** जैसे महान टीकाग्रन्थ की रचना करके उस पक्ष का भी पुनरुद्धार किया।

आचार्य अभिनवगुप्त के समय तक आम जनसमुदाय में तर्कबहुल एवं दुरूह दार्शनिक विषयों को समझ सकने वाली प्रतिभा एवं अंतर्दृष्टि का ह्रास हो गया था। साथ ही अपेक्षित उपदेश एवं दीक्षा प्रदान करने के अधिकारी सिद्ध-गुरुओं की भी कमी हो गई थी। फलतः परिस्थिति कुछ ऐसी बन गई थी कि जहां एक ओर परमार्थ के जिज्ञासु शिष्य तो थे, परन्तु दूसरी ओर उनमें **शिवदृष्टि, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** जैसे सैद्धान्तिक एवं **तंत्रालोक** जैसे प्रायोगिक ग्रन्थों को समझ सकने की धिषणा का अभाव था। भगवान् अभिनव की दृष्टि से यह बात भी ओझल नहीं थी। उन्होंने सुकुमारमति वाले शिष्यों को निराश होने से बचाने के लिए अतिसरल एवं तार्किक उलझनों से रहित लघुग्रन्थाों की रचना करने का भी बीड़ा उठाया। उनके ऐसे लघुग्रन्थों में **परमार्थसार** एवं **बोध-पञ्चदशिका** इत्यादि ग्रन्थ सरल

प्रतिभावाले शिष्यों के लिए अतीव लाभप्रद बन गए।

ऐसे लघुग्रन्थों की रचना करने की प्रक्रिया में उन्होंने किसी ऐसे ग्रंथ की रचना करने का प्रयत्न किया जो कलेवर एवं भाषा की दृष्टि से लघु एवं सरल तो हो, परन्तु जिसमें पराद्वयवाद के लगभग सारे प्रमुख सैद्धान्तिक एवं साधनात्मक विषयों का संक्षिप्त समावेश भी हो, ताकि जिज्ञासु शिष्यों की जानकारी अधूरी न रहने पाए और उनमें उल्लिखित उच्चकोटि के ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए अपेक्षित पृष्ठभूमि भी तैयार हो सके। इस अभिप्राय को सिद्ध करने के हेतु उन्होंने एक प्राचीन आचार्य आधारमुनि के द्वारा विचरित आधारकारिकाओं का चयन किया। प्राचीन भारतीय परंपरा के अनुसार आधार शेषनाग का नाम है। व्याख्याकार योगराज के विचारानुसार प्रस्तुत संदर्भ में आधारमुनि से किसी अतिप्राचीन सिद्धगुरु शेषमुनि का अभिप्राय है। अनन्तमुनि भी इसका नामान्तर रहा है। अस्तु, जो भी हो आचार्य अभिनव ने उन्हीं आधारकारिकाओं में कहीं कहीं शैव दृष्टिकोण के अनुसार संस्कार करके और अपनी ओर से भी कुछ नई कारिकाएँ जोड़कर शैवग्रंथ का रूप दे दिया। उसी का नाम **परमार्थसार** है।

'परमार्थ=परम + अर्थ'–इस शब्द से सब से उत्कृष्ट प्रयोजन का अभिप्राय है। मानव जीवन पाकर मात्र एक ही सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन हो सकता है, और वह है स्वात्म-साक्षात्कार पाकर आवागमन से निस्तार पाना। जिस ग्रंथ में उसी महान प्रयोजन को साररूप में समझाने और सरलतम उपाय से उसको सिद्ध कर सकने का मार्गदर्शन किया गया हो उसका 'परमार्थसार' यह बिल्कुल औचित्यपूर्ण नाम है।

इसके अतिरिक्त मूल आधारकारिकाओं का नामान्तर भी 'परमार्थसार' ही रहा था। आचार्य अभिनव ने अपने प्रस्तुत **परमार्थसार** की दूसरी और तीसरी कारिकाओं में इस बात का उल्लेख किया है कि उस सुदूर भूतकाल में किसी वीतराग शिष्य ने भगवान् आधार से परमार्थ के विषय में प्रश्न किया था। उस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने उस शिष्य को परमार्थ संबन्धित रहस्य का सार अपनी आधारकारिकाओं में समझा दिया था। उसी कारण से उस जमाने में भी मूल आधारकारिकाओं को 'परमार्थसार'–इस नाम से जाना जाता था।

मूलतः वह **आधारकारिका** नामक ग्रंथ वैष्णव-अद्वैत संप्रदाय से संबन्धित था। आचार्य अभिनव ने उसी अद्वैत सिद्धान्त को शैव दृष्टिकोण से समझाने के अभिप्राय से मूल कारिकाओं में संस्कार करके प्रस्तुत **परमार्थसार** का रूप दे दिया। यदि ऐसा कहा जाए कि आचार्य जी ने ऐसा करके, वास्तव में, भारत के दो महान शैव एवं वैष्णव संप्रदायों में सैद्धान्तिक समन्वय करने का प्रयत्न किया है तो शायद कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

प्रस्तुत **परमार्थसार** में—परमार्थ का स्वरूपनिर्धारण, छत्तीस तत्त्वों वाली जगत्-रूपता का विकास, सृष्टि की प्रक्रिया, मुक्ति एवं बंधन का रूप, जीवन्मुक्ति की परिभाषा, अक्रम एवं सक्रम शक्तिपात और ज्ञानयोग एवं क्रियायोग पर आधारित साधनाक्रम इत्यादि विषयों को, शैवमान्यताओं के अनुसार, सुगम रीति से समझाया गया है। थोड़े से संस्कृतज्ञान को रखनेवाला जिज्ञासु भी इस ग्रन्थ का सम्यक् अध्ययन करने से **ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा** इत्यादि उच्चकोटि के रहस्यग्रन्थों का अध्ययन कर सकता है।

इस ग्रन्थ पर आचार्य अभिनव के प्रशिष्य एवं श्रीक्षेमराज के शिष्य योगराज ने अतिसरल एवं सारग्राहिणी व्याख्या लिखी है।

नीलकंठ गुर्टू

विषयानुक्रम

ॐ नमः शिवाय

श्रीपरमार्थसार

व्याख्याकार का मङ्गलाचरण

चिद्‌घनोऽपि जगन्मूर्त्या श्यानो यः स जयत्यजः।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडाविदग्धः परमेश्वरः॥१॥

अन्वय/पदच्छेद : यः चित्-घनः अपि जगत्-मूर्त्या श्यानः, स स्व-आत्म-प्रच्छादन-क्रीडा-विदग्धः परमेश्वरः जयति॥

अनुवाद : जो परमेश्वर 'चित्-घन'–अर्थात् तरल चित्-रसमय होने पर भी जगत् के आकार में 'श्यान'–अर्थात् सघन बना हुआ है, उस, स्वरूप को छिपाए रखने की खिलवाड में चतुर, अजन्मा की जयकार हो॥

योऽयं व्यधायि गुरुणा
युक्त्या परमार्थसारसंक्षेपः।
विवृतिं करोमि लघ्वीम्
अस्मिन् विद्वज्जनार्थितो योगः॥

अन्वय/पदच्छेदः गुरुणा यः अयं परमार्थसार–संक्षेपः युक्त्या व्यधायि, अस्मिन् विद्वत्-जन-अर्थितः (अहं) योगः लघ्वी विवृतिं करोमि।

अनुवादः मेरे (परम) गुरु ने अपने रचना-कौशल से जो यह परमार्थसार शास्त्र का संक्षिप्त रूप निर्मित किया है, इस पर (मैं) योगराज, विद्वान् लोगों के अनुरोध से, छोटी विवृति लिख रहा हूँ।

परमार्थसार

आचार्य अभिनवगुप्त का मङ्गलाचरण

कारिका-१

उपक्रमणिका : इह शिवाद्वय-शासने देह-आदि-प्रमातृता -प्राधान्य-स्वसंकल्प-समुत्य-शङ्का-आतङ्क-आलस्य-संशय-आदिरूप-विघ्न-ओघ-प्रसर-प्रध्वंस-पूर्विकां शास्त्र-निष्पत्तिं मन्यमानः, परिमित-प्रमातृता-अधस्पदी-कारेण चिदानन्द-एकघन-स्वात्मदेवता-समावेश- शालिनीं समस्त-शास्त्र-अर्थ-संक्षेप-गर्भां प्रथमतः तावत् परमेश्वर-प्रवणतां परामृशति-

अनुवाद : ग्रंथकार की यह मान्यता रही है कि साक्षात् भगवान शिव से अवतरित प्रस्तुत अद्वैतदर्शन के विषय में किसी भी रहस्यशास्त्र की रचना का कार्य तभी पूरा हो जाता है, जबकि पहले मुख्यतः शरीर इत्यादि जड़ पदार्थों पर प्रमातृभाव का अभिमान रखने वाले निजी संकल्पों से ही उपजे हुए शंका, उपद्रव, आलस्य एवं संदेह इत्यादि विघ्नों की भरमार के प्रसार का पूरा उपशम हो। इसी निष्ठा के कारण वह प्रस्तुत ग्रंथ आरम्भ करने से पहले परमेश्वर के प्रति निजी परिपूर्ण-स्वसमर्पण के रूप वाली प्रह्वता का परामर्श कर रहा है जो कि उस सङ्कुचित प्रमातृभाव के अभिमान को गौण बनाने के द्वारा, मात्र चिदानन्द-स्वरूप आत्ममहेश्वर में परिपूर्ण लयीभाव कराने से अत्यंत रुचिपूर्ण और समूचे शास्त्र के संक्षिप्त अभिप्राय को अपने गर्भ में धारण करनेवाली है–

मूल मङ्गलकारिका

परं परस्थं गहनादनादिमेकं निविष्टं बहुधा गुहासु।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं त्वामेव शम्भुं शरणं प्रपद्ये॥

अन्वय/पदच्छेदः (अहं) परं, गहनात् परस्थम्, अनादिम्, एकं,

बहुधा गुहासु निविष्टं, सर्व-आलयं, सर्व-चर-अचर-स्थं, त्वां शम्भुम् एव शरणं प्रपद्ये।

अनुवादः (मैं अभिनवगुप्त) विश्वोत्तीर्ण भूमिका पर अवस्थित, माया-तत्त्व से अतिक्रान्त, एक ही चिन्मात्रसत्ता होने पर भी नानारूपधारी रुद्र और क्षेत्रज्ञ नाम वाले प्रमाताओं में अनुस्यूत, सारे पदार्थों का विश्रान्तिस्थान बने हुए और सारे चेतन एवं जड़ पदार्थों में व्यापक आप कल्याणकारी शंकर की शरण में पड़ा हूँ।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : त्वां सर्वप्रमातृस्फुरत्तासारं स्वात्म-देवता-रूपम् एव शम्भुम् अनुत्तर-श्रेयः-स्वभाव-सत्तात्मकं शरणं त्रातारं त्वत्-समावेश-समापत्तये संश्रये।

एवकार, शम्भुं स्वात्मदेवता-आकारम् एव प्रपद्ये, न पुनः माया-अन्तः-चारिणं कंचित् भिन्नं देवम्,-इति अन्य-योगम् व्यवच्छिनत्ति।

अनुवाद : (मैं) आपके स्वरूप का समावेश हो जाने के रूपवाली अंतर्मुखीन अवस्था प्राप्तकरने के लिए, सारे चेतन प्रमाताओं में वर्तमान रहने वाले चित्-स्पन्दन के सार, निजी आत्मदेवता के रूपवाले और अनुत्तरीय श्रेयस् अर्थात् मोक्षलक्ष्मी वितरण करने के स्वभाव से भरपूर (ईश्वरीय) सत्ता का रूप धारण करने वाले आप कल्याणकारी एवं त्राता शिव की शरण में पड़ा हूँ।

यहां पर (मूलश्लोक में प्रयुक्त) 'एव' शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि-'मैं उस शम्भू की शरण में पड़ा हूँ जो मेरे आत्मदेव के ही आकार वाला है। मैं तो आत्मदेव से भिन्न और किसी, स्वयं भी मायीय जगत् में ही विचरण करने वाले, अवर देवता का आश्रय नहीं ले रहा हूँ'। इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में यह शब्द स्वात्मदेव से भिन्न और किसी तथाकथित देवता के साथ तादात्म्य हो जाने की संभावना को मिटा देता है।

मूलग्रन्थ : **अन्यत् च किंभूतम्? परं पूर्ण चित्-आनन्द-इच्छा-ज्ञान-क्रिया-शक्ति-निर्भरम्, अनुत्तर-स्वरूप, तथा 'परस्थं गहनात्'-इति, गहनात् माया-अभिधानात् तत्त्वात् परस्मिन् पूर्णे एव शिव-आदि-विद्या-तत्त्व-पर्यन्ते शुद्ध-अध्वनि स्वरूपे तिष्ठन्तं, न पुनः तत्-तत्-अवस्था-वैचित्र्येण अपि स्फुरतः, ततः परस्मात् पूर्णात् स्वरूपात् तस्य प्रच्यावो भवति। यत् उक्तम् –**

'जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति।
निवर्तते निजात् नैव स्वरूपादुपलब्धृतः'॥

(स्पं० का० १/३) इति स्पन्दशास्त्रे।

अनुवाद : और कैसे स्वरूप वाले (शिव की शरण में पड़ा हूँ?)–

'पर' अर्थात् चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया–इन पांच माहेश्वरशक्तियों से परिपूर्ण और 'अनुत्तर' अर्थात् सारी कुण्ठाओं से रहित स्वरूप वाले (शिव की शरण में पड़ा हूँ)। इसके अतिरिक्त 'परस्थं गहनात्'–इन शब्दों का तात्पर्य यह है कि (मैं) 'गहन' अर्थात् माया नाम वाले तत्त्व से सर्वथा परे, केवल शिवतत्त्व से लेकर शुद्धविद्यातत्त्व तक के विस्तार वाले शुद्धाध्वा पर ही अविचलभाव से प्रतिष्ठित रहने वाले, न कि भिन्न-भिन्न प्रकार की मायीय अवस्थाओं की विचित्रताओं में भी स्पन्दायमान रहनेवाले-तात्पर्य यह कि माया से अतिगत विश्वोत्तीर्णभाव से चलित होकर माया के वशवर्ती विश्वमयभाव पर उतरे हुए–शिव का आश्रय ले रहा हूँ। कारण यह कि यदि वैसा अर्थ लगाया जाए तो (प्रह्वीभाव का विमर्श करते समय) उस आत्मदेव की अपने परिपूर्ण स्वरूप से अवश्य च्युति हो जाने की आशंका बनी रहती है। जैसा कि इस संदर्भ में स्पन्दशास्त्र का कथन इस प्रकार है-

'जाग्रत् इत्यादि अवस्थाएँ आपस में भिन्न होती हुई भी उस आत्मदेव से कतई भिन्न नहीं हैं, अतः इन अवस्थाओं के बहिरंग प्रसार की स्थितियों में भी वह (आत्मतत्त्व) अपने भेदहीन उपलब्धा (प्रमाता अनुभावी) के स्वभाव से च्युत नहीं होता है।'

(स्पं० का० १/३)

मूलग्रन्थ : अनादिं पुराणं सर्व-प्रतीतीनाम् अनुभवितृतया प्रमातृत्वेन आदिसिद्धत्वात्, एकम् इति असहायं चित्-ऐक्येन स्फुरणात् भेदस्य अनुपपत्तेः। तथा 'निविष्टम्' इत्यादि-एवं जातीयकम् अपि स्व-स्वातन्त्र्येण बहुधा नानाप्रकारैः भेदैः गुहासु रुद्र-क्षेत्रज्ञ-रूपासु हृत्-गुहासु अन्तर्-आविष्ट-चैतन्य-रूपः अपि स्वयं जड-अजड-आत्मताम् आभास्य नटवत् नाना-प्रमातृतया स्थितः-इति यावत्।

अनुवाद : अनादि अर्थात् पुराण पुरुष माने जाने वाले। इसका तात्पर्य यह कि अनादिकाल से जितनी भी प्रतीतियों (ज्ञानकलाओं) का प्रसार चलता आ रहा है उन सबों का मात्र एक अनुभावी होने के

कारण आत्मदेव ही आदिसिद्ध पुराण पुरुष है। एक कहने का तात्पर्य यह कि स्वरूप से अतिरिक्त किसी दूसरे सहकारी की अपेक्षा न होने और (सर्वसम) चित्-भाव के साथ एकाकारता में स्पन्दायमान होने के कारण भेदभाव से वर्जित, 'निविष्टम्'-इत्यादि शब्दों का तात्पर्य यह कि मूलतः द्विविधाओं से रहित (एकजातीय) होते हुए भी (शुद्धाध्वा पर अवस्थित) रुद्र प्रमाताओं और (अशुद्धाध्वा पर अवस्थित) क्षेत्रज्ञ प्रमाताओं के रूपों में विलसमान हृदयों की गुफाओं अर्थात् भीतरी अवकाशों में व्यापक रहकर निजी स्वातन्त्र्यशक्ति की ही क्षमता से नाना प्रकार के प्रमातृरूपों में अवभासमान रहने वाले-इसका तात्पर्य यह कि यद्यपि वह चैतन्यमय आत्मदेव हरेक जड़ एवं अजड़ पदार्थ में अनुस्यूत होकर वर्तमान है, तो भी बहिरंग रूप में एक अभिनेता की तरह स्वयं ही जड़भाव और अजड़भाव को अवभासित करके नाना प्रकार के प्रमातृरूपों में प्रकाशमान है-(ऐसे ही शिव की शरण में पड़ा हूँ)।

मूलग्रन्थ : अत एव 'सर्वालयम्'-इति। सर्वस्य रुद्र-क्षेत्रज्ञ-आदि-प्रभातृ-प्रमेय-रूपस्य जगतः आलयं विश्रान्तिस्थानम्। सर्वम् इदं किल पूर्ण-प्रमातरि स्थितं सत् ग्राह्य-ग्राहक-युगलक-अपेक्षया उन्मग्नम् इव भेदेन प्रकाशमानं नाना-रूपैः व्यपदिश्यते, अन्यथा एतस्य प्रकाशात् भिन्नस्य सत्ता एव न स्यात्, कुत इदं विश्वम्?- इति सर्वनाम-प्रत्यवमर्शः।

अनुवाद : इसी कारण से (पूर्णपुरुष के लिए) 'सर्वालयम्'-इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। इस पद में 'सर्व'- इतने अंश से रुद्र एवं ज्ञेत्रज्ञ इत्यादि रूपों वाले प्रमाताओं और उनके अपने अपने अनुरूप प्रमेय पदार्थों से भरे हुए समूचे विश्व का, और -आलयम्'- इतने अंश से विश्रान्ति (उद्गम एवं लयीभाव) के स्थान का अभिप्राय अभिव्यक्त किया गया है। तात्पर्य इस प्रकार है-

'इदं = यह'-इस सर्वनाम के द्वारा यह बात समभ में आती है कि वाच्य विश्व पूर्णप्रमाता (परमशिव) पर आधारित होता हुआ ही, अनन्त प्रमेयों और प्रमाताओं के युगलों (जोडियों) की अपनी अपनी अपेक्षाओं के अनुसार मौलिक चित्-सत्ता से पृथक् रूप में उभरा हुआ जैसा, भिन्न भिन्न प्रकार के नामरूपों में प्रकाशमान होने के कारण, निरा औपचारिकता

से, अलग अलग नामरूपों में कहा-सुनी का विषय बन जाता है। अगर परिस्थिति इससे विपरीत होती तो प्रकाश से भिन्न रूप में न तो किसी पदार्थ का सद्भाव और न इस विश्व का ही अस्तित्व होता।

फलतः वैसी परिस्थिति में 'इदं = यह विश्व'- इसप्रकार 'इदं' इस सर्वनाम का अवमर्श ही कहां होता ?

संकेत: *शैव संदर्भ में अस्तित्व वही होता है जो मौलिक चित्-प्रकाश पर आधारित और प्रकाश से ही अनुस्यूत होकर किसी भी रूप में प्रकाशमान हो।*

मूलग्रन्थ : न एतावता भगवतः समुत्तीर्णं स्वरूपम्-इति आह 'सर्वचराचरस्थम्'-इति। सर्वम् 'इदं' यत् जड-अजड-स्वभावं विश्वं तत्-रूपतया तिष्ठन्तम्-

'कर्तासि सर्वस्य स्वयं यतः वै,
विभो ततः सर्वमिदं त्वमेव।'

इति न्यायेन हि व्यतिरिक्तस्य-अन्यस्य अप्रकाशमानस्य कार्यत्व-अनुपपत्तेः।

'भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः'।

(स्पं० का० ३/२)

इति भगवान् एव तथा तथा चकास्ति-इति।

अनुवाद : चिन्मय भगवान् स्वरूपतः समूचे विश्व से अतिक्रान्त (समुत्तीर्ण = विश्वोत्तीर्ण) 'है'- यह तथ्य यहां तक के विशेषणों से स्पष्ट नहीं हो जाता है अतः 'सर्वचराचरस्थम्' -इस अग्रिम विशेषण का उल्लेख कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है-

चित्-प्रकाश सारे जड़स्वभाव या चेतनस्वभाव वाले पदार्थों में स्वभाव से ही अनुस्यूत है, अतः वास्तव में वह चित्-पुरुष स्वयं ही विश्वरूप में अवस्थित है।

'हे सर्वव्यापक चित्-पुरुष! आप सारे विश्व के एकमात्र कर्ता हो, अतः 'इदम्' -इस सर्वनाम के द्वारा जो कुछ भी वाच्य है वह सारा आप स्वयं ही हो'।

इस शास्त्रीय न्याय के अनुसार चित्-प्रकाश से अतिरिक्त और कोई पदार्थ (स्वतन्त्र रूप में) प्रकाशमान ही नहीं होता है (अर्थात् उसका अस्तित्व ही नहीं होता है) अतः वह किसी (कर्ता का) कार्य नहीं बन सकता है।

'भोक्ता अर्थात् परिपूर्ण प्रमाता शिव ही सदा प्रत्येक स्थान पर 'भोग्य' अर्थात् प्रमेय जगत् के रूप में प्रकाशमान है।

(स्पं० का० ३/२)

इस स्पन्दशास्त्र के उपदेश के अनुसार ऐश्वर्यशाली भगवान् परशिव स्वयं ही भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकाशमान है।

मूलग्रन्थ : एवंविधं त्वाम् अनुत्तरं सर्वस्य स्वात्मदेवता-स्वरूपं पराहन्ता-चमत्कार-सारम् अपि गृहीत-नानात्वम्, अथ च अत्यन्त-अखंडित-स्वस्वातन्त्र्य-परमाद्वय-प्रकाश-स्वभावं भगवन्तं शम्भुं प्रपद्ये—शरीर-आदि-कृत्रिम-अहंकार-गुणीकारेण-एतादृशं त्वाम् एव स्वात्मानं पराहन्ता-चमत्कार-स्वरूपं समाविशामि—इति यावत्।

अनुवाद : ऐसे स्वरूप वाले आप, अनुत्तर अर्थात् हार्दिक कुंठाओं से सर्वथा मुक्त, सारे प्राणियों के आत्मदेव के आकार वाले, 'पर+अहन्ता' अर्थात् द्वन्दों से वर्जित संवित्मय अहंभाव (मैं की स्वभावसिद्ध अनुभूति) के 'चमत्कार' अर्थात् लोकोत्तर ईश्वरीय आनन्दमयता का सारसर्वस्व होते हुए भी स्वेच्छा से नानाता का अंगीकार करने वाले और साथ ही असीम मात्रा में अंखडित स्वतन्त्रता के रूपवाले शम्भू की शरण में पड़ा हूँ—तात्पर्य यह कि मैं अपने में कायिक, बौद्धिक इत्यादि प्रकार के बनावटी जीव-अभिमानों का बहिष्कार करते रहने के उपाय के द्वारा, लोकोत्तर अंहभाव (मैं और मेरा विस्तार इस प्रकार की शिव-चेतना) का रूप धारण करने वाले 'आप में' -अर्थात् अपने ही स्वरूपभूत आत्मदेव में, सर्वभाव से समाविष्ट हो रहा हूँ।

मूलग्रन्थ : अनेन ग्रहणक-वाक्येन परम-उपादेयां स्वस्वभाव-मयीं दशाम् उपदिशता गुरुणा वक्ष्यमाण-हेय-उपादेयतया सकल-ग्रन्थ-अर्थ-उपक्षेपः कृतः।

अनुवाद : गौरवशाली गुरु महाराज ने इस सारे ग्रन्थार्थ के उपक्षेपक वाक्य के द्वारा, मुख्य रूप में अपनाई जाने के योग्य स्वभावसिद्ध समावेशदशा अर्थात् आत्मदेव में सर्वाङ्गीण तन्मयीभाव प्राप्त करने की अवस्था का उपदेश देने के साथ-साथ, प्रस्तुत ग्रन्थ में समझाई जाने वाली हेयता अर्थात् वर्जना और उपादेयता अर्थात् स्वीकारना—इन दोनों के रूपवाले ग्रन्थार्थ अर्थात् ग्रन्थ के वर्ण्यविषय का भी संकेत रूप में उल्लेख किया है।

संकेत : *तात्पर्य यह कि इस मांगलिक पद्य में जितने भी शिव के विशेषण बतलाए गए हैं उनसे यह ध्वनि निकलती है कि आगे के ग्रंथ में शिवत्व का जो वर्णन किया गया है उसके अनुसार वह उपादेय है, और जो माया का वर्णन किया गया है उसके अनुसार वह हेय है। अपने अन्दर प्रकाशमय, आकांक्षाओं-आवरणों एवं द्विविधाओं से रहित, इच्छाशक्ति-ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति से भरित, सब विकल्पों से दूर, मलरहित और शांत स्वरूप चेतना को उजागर बनाना उपादेय है। शिवचेतना पर आवरण बनकर छाई रहने वाली, सर्वतोमुखी भेदभाव एवं द्विविधाओं को उपजाती हुई और अत्यंत दुर्भेद्य माया हेय है। इन दोनों के साथ संबधित इतर बातें अर्थात् स्वरूप विश्लेषण, माया परिवार, जीव भाव, छत्तीस तत्त्वों के रूपवाला संसार, आत्मोन्नति का उपाय इत्यादि इस ग्रंथ के वर्ण्य विषय हैं।*

ग्रन्थकार का उपोद्घात

कारिकाएँ-२, ३

उपक्रमणिका : एवं प्रकारेण तात्पर्यम् अद्वय-स्वरूपं स्तुतिद्वारेण प्रतिपाद्य, इदानीं शास्त्र-अवतारम् अभिदधत् सम्बन्ध-अभिधेय-आदिकं ग्रन्थकृत् आर्याद्वयेन आह–

अनुवाद : ग्रंथकार ने इस प्रकार स्तुतिपाठ करने के माध्यम से (समूचे ग्रन्थ का) तात्पर्य बने हुए द्वैतहीन परमशिवस्वरूप का प्रतिपादन किया। इसके उपरान्त अब अगले दो आर्या छन्दों में प्रस्तुत शास्त्र के प्रादुर्भाव के बारे में चर्चा करने के साथ साथ, इसके संबन्ध, अभिधेय इत्यादि का उल्लेख कर रहा है–

मूलकारिकाएँ

गर्भाधिवासपूर्वकमरणान्तकदुःखचक्रविभ्रान्तः।
आधारं भगवन्तं शिष्यः पप्रच्छ परमार्थम्।।
आधारकारिकाभिः तं गुरुरभिभाषते स्म तत्सारम्।
कथयत्यभिनवगुप्तः शिवशासनदृष्टियोगेन।।

अन्वय/पदच्छेद : गर्भ-अधिवास-पूर्वक-मरणान्तक-दुःख-चक्र-विभ्रान्तः (कश्चित्) शिष्यः भगवन्तम् आधारं परमार्थ पप्रच्छ–

तं गुरुः तत् सारम् आधार-कारिकाभिः अभिभाषते स्म, (तत् एव) अभिनवगुप्तः शिवशासन-दृष्टि-योगेन कथयति।

अनुवाद : गर्भाशय में 'अधिवास' अर्थात् किसी अज्ञात दिशा से आकर माता के गर्भ में निवास करने की वेला से लेकर मृत्यु पर्यन्तदुःखों के चक्कर में पड़ने से हड़बडाए हुए (किसी अज्ञात) शिष्य ने भगवान आधारमुनि (पतञ्जलि?) से परमार्थ के विषय में प्रश्न किया। उस गुरु महाराज ने स्वरचित आधारकारिकाओं के द्वारा उसको परमार्थ का सार भली-भांति समझा दिया। उसी परमार्थसार को (मैं) अभिनवगुप्त शैवशास्त्र के दृष्टिकोण के अनुसार समभा रहा हूँ।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : कश्चित् भगवत्प्रसादात् समुत्पन्न-वैराग्यः संसारात् विरत-मतिः- 'गुरोः शासनीयः अस्मि'-इति मत्वा, सद्गुरुम् आधारं भगवन्तं शेषाख्यं मुनिं सम्यक् आराध्य परमार्थ-उपदेश-स्वरूपं पृष्टवान्

अनुवाद : भगवान (चिन्मय परमशिव) की अनुग्रहलीला से जिसके अंतस् में वैराग्य की भावना उजागर हो गई थी, और जिसकी बुद्धि, आवागमन की झंझट में पड़ने के कारण संसार से निवृत्त हो गई थी–ऐसे किसी शिष्य ने यह सझकर कि- 'मुझे गुरु महाराज के उपदेश की आवश्यकता है'–भगवान 'आधार' अर्थात् शेष (पतञ्जलि?) नाम वाले (तत्कालीन) सद्गुरु की शुद्धभाव से आराधना करने के उपरान्त, उनसे परमार्थ के उपदेश का वास्तविक रहस्य पूछ लिया।

मूलग्रन्थ : तदा तत्-योग्यता-परिपाक-परिशीलन-क्रमेण तं शिष्यं विगलित-अन्तःकरणं मत्वा स अपि अनन्तनाथः निःशेष-शास्त्र- उपदेश-ज्ञः परमार्थसारनाम्ना 'आधारकारिकाभिः'-इति अपर-अभिधान-ग्रन्थेन सांख्य-नय-उक्त-उपदेश-अनुसारेण प्रकृति-पुरुष-विवेक-ज्ञानात् परब्रह्म-अवाप्तिः-इति एवं एतं शिष्यं प्रोक्तवान्।

अनुवाद : तब सारे शास्त्रों में वर्णित बातों का उपदेश देने में निष्णात उस अनन्तनाथ नाम वाले गुरु ने पहले क्रमपूर्वक उसकी (आध्यात्मिक) योग्यता के परिपाक की मात्रा का सही अंदाज़ा लगाकर अपने मन में यह निश्चित अवधारणा बना ली कि इस शिष्य के 'अन्तःकरण'-अर्थात् बौद्धिक, मानसिक एवं आहंकारिक वासनाएँ पूरी

तरह गल चुकी हैं। उपरांत उसको परमार्थसार नामक ग्रन्थ, जिसका दूसरा नाम आधारकारिका था, पढ़ा कर, सांख्यशास्त्र में वर्णित उपदेश के अनुसार, यह रहस्य भलीभांति समझा दिया कि 'प्रकृति-पुरुष-विवेक' (सांख्यदर्शन का सिद्धान्त) का ज्ञान हो जाने से परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

मूलग्रन्थ : 'स एव ब्रह्म-उपदेशः परम-अद्वय-स्वरूप-स्वातन्त्र्य-दृष्ट्या प्रतिपादितः सन् युक्तियुक्तो भवति'-इति मत्वा सर्वं जनम् अनुग्रहीतुं परम-अद्वय-शैव-नय-युक्त्या गुरुः, 'अभिनवेन अलौकिकेन चित्-चमत्कार-स्कारेण गुप्तो गुह्यः सरहस्यः-इति'-सं अयं पुण्य-नाम-अक्षर-आवलिः तत् सारं तस्य परमार्थ-उपदेशस्य यत् सारं, दध्नः नवनीतम् इव उपादेयं, पर-अनुग्रह-प्रवृत्तः सन् प्रतिपादयति-इति।

एवं सम्बन्ध-अभिधेय-अभिधान-प्रयोजन-आदयः उपपादिताः, न इह पुनः शास्त्र-गौरव-भयात् प्रतन्यन्ते।

अनुवाद : 'वही परब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश परम-अद्वैत के रूपवाले स्वातन्त्र्यवाद के दृष्टिकोण को अपनाकर समझाये जाने से युक्तिसंगत बन सकता है'–इस मान्यता को लेकर गुरु अभिनवगुप्त, जिसके नाम के अक्षरों की पंक्ति अति पावन है, सर्वसाधारण जनसमुदाय पर अनुग्रह करने की कामना से, उसी परमार्थसार के उपदेश का, दही से निकाला हुआ मक्खन जैसा सारांश–पूर्ण अद्वैतपरक शैव-सिद्धान्त की युक्ति के अनुसार–प्रस्तुत कर रहा है। 'अभिनवगुप्त'–इस नाम से वैसे सद्गुरु का बोध हो जाता है जो 'अभिनव' अर्थात् लोकोत्तर चिदानन्द-भाव के विकास से 'गुप्त' अर्थात् रहस्य से भरित हृदयवाला व्यक्ति हो।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ के संबन्ध, अभिधेय (वर्ण्य-विषय), अभिधान (नाम) और प्रयोजन इत्यादि बातों का प्रतिपादन भी संकेत रूप में किया गया है, परन्तु ग्रंथ का कलेवर बढ़ जाने के भय से यहां पर उनका अलग अलग विश्लेषण प्रस्तुत करना संभव नहीं है।

मूलग्रन्थ : कीदृशः शिष्यः?-इति आह 'गर्भाधिवास'–इति–गर्भ-अधिवास-प्रारम्भं जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति-इति तत्-तत्-अवस्था-वैचित्र्येण षट भाव-विकार-नेमि-युक्तं यत् मरणान्तक-दुःख-स्वरूपम् आविर्भाव-तिरोभावात् संसरण- स्वभावतया चक्रम् इव चक्रं तस्मिन् विभ्रान्तः विपरिवृत्तः। अनेन अस्य प्राक्-जाति-स्मरण-

स्वभावो बोध-आविर्भावः द्योतितः, अन्यथा कथं काष्ठा-प्राप्ति-लक्षणं प्रश्न-कुतूहलित्वं स्यात्?

अनुवाद : शिष्य कैसा था?–इस प्रश्न के उत्तर में 'गर्भाधिवास'-इत्यादि कारिकांश प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है-

(वह) गर्भ में निवास आरंभ करने के समय से लेकर मरने तक के छः 'भावविकारों' अर्थात् १-जन्मता है, २- वर्तमान है, ३- बढ़ रहा है, ४- परिणत हो रहा है, ५-क्षीण हो रहा है, ६- मरता है–इन छः अवस्थाविकारों की घिरनी पर घूमती हुई दुःखपरंपरा से सताया हुआ, और बार बार जन्मने और मरने के रूपवाले 'संसरण' अर्थात् अविराम गति में पहिये की तरह घूमते रहने के फेर में पड़ने के कारण हक्का-बक्का बना हुआ था।

इस कथन से यह द्योतित होता है कि उसमें ऐसा अंतर्बोध विकसित हुआ था जिसका स्वभाव पूर्वजन्म में घटी हुई घटनाओं की स्मृति उत्पन्न होना होता है। यदि ऐसी परिस्थिति न होती तो उसके मन में ऐसा प्रश्न पूछने की उत्सुकता, जो कि (आध्यात्मिक संदर्भ में) शिष्य के अनुग्रहभाजन होने का चिह्न मानी जाती है, क्योंकर उत्पन्न हो जाती ?

मूलग्रन्थ : एवं च यः समुत्पन्न-वैराग्यः, परमेश्वर-अनुग्रह-शक्ति-विद्ध-हृदयः, समुदित-सम्यक्-ज्ञानः उपदेश-पात्रताम् अवाप्य परमश्वेर-आकारं समुचितम् अपि गुरं समासाद्य, परमाद्वयज्ञानम् अभिलषते, स एव च गुरु-उपदेश-भाजनं स्यात्-इति। एतत् एव च अन्यत्र उक्तम्-

'शक्तिपातवशद्देवि नीयते सद्गुरुं प्रति' इति।

'दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना'।

इति च। इह च पुरस्तात् वक्ष्यते।

अनुवाद : फलतः कोई भी ऐसा व्यक्ति, जिसमें वैराग्य की भावना उपजी हो, जिसका अंतर्हृदय परमेश्वर की अनुग्रहशक्ति से बींधा जा चुका हो, जिसके अंतस् में 'सम्यक्-ज्ञान' अर्थात् शिव-चेतना का उदय हुआ हो, (उपदेश के लिए) उपयुक्त पात्र भी बन गया हो, और परमेश्वर के ही समान योग्य गुरुचरणों के पास जाकर सर्वोत्कृष्ट अद्वैत-ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा रखता हो, गुरु-उपदेश के लिए उपयुक्त पात्र बन सकता है। दूसरे शास्त्रों में इसी बात का उल्लेख किया गया है–

'हे देवी (सत्-शिष्य) परमेश्वर के शक्तिपात की वशिता से खींचा जाकर सद्गुरु के पास पहुँचाया जाता है'।

और -

'(सत्-शिष्य को) ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान दिया जाता है कि उसकी कर्मवासनाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं'।

इन बातों का परीक्षण आगे किया जायेगा।

***संकेत** : प्रस्तुत ग्रन्थ का अनुबन्ध-चतुष्टय इस प्रकार है–*

*१. **सम्बन्ध**–शिष्य परमार्थ जानना चाहता है, यह ग्रन्थ उसको यह जानकारी उपलब्ध करा देता है अतः दोनों में 'प्रतिपाद्य-प्रतिपादक' संबन्ध है। २. **अभिधेय**–परम-अद्वैत ही प्रस्तुत ग्रन्थ का वर्ण्य विषय= अभिधेय है। ३. **अभिधान**–परमार्थसार ग्रंन्थ का यह नाम इसके वर्ण्य विषय के साथ सुसंगत होने के कारण सार्थक एवं औचित्यपूर्ण है। ४. **प्रयोजन**–जिज्ञासु शिष्य को परब्रह्मस्वरूप का बोध कराना और उसको प्राप्त करने का मार्गदर्शन करवाना इस ग्रंथ का मुख्य प्रयोजन है।*

कारिका-४

ध्यानाकर्षण : चित्-पुरुष की बहिर्मुखीन स्वरूपविस्तार की अवस्था में उसकी अपनी ही अभिन्न एवं स्वभावसिद्ध स्वातन्त्र्यशक्ति से, अपने ही परविमर्शमय गर्भ में चार सोपानों वाली विश्वमयता स्वभाव से ही उभरती है। विश्वमयता के इन चार सोपानों के नाम १.- शक्ति-अंड, २- माया-अंड, ३- प्रकृति-अंड और ४- पृथिवी-अंड हैं। यह सारा अंड-प्रपञ्च अनुत्तर की निजी अभिन्न शक्तियों का बहिरंग विस्तार मात्र है जिसका क्रम इस प्रकार है–

सर्वव्यापी अनुत्तरीय गर्भ में शक्ति-अंड, शक्ति के गर्भ में माया-अंड, माया के गर्भ में प्रकृति-अंड और प्रकृति के गर्भ में पृथिवी-अंड का स्थूल रूप में विकास हो जाता है। इनमें से पहला शक्ति-अंड भेदाभेद अवस्था का और अवशिष्ट तीन अंड पूर्ण भेद की अवस्था के परिचायक हैं। शक्ति-अंड में केवल एक ही द्विमुखी आणव मल और शेष तीन अंडों में आणव, मायीय एवं कार्म तीनों मल सक्रिय रहते हैं। शैवग्रंथों में इस सृष्टि प्रक्रिया का लंबा-चौड़ा दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। उतना सारा विवेचन एक, दो शैवग्रंथों का धीरे धीरे अध्ययन करने से पाठकों की समझ में स्वयं आएगा।

उपक्रमणिका : अधुना समुत्पत्ति-क्रमेण पीठिकाबन्धं विधाय, विश्व-वैचित्र्य-चित्रे अस्मिन् जगति पारमैश्वरम् अनुत्तमं स्वातन्त्र्यम् एकम् एव संयोजन-वियोजन-कर्तृत्व-हेतुः-इति तच्छक्ति-विकासम् एव विश्वम् अंड-चतुष्टय-मुखेन आवेदयन् ग्रन्थम् अवतारयति–

अनुवाद : 'अनगिन विचित्रताओं से भरपूर होने के कारण अति अद्भुत लगने वाले इस जगत् में प्रमेय पदार्थों के 'संयोजन'-अर्थात् आपस में एक दूसरे के साथ एकाकार बना कर चित्-भाव में लयीकरण, और 'वियोजन'-अर्थात् चित्-भाव से अलगा कर आपस में भी एक दूसरे से अलगाने के रूपवाले (अतिदुर्घट) कर्तृत्व का मूलकारण परमेश्वर की अभिन्न, एकली और सर्वोत्कृष्ट स्वातन्त्र्यशक्ति है। अतः यह विश्व और कुछ नहीं, प्रत्युत उसी ईश्वरीय शक्ति का विकासमात्र है'। अब (ग्रंथकार) इसी तथ्य को समझाने के अभिप्राय से सृष्टिप्रक्रिया का चित्रण करने के द्वारा पृष्ठभूमि बनाकर, विश्व को चार अंडों के रूप में प्रस्तुत करता हुआ, ग्रंथ का अवतारण कर रहा है–

मूलकारिका

निजशक्तिवैभवभरादण्डचतुष्टयमिदं विभागेन।
शक्तिर्माया प्रकृतिः पृथ्वी चेति प्रभावितं गुरुणा॥

अन्वय/पदच्छेद : प्रभुणा निज-शक्ति-वैभव-भरात् इदम् अण्ड-चतुष्टयम्-'शक्तिः, माया, प्रकृतिः, पृथ्वी च'–इति विभागेन प्रभावितम्।

अनुवाद : प्रभु ने अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के 'वैभव' अर्थात् बहिरंग रूप में प्रसार करने की विभूति के प्राचुर्य से इस 'इदम्' शब्द के द्वारा वाच्य विश्व को शक्ति, माया, प्रकृति और पृथिवी इन चार अंडों में विभाजित करके (बहिरंग स्थूल रूप में) प्रकाशित किया।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : चिदानन्द-एकघनेन प्रभुणा स्वतन्त्रेण भगवता महेश्वरेण, अण्ड-चतुष्टयं विश्व-आच्छादकत्वेन कोश-रूपतया वस्तु-पिण्ड-भूतम् इदम्, यत् उक्तम्–

'..................वस्तुपिण्डोऽण्डमुच्यते'।

इति। प्रभावितं प्रकाशितं, भवन-कर्तृक-तया वा प्रयुक्तम्।

अनुवाद : चिदानन्दमयता की सघन एकाकारता के रूपवाले 'प्रभु' अर्थात् सर्वस्वतन्त्र और ऐश्वर्य से परिपूर्ण महान ईश्वर ने इस 'इदम्' रूप में वाच्य अंड-चौके को (विश्व के आकार में) प्रकाशित किया, अथवा यों कहिए सत्ता प्रदान करने वाली कर्तृता का विषय बना दिया। (अंड शब्द के विषय में) अन्यत्र कहा गया है–

'(अलग अलग आकार-प्रकार वाले) वस्तुओं के पिण्डीभूत रूप (Conglomeration) को अंड कहा जाता है'।

जगत् भी अंड है क्योंकि यह कोश (संपुट) की भान्ति विश्वभर के विभिन्न आकारों वाले प्रमातृरूपी और प्रमेयरूपी पदार्थों को अपने गर्भ में धारण करता हुआ एक प्रकार का वस्तुपिंड अर्थात् अंड ही है।

मूलग्रन्थ : कस्मात्?-इति आह 'निजशक्तिवैभवभरात्'-इति-

निजः आत्मीयः असौ असाधारणः इच्छा-आद्यः शक्ति-प्रचयः तस्य यत् वैभवं विचित्रः प्रसरः तस्य यः असौ भरः समुद्रेकः तस्मात्-इति। भगवतः किल स्व-शक्ति-विकास-स्फारः एव जगत्-निर्माणम्। यत् उक्तं श्रीसर्वमङ्गलाशास्त्रे–

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः'॥ इति।

अनुवाद : किस साधन से प्रकाशित किया? इस शंका का समाधान करने के अभिप्राय से 'निजशक्तिवैभवभरात्'–इस कारिकांश को प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

अपनी ही अलोकसामान्य इच्छा इत्यादि शक्तियों के अति मुग्धकारी प्रसार की क्षमता के द्वारा (प्रकाशित किया)। निश्चय से भगवान की निजी शक्तियों के बहिर्मुखीन विकास का स्पन्दन ही जगत् का निर्माण है। श्रीसर्वमङ्गलाशास्त्र में इस प्रकार कहा गया है–

'कहा-सुनी में शक्ति और शक्तिमान ये दो अलग अलग पदार्थ हैं, परंतु, असल में, समूचा विश्व इस परमपुरुष की निजी शक्तियों का प्रसार है और, स्वरूपतः, यह 'शक्तिमान' अर्थात् अनन्त शक्तियों को स्वरूप में धारण करता हुआ महान ईश्वर है'।

मूलग्रन्थ : किंरूपा अण्ड-चतुष्टय-संख्या? इति आह 'शक्तिर्माया प्रकृतिः पृथ्वी च' -इति–

१- विश्वस्य प्रमातृ-प्रमेय-रूपस्य पराहन्ता-चमत्कार-सारस्य अमि स्व-स्वरूप-अपोहनात्म-अख्यातिमयी निषेध-व्यापार-रूपा या पारमेश्वरी शक्तिः सा एव आच्छादकत्वेन बन्धकतया 'शक्त्यण्डम्'-इति उच्यते। सदाशिव-ईश्वर-शुद्धविद्या-तत्त्व-पर्यन्त-दलं 'सत्-वक्ष्यमाणाम्' अण्डत्रितयम् अन्तः समन्तात् गर्भीकृत्य अवतिष्ठते-इति कोश रूपतया एषा शक्तिः अनेन शब्देन संज्ञिता। एतस्मिन् अण्डे सदाशिव-ईश्वरौ एव अधिपती।

अनुवाद : चारों अंडो की अलग अलग रूपरेखा कैसी है? इस विषय में 'शक्तिर्माया प्रकृतिः पृथ्वी च'-इस कारिकांश को प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है-

१-परमेश्वर की वह शक्ति जिसका स्वभाव, प्रमाताओं और प्रमेयों के रूपवाले विश्व के मौलिक चिदानन्द स्वरूप को, असल में उसके (विश्व के) ईश्वरीय 'पर-अहंभाव की आनन्दमयता' अर्थात् चिदानन्द-भाव का ही सार-सर्वस्व होने पर भी, तिरोहित करके आत्मविस्मृति (अख्याति) को उपजाना अर्थात् वास्तविक स्वरूप को हर हालत में नकारते रहना है, एक ओर सच्चे आत्मरूप का आवरण बन जाने, और दूसरी ओर उसको बंधन में डालनेवाला पाश बन जाने की अवस्था में 'शक्ति-अंड' कहलाती है-(ईश्वरेच्छा से ही उत्पादित द्विमुखी आणव-मल की व्यापकता का अंड)। इसका विस्तार आगामी सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या इन तीन तत्त्वों के अंत तक है। यह शक्ति-अंड अपने अनुगामी तीन अंडों को अपने गर्भ में धारण करके अवस्थित है, अतः 'कोश' अर्थात् संपुटाकार होने के कारण इसको अंड नाम दिया गया है। (शास्त्रीय परिभाषा में) इसको 'सत्'-अर्थात् बहिरंग अस्तित्व का आरंभ माना जाता है। सदाशिव और ईश्वर ये ही दो इस अंड के अधिपति अर्थात् व्यवस्थापक देवता हैं।

२-मूलग्रन्थ : अन्यत् च मल-त्रय-स्वभांव मोहमयं भेद-एक-प्रवणतया सर्वप्रमातृणां बन्धरूपं पुंस्तत्त्व-पर्यन्त-दलं माया-आख्यं-अण्डम्-इति उच्यते। तत् च वक्ष्यमाणम् अंड-द्वयं समन्तात् स्वीकृत्य स्थितम्। अंड्-अधिपतिः च अत्र गहन-अभिधानः रुद्रः।

अनुवाद : २- दूसरा अनुगामी 'माया-अंड' कहलाता है। आणव, मायीय और कार्म ये तीनों प्रदूषण (मल) इसके 'स्वभाव' अर्थात् अन्यथा न हो सकने वाली प्रकृति हैं। इसमें 'मोह' अर्थात् पूरी आत्मविस्मृति,

अथवा, अनात्म भावों के प्रति आत्म-अभिमान रखने के स्वभाव का बोल-बाला है। यह अंड चारों ओर भेदभाव से भरित होने के कारण हरेक प्रमाता को पाशों मे जकड़ कर रखने वाला है। इसका आयाम माया-तत्त्व से लेकर पुरुष-तत्त्व तक है। यह अंड भी आगे वर्णन किए जाने वाले दो (अनुगामी) अंडों को चारों ओर से अपने में समाकर अवस्थित है। इसका अधिपति 'गहन' नामवाला रुद्र (शिव का रूपान्तर) है।

३–मूलग्रन्थ : तथा सत्त्व-रजः-तमः-मयी प्रकृतिः कार्य-कारण-आत्मना परिणता सती, पशुप्रमातॄणां भोग्यरूपा सुख-दुःख-मोह-रूपतया बन्धयित्री 'प्रकृति-अभिधानम्-अण्डम्' उच्यते। तत्र अपि महा-विभूतिः श्रीभगवान् विष्णुः भेद-प्रधानः अंड-अधिपतिः।

३–अनुवाद : उसी प्रकार 'सत्त्व, रजस् और तमस्'–इन तीन गुणों की साम्यावस्था के रूपवाली प्रकृति ही जिस अवस्था में हेतुओं और फलों की शृंखलाओं के रूप में परिणत होकर, पशुप्रमाताओं के उपभोग का विषय बन जाती है, और उनको सुख, दुःख एवं मोह की ज़ंजीरों में जकड़ती रहती है 'प्रकृति-अंड' कहलाती है। इस अंड में भी भेदभाव की ही प्रधानता के स्वभाव वाला लक्ष्मीपति श्रीभगवान विष्णु जो कि दिव्य-विभूतियों से परिपूर्ण है, अंड-अधिपति के पद पर विराजमान है।

४– मूलग्रन्थ : तथा पृथ्वी च एवं मनुष्य-स्थावरान्तानां प्रमातॄणां प्रति-प्रकार-रूपतया स्थूल-कञ्चुकमयी बन्धयित्री-इति कृत्वा 'पृथ्वी-अण्डम्' इति उच्यते। तत्र अपि चतुर्दशविधे भूत-सर्गे प्रधानतया अण्ड-अधिपः भगवान् ब्रह्मा-इति। एवं परमेश्वर-विजृम्भितम् इदम् अण्ड-चतुष्टयं भगवता इत्थं प्रकाशितं परिस्फुरति।

४–अनुवाद : और पृथ्वी भी इसी प्रकार मानव सृष्टि से लेकर स्थावर सृष्टि तक के प्रमाताओं को, विभिन्न आकार-प्रकारों वाले 'स्थूल-कंचुकों' (अर्थात् त्वचा, मांस, रूधिर, हड्डी और चरबी इन पांच परतों वाले स्थूल कायिक लबादों) में जकड़ती हुई 'पृथ्वी-अंड' इस नाम से पुकारी जाती है। इस अंड में भी (योनिज, अंडज, स्वेदज इत्यादि) चौदह प्रकार की जीवसृष्टि के प्रधान व्यवस्थापक देवता ब्रह्मा जी हैं।

इस प्रकार से ये चारों अंड परमेश्वर की जंभाई (रूपविस्तार) मात्र हैं, और उसी के द्वारा ऐसे (स्थूल बहिरंग) रूप में प्रकाशित होकर चारों ओर से स्पन्दायमान हैं।

संकेत *: संक्षेप में तीन मलों का स्वरूप इस प्रकार है–*

*१. **आणव-मल**– विश्वसर्जन की प्रक्रिया में असीम चित्-स्वरूप की निजी स्वातन्त्र्यशक्ति ही आवरणशक्ति बनकर एक ओर उसकी अखंड बोधमयता तिरोहित करती है, तो दूसरी ओर उसकी अपनी सर्वकर्तृता के स्वातन्त्र्य का अज्ञानी बनाकर इयत्ता के बंधन में फंसा देती है। यही द्विमुखी आणव-मल है।*

*२. **मायीय-मल**-आणव-मल के प्रभाव से संकोच में पड़ा हुआ पतिप्रमाता अपने ही रूपविस्तार (प्रमेय विश्व) को स्वरूप से भिन्न समझने के रूपवाले अज्ञान का शिकार हो जाता है।*

*३. **कार्म-मल**– 'अमुक कर्म मेरे लिए हितकर एवं ग्राह्य, है, और अमुक कर्म मेरे लिए अहितकर एवं त्याज्य है'– इस प्रकार आग्रहपूर्वक सार्वजनिक हित या अनहित की ओर न देखते हुए, शुभ एवं अशुभ कर्मों को केवल स्वार्थबुद्धि से करते रहना इस मल का रूप है।*

कारिका-५

उपक्रमणिका : एवम् एतत् अण्ड-चतुष्टयं प्रतिपाद्य अत्र एव भोग्य-भोक्तृत्व-प्रतिपादन परतया विश्व-स्वरूप-निरूपणाय कारिकाम् आह–

अनुवाद : इस प्रकार इन चार अंडों का निरूपण करने के उपरांत, इन में पाये जाने वाले 'भोग्यत्व' अर्थात् उपभोग के सामान्य पदार्थ अथवा प्रमिति के सामान्य विषय, और 'भोक्तृत्व' अर्थात् उन पदार्थों का उपभोग करने वाले सामान्य देहधारी–दोनों का विवेचन प्रस्तुत करने के साथ-साथ, विश्व का स्वरूपनिर्धारण करने के अभिप्राय से अगली कारिका बतला रहा है–

मूलकारिका

तत्रान्तर्विश्वमिदं विचित्रतनुकरणभुवनसन्तानम्।
भोक्ता च तत्र देही शिव एव गृहीतपशुभावः॥

अन्वय/पदच्छेद : तत्र विचित्र-तनु-करण-भुवन-सन्तानम् इदं विश्वम् अन्तः (वर्तते), तत्र च देही, गृहीत-पशुभावः-शिवः एव, भोक्ता (कथ्यते)।

अनुवाद : इन्हीं चार अंडों के गर्भ में यह विस्मयकारी कायिक संरचनाओं, इंद्रियवर्गों और (अनेक) लोकों के विस्तार वाला विश्व

अवस्थित है। इसमें (कोई भी) शरीरधारी, जो कि वास्तव में साक्षात् शिव (चैतन्यतत्त्व) ही (स्वेच्छा से) पशुभाव को अपनाए हुए है, उपभोक्ता कहलाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : तत्र तेषु अण्डेषु आगम-प्रसिद्धेषु विश्वम् इदम् अन्तः मध्ये वर्तते। कीदृशम्? इति आह 'विचित्र'-इति-

रुद्र-क्षेत्रज्ञ-भेद-भिन्नाः नाना-मुख-हस्त-पाद-आदि-रचना- रूपाः तनवः आकार विशिष्ट-संस्थान-रूपेण आश्चर्यभूताः।

अनुवाद : 'तत्र' यह शब्द उन चार अंडो को ध्वनित कर रहा है जो कि आगमशास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। यह सारा विश्व उन्हीं के गर्भ में टिका हुआ है।

(शंका) किस प्रकार का विश्व? 'विचित्र' इत्यादि पद्यांश समाधान के रूप में प्रस्तुत कर रहा है-

वह विश्व जिसमें रहने वाले रुद्र एवं क्षेत्रज्ञ प्रमाताओं के मुंह, हाथ, पैर इत्यादि अङ्गों की बनावट सर्वथा एक दूसरे से भिन्न है। इनके कायिक आकार-प्रकार और विशेष डील-डौल अचरज में डाल देते हैं।

मूलग्रन्थ : तथा अन्योन्य-भेदेन साति शयानि करणानि चक्षुः-आदीनि। तत् यथा–

रुद्र-प्रमातॄणां निरतिशयानि सर्वज्ञत्व-आदि-गुण-गण-युक्तानि। तैः किल सर्वम् इदम् एकस्मिन् क्षणो युगपात् ज्ञायते संपाद्यते च।

अनुवाद : इनके नेत्र इत्यादि इंद्रियां एक दूसरे से नितरां भिन्न और अपने अपने अतिशयों को लिए हुए हैं।

विश्लेषण इस प्रकार है-

"रुद्र प्रमाताओं की ज्ञानेंद्रियां सर्वज्ञता आदि अनेक गुणों से भरित होने के कारण अति उत्कृष्ट कोटि की है। निश्चय से उनके द्वारा यह सारा इदं प्रपञ्च एक साथ क्षणमात्र में ही जाना जाता है और व्यवस्थित भी किया जाता है।"

मूलग्रन्थ : क्षेत्रज्ञानां पुनः एतानि एव करणानि परमेश्वर-नियतिशक्ति-नियन्त्रितानि सन्ति घट-आदि-पदार्थ-मात्र-ज्ञान-करण- समर्थानि एव। न तैः सर्वं ज्ञायते न अपि क्रियते। तत्र अपि योगिनाम् अतिशयः

करणानां–यत् नियतिशक्ति-समुल्लङ्घनात् तदीयैः करणैः दूर-व्यवहित-विप्रकृष्टम् अपि परिच्छिद्यते, पर-प्रमातृ-गतं च सुख-दुःख-आदि ज्ञायते।

अनुवाद : इसके प्रतिकूल क्षेत्रज्ञप्रमाताओं की ये ही ज्ञानेंद्रियां परमेश्वर की नियति शक्ति के द्वारा नियंत्रित हैं, अतः (एक बार) केवल एक ही घट इत्यादि पदार्थ की जानकारी उत्पन्न करवाने में सक्षम है। न युगपत् ही न सब कुछ जाना जा सकता है और न क्रियान्वित हो सकता है।

क्षेत्रज्ञों में भी योगियों की इंद्रियों में एक अतिशय पाया जाता है। वह यह कि उनकी इंद्रियां नियतिशक्ति के नियंत्रण का उल्लंघन कर सकती है। अतः उनके द्वारा (इंद्रियबोध में रुकावट डालने वाले) दूरी, आड़ या देशांतरता जैसे व्यवधानों को सहज में हटाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा प्रमाताओं के अंतस् में विद्यमान सुख या दुःख इत्यादि का बोध भी हो जाता है।

मूलग्रंथ : एवं च तिरश्चाम् अपि नियति-शक्त्या सङ्कुचितानाम् अपि मनुष्येभ्यः अतिशयः करणानां विद्यते। तत् यथा–

गावः स्वगृहं व्यवहितम् अपि पश्यन्ति, अश्वाः रात्रौ अपि मार्गम् ईक्षन्ते, गृध्राः यो जन-शत-गतम् अपि आमिषम् अवलोकयन्ति, पक्षिणो मक्षिकाः मशक-पर्यन्ताः आकाशवि-हारिणो दृश्यन्ते, सरीसृपाः उर्‌सा पन्थानं गच्छन्ति, दृशा च शृण्वन्ति शब्दान्, उष्ट्राः दूरात् अपि गर्तात् श्वास-मात्रेण सर्पं आकर्षयन्ति–इति। एवं सर्वत्र करणवैचित्र्यम् ऊह्यम्।

अनुवाद : इसी प्रकार पशु-पक्षियों की ज्ञानेंद्रियां भी यद्यपि नियतिशक्ति के द्वारा सीमाबद्ध ही हैं, तो भी उनमें मानव-इंद्रियों की तुलना में विशेष अतिशय पाया जाता है जो इस प्रकार है–

गायें अपने निवासस्थान को आड़ के पीछे व्यवहित होने पर भी देख पाती हैं, घोड़ों को रात में भी मार्ग सूझता है, गिद्ध सौ योजनों की दूरी से भी मांसखंड देख लेते हैं, पक्षी एवं मक्खियों से लेकर मच्छरों तक के (क्षुद्र) प्राणी आकाश में उड़ते हुए देखे जाते हैं, रेंगकर चलने वाले प्राणी (सांप इत्यादि) छाती के बल से मार्ग पर चलते हैं और आंखों से शब्दों को सुनते हैं, ऊंट गहरे गड्ढे से भी सांप को सांस के बल से खींच लेते हैं। इसी प्रकार हर जगह इंद्रियों की विचित्रता भांपनी चाहिए।

मूलग्रन्थ : यथा भुवनानि आगमप्रसिद्धानि वर्तुल-त्र्यश्र-चतुरश्र-अर्धचन्द्र-छत्र-आकारतया स-अतिशय-संस्थानानि इति। एवं विचित्रो नाना-अतिशय-अद्भुत-स्वभावः एषां तनु-करण-भुवनानां सन्तानः अविरत-बन्ध-प्रवाहो यस्मिन् विश्वस्मिन् तत् एवं विधम् विश्वम्।

अनुवाद : जिस प्रकार आगमग्रंथों में प्रसिद्ध भुवनों (लोकों) के बारे में यह धारणा है कि वे गोलाकार, तिकोन, चौकोर, अर्धचंद्र, छत्र इत्यादि आकारों के होने के कारण अपने में विशेष डीलडौलों को लिए हुए हैं, उसी प्रकार इन शरीरों, इंद्रियों और भुवनों का समूचा इकट्ठा 'संतान' अर्थात् उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रवाह ही अपने में नानाप्रकार के अतिशयों को वहन करता हुआ अति विस्मयावह स्वभाववाला है। फलतः यही चतुर्दिक् प्रवाह जिसके गर्भ में अविराम गति में, आगे-आगे बढ़ता जा रहा है वैसा ही विश्व यहां पर अभिप्रेत है।

मूलग्रन्थ : एवं विधे च अत्र भोग्यस्वभावे विश्वस्मिन् भोक्त्रा भाव्यम्-इति आह 'भोक्ता च तत्र देही' –इति–

मल-त्रय-आघ्रातो देहो भोग-आयतनं विद्यते यस्य अणोः स देही, सुख-दुःख-आदि-स्वभावः शरीरी, सुख-दुःख-आदि-मये अस्मिन् भोक्ता सुख-दुःख-आदि-अनुभविता 'पशु-प्रमाता'-इति कथ्यते।

अनुवाद : ऐसे इस भोग्यता के सामान्य धर्म वाले सारे पदार्थों के समूह का कोई उपभोक्ता होना आवश्यक है इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए 'भोक्ता च तत्र देही=कोई भी शरीरधारी उस (भोग्य विषय) का उपभोक्ता है–इस पद्यांश को प्रस्तुत कर रहा है–

तात्पर्य यह कि जिस (चित्-अंश) के लिए आमूलचूल तीन मलों भरी हुई (जड़ पाञ्चभौतिक) काया ही उपभोग करते रहने के लिए उपयुक्त स्थान है उसको (शास्त्रीय परिभाषा में) अणु या देही कहते हैं अर्थात् कोई भी सर्वसामान्य शरीरधारी जिसका मात्र स्वभाव सुख दुःख आदि का उपभोग करना है। फलतः सुख-दुःख इत्यादि रूपोंवाली इस झंझट में उन सुख-दुःख इत्यादि अवस्था-विशेषों का अनुभव करने वाले (चित्-अंश) को ही 'पंशुप्रमाता' यह नामकरण किया गया है।

मूलग्रन्थ : ननु पर-प्रमातृ-अपेक्षया अणुमात्रस्य अपि न भेदो विद्यते, कुतः तत्-व्यतिरिक्तो देही नाम वराकः? यत् उक्तम्-

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणाः सार्वरूप्यम्।
अनतिक्रान्तश्च अविकल्प्यश्च। इति।
'एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता'।

इति न्यायात् च एक एव स्व-शक्ति-युक्तो महाप्रकाश- वपुः एव परमेश्वरः प्रमाता सर्वतः अभिन्न एव अवभासते। ततो भिन्नस्य अप्रकाशमानस्य देहिनः अस्तित्त्व-अभ्युपगमे अपि प्रकाशमानत्व-अनुपपत्तेः न सत्ता निश्चीयते। प्रकाशते चेत् तस्मिन् परब्रह्मात्मनि तर्हि प्रकाश-अभिन्नः एव एकः प्रमाता–इति, पुनः अपि किंपरत्वेन अयं भोग्य-भोक्तृ-लक्षणः सन् भेदः?-इति सर्वं समर्थयमानः आह–'शिव एव गृहीत पशुभावः'–इति।

अनुवाद : (शंका) जब परमशिव की अपेक्षा से छोटे से छोटा कण भी उससे अलग नहीं है तो फिर यह शक्तिदरिद्र बना हुआ और 'देही' नामी उसके स्वरूप से भिन्न प्रमाता कहां से आ टपका? जैसा कि (शास्त्रों में) कहा गया है–

'परब्रह्म का अंशमात्र भी उसका परिपूर्ण स्वरूप है। वह भी (वैसा ही) अनतिक्रमणीय और विकल्पों से परे है। इस प्रकार (और-)

'एक एक तत्त्व में भी छत्तीसों तत्त्व समाए होते हैं।' इस सिद्धांत के अनुसार प्रकाशमय एवं शक्तिघन एक ही परमेश्वर-प्रमाता चारों ओर भेदहीन रूप में अवभासमान है।

अब अगर आग्रहपूर्वक, उससे भिन्न, किसी देही का अस्तित्त्व स्वीकारा भी जाए तो यह बाधा होगी कि (महाप्रकाश के साथ कतई संबंध न रहने की दशा में) उसके प्रकाशमान होने की बात विसङ्गत होगी और परिणामतः उसकी सत्ता ही निश्चित नहीं हो सकेगी। अब अगर यह मान लिया जाए कि वह परब्रह्ममय प्रकाशमानता के अंतर्गत ही प्रकाशमान है तो उस महाप्रकाश के साथ अभिन्न होने के कारण एक ही प्रमाता की अवभासमानता का सिद्धांत अक्षुण्ण रहेगा। परंतु फिर भी इस शंका का निराकरण नहीं हो सकता कि (एक ही स्वरूप में) यह भोग्यरूप और भोक्तारूप लक्षणभेद क्यों हुआ है? इन सारी शंकाओं का अनुमोदन करते हुए 'शिव एव गृहीत पशुभावः' इस पद्यांश को (समाधान के रूप में) प्रस्तुत कर रहा है–

मूलग्रन्थ : यः अयं भगवान् समनन्तरं प्रतिपादितः चिदानन्द-एकघनः स्वातन्त्र्य-स्वभावः शिवः स एव स्वरूप-गोपना-सतत्त्वः सन् स्वेच्छया नट

इव देह प्रमातृ-भूमिकां समापन्नः, पाल्यत्वात् पशुत्वात् पशु-सत्ता-लक्षणश्च सुख-दुःख-आदिमये स्वयं निर्मिते अस्मिन् भोग्ये भोक्ता 'देही'-इति कथ्यते, न पुनः शिव-व्यतिरिक्तं किञ्चित् पदार्थ-जातम् अस्ति। एष एव च भगवान् शिवः स्वातन्त्र्यात् भोक्तृ-भोग्य-लक्षणं प्रमातृ-प्रमेय-युगलकं क्रीडनकम् इव समुत्थापयति, यत्-अपेक्षया अयं भेद-प्रधानः व्यवहारः। तस्मात् एतत् एव परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यं निरतिशयं यत् पूर्ण-स्वरूपता-परित्यागेन भोक्तृ-भोग्य-स्वभावं पशुभावम् आपन्नः अपि सर्व-प्रमातॄणाम् अनुभवितृतया स्वात्मनि प्रस्फुरन् चिदानन्द-एकघनः शिव एव।

अनुवाद : पीछे जिस चिदानन्दमय और स्वातंत्र्य के स्वभाव वाले भगवान् शिव का स्वरूपनिधारण किया गया, वही 'स्वरूपगोपन' अर्थात् निजी विश्वोत्तीर्ण का तिरोधान करने की ओर तत्परता की अवस्था में, अभिनेता रूप की तरह, देहप्रमातृभाव के स्तर पर अवरोह करता है। वहां पर परनिर्भरता एवं अल्पज्ञानता जैसे पशुभाव के लक्षणों को स्वरूप पर थोप कर, स्वयं ही बनाए हुए सुख-दुःख आदि रूपों वाले भोग्यविषयों का उपभोक्ता बन जाने पर (उपचारतः) देही कहलाता है। वस्तुतः शिव से भिन्न किसी भी पदार्थ का सद्भाव ही नहीं है। फलतः यह शिव ही है जो निजी स्वातंत्र्य से भोक्ता एवं भोग्य के रूप वाले प्रमाता[१] एवं प्रमेय की जोड़ी को, खिलौने की भांति, उद्भूत कर देता है जिसकी अपेक्षा से यह भेदपूर्ण जागतिक आदान-प्रदान चलता रहता है।

परमेश्वर का अतिशयशाली स्वातंत्र्य तो यही है कि वह अपने पूर्णरूप से च्युत न होता हुआ ही और भोक्ता एवं भोग्य स्वभाव वाले पशुभाव पर उतरने पर भी, सारे प्रमाताओं के आत्मभाव में, अनुभावी के रूप में, निरंतर स्पन्दायमान रहता हुआ शिव ही बना रहता है।

कारिका-६

उपक्रमणिका : एवम् अपि एकः चित्-स्वभावः प्रमाता, स यदि माया-आदि-प्रमातृ-प्रमेय-वैचित्र्येण नानात्वात् अनेकः -इति कथं विरुद्धया एकतया व्यवह्रियते? एकः चेत् किमिति नानारूपः- इति छाया-आतपवत्

---

१. तात्पर्य यह कि परमेश्वर की ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति भौतिक स्तर पर अवरोह करके क्रमशः जागतिक प्रमाता (चेतनवर्ग) और प्रमेय (जड़वर्ग) के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है, अतः सारा शिवत्व का ही विकास है।

विरोधात् विरुद्ध-धर्म-अध्यासः समापतति, न पुनः अनेकरूपः एकः च पदार्थः स्यात्। यत् उक्तम्-

'अयम् एव भेद-हेतुः भावानां यत् विरुद्ध-धर्म-अध्यासः कारण-भेदो वा' –इति।

लौकिकम् अत्र दृष्टान्तं प्रदर्शयन् दार्ष्टान्तिके चोद्यं समर्थयते–

अनुवाद : इस उल्लिखित मीमांसा के अनुसार भी केवल एक ही 'चित्-स्वभाव' अर्थात् ज्ञान-क्रिया शक्तियों की सतत स्पंदनमयी चित्ता से ओत-प्रोत प्रमाता (परमशिव प्रमाता) का अस्तित्त्व है। परंतु शंका यह है कि यदि वह माया इत्यादि के साथ संबन्धित प्रमातृभेदों और प्रमेयभेदों की विचित्रता से नाना होने के कारण अनेक है तो अनेक के विरोधी एक के रूप में कैसे उसका विवेचन किया जाता है? अगर एक ही है तो अनेक रूपों में कैसे बंटा हुआ है? एक साथ ही छाया और धूप जैसे इस परस्पर विरोधी घोटाले के कारण परस्परविरोधी धर्मों का मिथ्याभास आ खड़ा हुआ है। कोई भी पदार्थ एक साथ ही अनेक और एक नहीं हो सकता है। जैसा कहा गया है–

'परस्परविरोधी धर्मों का मिथ्याभास या कारणों की भिन्नता–यही तो भेद है जो पदार्थों को आपस में अलगाने का कारण बन जाता है'।

इस परिप्रेक्ष्य में दृष्टान्त को प्रस्तुत करके दार्ष्टान्तिक में प्रेरणीय विषय की पुष्टि करने के अभिप्राय से (अगली कारिका) बतला रहा है–

मूलकारिका

नाना विधवर्णानां रूपं धत्ते यथामलः स्फटिकः।
सुर-मानुष-पशु-पादप-रूपत्वं तद्वदीशोऽपि॥

अन्वय/पदच्छेद : यथा अमलः स्फटिकः नानाविध-वर्णानां रूपं धत्ते तद्वत् ईशः अपि सुर-मानुष-पशु-पादप-रूपत्वं धत्ते।

अनुवाद : (यह एक के अनेक होने की बात नहीं, प्रत्युत) जिस प्रकार निर्मल बिल्लौर अपने में नानाप्रकार के रंगों के प्रतिबिम्ब को (एक साथ ही) ग्रहण कर लेता है, उसी-प्रकार परमेश्वर भी मलातीत होने के कारण देवता, मानव, पशु, वृक्ष इत्यादि रूप भेदों को (प्रतिबिंब भाव से युगपत् ही) स्वरूप में धारण कर लेता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : (दृष्टान्त) यथा एकः अपि स्फटिक-मणिः तत् तत् लाक्षा-नील-आदि-उपाधि-वैचित्र्य-सहस्रेण तत् तत् वैचित्र्यं स्वात्मनि धारयन् तथा विचित्रितो भवति, न पुनः तस्य स्फटिकता-हानिः एतावता समुत्पद्यते। एतत् एव स्फटिकमणोः मणित्वं यत् तत्-तत्- विशेषेण आच्छुरिते अपि तस्मिन्-स्फटिकमणिः अयम्'-इति अबाधिता सर्वस्य सर्वदा एव प्रतीतिः। केवलम्-'अत्र अमी लाक्षा-आदयः, स्फुरन्ति-इति व्यवह्रियते। न पुनः लाक्षा-आदि-उपाधिः, पटम् इव, तं विशिनष्टि येन स्वरूप-विप्रलोपः अस्य स्यात्। तस्मात् एतत् एव अमलत्वं मणोः यत् उपाधिरूपान् आकारान् बिभर्ति स्व-स्वरूपतया च प्रथते।

अनुवाद : (दृष्टान्त) जिस प्रकार निर्मल बिल्लौर-मणि भिन्न भिन्न प्रकार के लाखी, नीले इत्यादि रंगों की हज़ारों विलक्षणताओं को अपने में प्रतिबिंबरूप में धारण करता हुआ चितकबरा दिखाई देता है, परंतु इतने से उसके असली बिल्लौरी स्वभाव (प्रतिबिंबग्राही शुभ्रता) को कोई धक्का नहीं पहुँचने पाता। बिल्लौर का असली मणिभाव उसके इसी स्वभाव में निहित है कि उस अनूठे रंगबिरंगेपन में भी उसके प्रति हरेक प्रमाता की यही दृढ़ धारणा बनी रहती कि 'यह बिल्लौरमणि है'। केवल व्यावहारिक रूप में इतना कहा-सुना जाता है कि - 'इस मणि में ये लाखी इत्यादि रंग झलक रहे हैं। वह लाखी इत्यादि रंगों की उपाधि उसको कपड़ा जैसा कोई विशेष रूप नहीं दे पाती कि उसका अपना असली रूप ही उड़ जाता हो। इसलिए मणि की निर्मलता इसी से सार्थक हो जाती है कि वह अपने में उपाधिमय आकार-प्रकारों की झलक धारण करता हुआ भी अपने वास्तविक स्वरूप में ही अवभासमान रहता है।

मूलग्रन्थ : (दार्ष्टान्तिक): तथा एव अयम् ईश्वरः स्वतन्त्रः चित् एकघनः एककः अपि स्वच्छे स्वात्म-दर्पणे देव-मनुष्य-पशु-पक्षि-स्थावर-अन्तानां रुद्र-क्षेत्रज्ञ-आदि-पदार्थ-रूपाणां विशेषाणां स्वयं निर्मितानां च रूपत्वं वर्ण-वैचित्र्यं, स्फटिक-मणिवत्-स्वात्म-अभेदेन धारयन्, ततः अपि समुत्तीर्णत्वात् 'अहम्'-इति एवम् अखण्ड-चमत्कार-उपवृंहितं नानारूपम् अपि एकं स्वात्मानं प्रत्यवमृशति।

अनुवाद (दार्ष्टान्तिक) : उसी प्रकार यह स्वतन्त्र एवं चित्-घन परमेश्वर, एकल होने पर भी अपनी इच्छाशक्ति से उपजाए हुए देवता,

मानव, पशु, पक्षी तात्पर्य यह कि, स्थावरों तक के विस्तार वाले रुद्रप्रमाताओं, क्षेत्रज्ञप्रमाताओं और प्रमेय पदार्थों की बहुरंगिता के प्रतिबिंब को बिल्लौरमणि की भांति स्वरूप-रूपी दर्पण में, अभेदभाव से, धारण कर रहा है। ऐसी स्थिति होने पर भी, स्वरूपतः उस सारे प्रपञ्च से अतिक्रान्त होने के कारण, अपने 'अहम्=मैं ही सब कुछ हूँ'-इस प्रकार के अहंविमर्श की खंडनारहित आनन्दमयता के बल से, उस अनेकाकारता में भी, आत्मिक एकाकारता के विमर्श में तल्लीन रहता है।

मूलग्रन्थ : इत्थम् अपि अस्य एकता-खण्डनामयो भिन्न-रूपो देशः कालः वा न कश्चित् विद्यते यत् अपेक्षया एतस्य स्वात्म-महेश्वरस्य विरुद्ध-धर्म-अध्यास-आदि-दूषणम् उच्येत अपि। साक्षात्कार-लक्षणं चित्र-ज्ञानं नाना-भेद-संभिन्नम् अपि, परैः अपि, एकम् एव तत् अभ्युपगतम्, यथा–

'नीलादिचित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक्।
अशक्यदर्शनस्तं हि पतत्यर्थे विवेचयन्॥'
इति प्रमाणवार्तिके।

अनुवादः दूसरे प्रकार से (अर्थात् प्रथमाभासिक दृष्टिकोण से) भी विचारने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस स्वात्म महेश्वर की एकता को खंडित करने वाला, और उसके स्वरूप से भिन्न कोई देश, काल इत्यादि वर्तमान नहीं है, जिसकी अपेक्षा से इस पर (आत्ममहेश्वर पर) 'परस्परविरोधी धर्मों की विसंगति' जैसा कोई लांछन कहने को भी थोपा जा सकता। 'पर'-अर्थात् अनात्मवादी बौद्ध-मीमांसक भी तो चित्रज्ञान, जिसमें नाना प्रकार के रंगों या दृश्यों की भिन्नता अवश्य होती है, के पहले साक्षात्कारकालीन ज्ञानक्षण को 'एक' अर्थात् निर्विकल्प ही मानते हैं, जैसा कि (धर्मकीर्ति नामक बौद्ध दार्शनिक के) प्रमाणवार्तिक (नामी दर्शन-ग्रन्थ) में कहा गया है–

'नीले इत्यादि रंगभेद वाले चित्रज्ञान में (स्वलक्षण) ज्ञानक्षण को आंकने में असमर्थ प्रमाता, 'उसके अर्थ' अर्थात् दूसरे विकल्पमय क्षण, का ही विवेचन करने में समय गंवाकर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है।'

मूलग्रन्थ : किं पुनः सर्वतः पूर्णस्य ज्ञातुः चित्-एक-वपुषः स्वतन्त्रस्य, यौ इमौ देश-कालौ भेदक-तया अभिमतौ मूर्तिवैचित्र्य-क्रियावैचित्र्याभ्यां यस्य समुल्लासकतया स्थितौ, कथं तस्य एव भगवतः व्यवच्छेदकौ स्यातताम्?

यदि नाम देश-कालयोः कदाचित् संविदो भेदेन स्थितिः अभविष्यत्, तदा तत्-कृतः अपि विरुद्ध-धर्म-अध्यासः उदपत्स्यत-इति तत्र सम्भावना स्यात्। यावता तयोः संवित्-प्रकाशेन एव स्वात्म-सत्ता-सिद्धिः-इति सिद्ध एव अनेक-स्वभावः अपि एक एव महेश्वरः चिन्मूर्तिः, भेद-धर्मे पुनः विरुद्ध-धर्म-अध्यासः दुरुद्धारः एव–इति।

अनुवाद : यह बात भी विचारणीय है कि (वादी के द्वारा) जिस देश और काल को उस परिपूर्ण, सर्वज्ञ, मात्र चिन्मय और स्वतन्त्र आत्मस्वरूप में भेदभाव उपजाने वाले हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, वे दोनों जब अपने ही क्रमिक मूलरूप, (परमेश्वर के द्वारा अपने ही इच्छास्वातन्त्र्य से अपनाए हुए) मूर्तिवैचित्र्य और क्रियावैचित्र्य के द्वारा, उस परमेश्वर के हुलास भरे स्वातन्त्र्य की पुष्टि कर रहे हैं, तो उसी को भेदभाव का विषय क्योंकर बना सकते? अगर स्थिति ऐसी होती कि देश और काल का संवित्शक्ति (अखंड शिवबोध) से अलग-थलग अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्त्व होता, तो शायद उनकी प्रभावशालिता से (स्वात्म-महेश्वर स्वरूप में) 'विरोधी धर्मों की विसंगति' जैसा दूषण उत्पन्न होने की संभावना बन पाती, परंतु जब संवित्-प्रकाश से ही उन दोनों का अपना अस्तित्त्व भी सिद्ध हो जाता है, तो इसमें कोई विमति नहीं कि महान ईश्वर अनेक स्वभावों को अपनाता हुआ भी मूलतः केवल एक ही चिन्मूर्ति है।

भेदभाव पर आधारित दर्शनों में तो 'विरोधी धर्मों की विसंगति' जैसे दोष से निस्तार पाना सहज काम नहीं है।

संकेत–*साधारण रूप में 'अहम्' शब्द का अर्थ 'मैं' है। सोचना यह है कि यह 'मैं' किसकी ओर संकेत करता है? यदि स्थूल काया, बुद्धि इत्यादि की ओर मान लिया जाए तो मृत शरीर से 'मैं भाव' क्यों विच्छिन्न हो जाता है? 'मैं भाव' तो निश्चित रूप से अपने अपरिणामी अस्तित्त्व की स्वाभाविक चेतना है। आत्मचेतना से ज्ञान-क्रियामय आत्मस्पंदन किसी भी अवस्था में अलग नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि 'अहम्=मैं' यह शरीर आदि की ओर नहीं प्रत्युत शरीर में विद्यमान चैतन्य-तत्त्व की ओर संकेत करता है। फलतः आत्मभाव में निजी स्थाई अस्तित्त्व की चेतना ही 'अहंविमर्श' है। शिव विश्वात्मा है। विश्व का*

हरेक जड़ या अजड़ पदार्थ एक ही विश्वात्मभाव का विस्तार है। अतः यदि यह कहा जाए कि-'यह घड़ा, यह पर्वत, यह प्राणी, यह लता इस प्रकार से अलग-अलग यह रूपों में बिखरे हुए आत्मविस्तार की, अंतः-विमर्श के द्वारा, अखंडित आत्मभाव में विश्रांति की अवस्था ही 'पर-अहंविमर्श' है-तो कोई मिथ्याभास नहीं। शिवत्व और विश्वात्व एक ही अहंविमर्श है अतः स्वभावसिद्ध अहंविमर्श ही शिव है।

शिव में विद्यमान अहंविमर्श यद्यपि सूक्ष्म अभिलाप है तो भी विकल्प नहीं है। कारण यह कि विकल्प वह होता है जिसमें 'वि' अर्थात् किसी पदार्थ के स्वरूपनिर्धारण से संबंधित दो जोड़ीदार कल्पनाओं में से 'कल्म' एक अनपेक्षित कल्पना का अपोहन करके दूसरी कल्पना का निश्चयन किया जाता है। उदाहरणार्थ-'भूतल पर घट है या घट नहीं है इन दो कल्पनाओं में से 'भूतल पर घट है' इसका निश्चय तभी हो जाता है जब 'भूतल पर घट नहीं है' इसका अपोहन हो जाए। फलतः विकल्प द्वयापेक्षी निश्चय होता है। दो जोड़ीदार कल्पनाओं पर निर्भर रहने के कारण विकल्प की व्यापकता भौतिक सीमा को लांघ नहीं सकती। इसके प्रतिकूल शिवत्व के स्तर पर आत्मभाव के अतिरिक्त और कोई जोड़ीदार है ही नहीं, क्योंकि उस स्तर पर सारे विरोधी एवं विच्छिन्न पदार्थ भी समरस बनकर आत्मरूप ही बने रहते हैं। फलतः 'अहम्' यह शब्द विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता के सघन समरसीभाव का द्योतक है-केवल विकल्पों से दूर स्वाभाविक 'मैं-चेतना'।

कारिका-७

उपक्रमणिकाः 'ननु एक एव संवित्-सतत्त्वः प्रमाता अभ्युपगतः, तनु-करण-भुवनतां समापन्नः सन् स एव अनेकतां यातः'-इति चेत् तर्हि तनु-आदि-विनाशे स एव विनष्टः स्यात्, तत्-उत्पत्तौ वा एष एव तदा उत्पद्येत। एवं प्रतिप्रमातृ स एव 'जायते, अस्ति इत्यादि षट्-भाव-विकारतया व्यवच्छिद्यते। पुण्य-पाप-स्वभाव-कर्म-वैचित्र्येण एतस्य एव भगवतः स्वर्ग-नरक-आदि-भोगः प्राप्तः-इति कथम् उच्यते स्व-स्वरूप एव शिवः?-इति- दृष्टान्तद्वारेण एतत् अपि समर्थयते-

अनुवाद : (शंका) यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाए कि 'संवित्' के ही सार-सर्वस्व वाला एक ही प्रमाता (महाशिवप्रमाता) है, और वही बहुधा शरीरों, इन्द्रियों और भुवनों के रूपों में साकार बनकर

अनेकता को प्राप्त हुआ है, तो अवश्य यह भी स्वीकारना पड़ेगा-

(क) शरीर इत्यादि के नष्ट हो जाने पर वही नष्ट होता है, या उसके जन्मने पर वही जन्मता है, (ख) प्रत्येक प्रमाता के रूप में वही-'जन्मता है, वर्तमान है'-इत्यादि (पूर्वोक्त) छः भावविकारों का भागी बनकर अवच्छेद में पड़ जाता है, और (ग) पुण्य-स्वभाव या पाप-स्वभाव वाले कर्मों की विलक्षणता के अनुसार वह भगवान (वास्तव में) स्वयं ही स्वर्ग या नरक का भागी बन जाता है।

ऐसी परिस्थिति में यह कहना कि–'शिव केवल अपने स्वरूप में अटल रहता है'–कहां तक सार्थक है?

इस विषय में भी दृष्टान्त के द्वारा अपनी मान्यता को पुष्ट कर रहा है–

मूलकारिका

गच्छति गच्छति जल इव हिमकरबिम्बं स्थिते स्थितिं याति।
तनु-करण-भुवन-वर्गे तथाऽयमात्मा महेशानः॥

अन्वय/पदच्छेद : (यथा) हिमकर-बिम्बं गच्छति जले गच्छति इव, स्थिते स्थितिं याति इव, तथा अयं महेशानः आत्मा तनु-करण-भुवन-वर्गे (नष्टे नष्ट इव, उत्पत्तौ उत्पन्न इव दृश्यते)

अनुवाद : (जिस प्रकार) चांद का प्रतिबिंब एक ही समय पर लहराते जल में तिरता हुआ जैसा और प्रशांत जल में निश्चल जैसा दिखाई देता है, उसी प्रकार यह परमेश्वर आत्मदेव शरीरों, इन्द्रियों और भुवनों के झुंडों के (नसने पर नसता जैसा, और उत्पन्न होने पर जन्मता जैसा लगता है)

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : (दृष्टान्त) यथा जल-प्रवाहे याति सति हिमकर-बिम्बं चन्द्रवपुः वस्तुवृत्तेन आकाशस्थं स्वयम् अचलत्तात्मकं जल-प्रवाह-अन्तः-पतितम् अपि तत् गच्छति प्रयाति इव, तथा तस्मिन् एव क्षणे अन्यत्र जलाशये निस्तिमिते सति, तत् एव हिमकर-बिम्बं स्थितिं गच्छति इव इति उभयथा सर्व-प्रमातृभिः एतत् संभाव्यते, न पुनः परमार्थेन तत् तथा एव स्यात्।

अनुवाद : (दृष्टान्त) जिस प्रकार चंद्रमंडल वस्तुतः ऊपर गगन में अचल रूप में वर्तमान होता हुआ भी, बहती धारा में प्रतिबिंबित होने पर धारा के साथ ही बहता हुआ जैसा, और तत्काल ही किसी दूसरे तालाब के निश्चल जल में प्रतिबिंबित होने पर निश्चल जैसा ही लगता है। स्पष्ट ही उसके ये दोनों रूप वास्तविक न होकर केवल सारे प्रमाताओं के द्वारा संभावित होते हैं।

मूलग्रन्थ : न अपि जलगतौ देश-कालौ भेदकतया चन्द्रमसः स्वरूपं गगनस्थं परामृशतः केवलं जलम् एव तादृशम्। अथ च तत्-प्रतिबिम्बितस्य चन्द्रबिम्बस्य जल-गत-चलत्ता-अचलत्ता-आदिको भेदो व्यवह्रियते-इति एतावता गङ्गा-जल-गतस्य, कर्दम-पतितस्य वा शशिनः स्व-स्वरूपतायां न काचित् क्षतिः।

अनुवाद : निश्चय से जल के साथ संबंधित देश और काल दूर गगन में वर्तमान चांद के स्वरूप में किसी भी प्रकार का अंतर नहीं डाल सकते हैं, वे तो संबंधित जल को ही उस प्रकार से चल या अचल बना सकते हैं। यही वस्तुस्थिति सही होने पर भी, लोकव्यवहार में, जल के साथ संबंधित चलत्ता और स्थिरता का भेद जल में प्रतिबिंबित चंद्रमंडल पर थोंपा जाता है। इस विश्लेषण से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि चांद का प्रतिबिंब चाहे गंगा के (निर्मल) जल में अथवा कीचड़ में पड़े, उसके असली स्वरूप को कोई भी क्षति नहीं पहुँच पाती है।

मूलग्रन्थ : (दार्ष्टान्तिक) तथा एव अयम् आत्मा चैतन्य-स्वभावः स्वयं निर्मिते तनु-करण-भुवन-समूहे परिक्षीणे सति, समुत्पन्ने वा प्रक्षीणः समुत्पन्नः च-इति माया-व्यामोहितानां व्यवहार-मात्रम् एतत् जल-गत-चन्द्रवत्, न पुनः स्वात्मा जायते, म्रियते वा इति। गीतासु एवम् एव उक्तम्–

'न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।' इति। (भगवद्गीता २/१०)

अनुवाद : (दार्ष्टान्तिक) उसी प्रकार यह चैतन्य स्वभाव वाला आत्मदेव, स्वयं ही बनाए हुए शरीरों, इन्द्रियों और भुवनों के समूहों के नष्ट हो जाने या उत्पन्न हो जाने के अवसरों पर स्वयं मरा हुआ या जन्मा हुआ जैसा लगता है, परंतु ऐसी परिकल्पनाएँ, उसी जल में प्रतिबिंबित चन्द्रमा की

भांति, माया की भूल-भुलैया में भटके हुए पशुजनों का व्यवहारमात्र हैं। असल में तो आत्मा न जन्मता और न मरता ही है। **भगवद्गीता** का उपदेश भी ऐसा ही है–

'यह आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत (अविनाशी) और प्राचीन है, यह कभी भी न जन्मता और न मरता है, यह न पूर्वकाल में उत्पन्न हुआ था और न आगामी भविष्यत् में नये सिरे से उत्पन्न होगा, यह शरीर के मारे जाने पर मारा नहीं जाता है।'

(भगवद्गीता अ० २, श्लोक १०)

मूलग्रन्थ : तस्मात् अयम् आत्मा महा-ईशानः स्वतन्त्रः सर्वस्य स्वात्म-प्रत्यवमर्श-स्वभावः सर्व-प्रमातॄणाम् अनुभवितृतया प्रथमानः, ततः तत्-तत्-अवस्था-विप्रलोपे समुत्पत्तौ वा स्वस्वरूप एव। एतत् एव च दुर्घट-कारि महेशानत्वं संवित्-तत्त्वस्य यत् तथा तथा पशु-प्रमातृतया स्वर्ग-नरक-आदि-भोग-भोक्ता अपि सर्व-अनुभवितृतया संवित्स्वरूप एव। प्रत्युत पुण्य-पाप-स्वर्ग-नरक-क्षुत्-पिपासा-आदिको यः अयं पशुभावो बन्धकतया नियतः स यदि भगवता स्वात्म-प्रकाशेन प्रकाशितः परामृष्टः च स्यात् तदा यथा-उक्तां स्वात्मनि सत्तां लभते, अन्यथा निःस्वभाव एव एष-इति कथं स्वात्मनः तस्य एव महेशस्य स्वरूप-विप्रलोपाय उच्यते?

अनुवाद : इसलिए यह महान ईश्वर और स्वतन्त्र आत्मदेव–

(क) सारे विश्वप्रपंच को आत्मभाव की ओर अभिमुखता के रूप में अर्थात् पर-अहम् रूप में विमर्श करते रहने के स्वभाव वाला, (ख) सारे प्रमाताओं में अनुभावी सत्ता के रूप में प्रकाशमान रहने वाला, और (ग) अलग-अलग अवस्थाओं के लुप्त होने या उत्पन्न होने के अवसरों पर भी मात्र स्वरूप में अविचल रहने वाला तत्त्व है।

संवित् - तत्त्व की 'महेश्वरता'-अर्थात् दुर्घट कृत्यों को संपन्न करने की क्षमता का रहस्य इसी में निहित है कि वह भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुप्रमाता रूपों को धर कर स्वर्ग, नरक इत्यादि का उपभोग करता हुआ भी, सारी अवस्थाओं में मात्र अनुभावी बना रहने के कारण संवित्-स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहता है। इतना ही नहीं बल्कि जिस पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक, भूख, प्यास इत्यादि रूपों वाले पशुभाव को बंधक माना जाता है, उसको भी स्वरूप-सत्ता की उपलब्धि केवल उसी सूरत में हो सकती है, जब ऐश्वर्यशाली आत्मदेव अपनी प्रकाशमानता से उसको उस रूप में प्रकाशित करके अपने विमर्श का विषय बना देता है। इसके प्रतिकूल

उसका (पशुभाव का) कोई ऐसा स्वतन्त्र स्वभाव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में उसको, उसके अपने ही आत्मभूत महेश्वर के स्वरूप को असिद्ध ठहराने वाला हेतु मानना कहां तक युक्तियुक्त है?

मूलग्रन्थ : सर्वथा निर्मितम् एव वस्तु संहार्यं समुत्पाद्यं वा देह-आदि-रूपं स्यात्, न पुनः नित्ये भगवति चैतन्ये समुत्पत्ति-विनाशौ कदाचित् भवेताम्।

तस्मात् एक एव आत्मा ग्राह्य-ग्राहकतया नाना-रूप-स्वभावः सन्, पुनः अपि सर्व-अनुभवितृतया सर्वस्य एकतया प्रथते-इति न कदाचित् अद्वय-वाद-क्षतिः।

अनुवाद : हर परिस्थिति में केवल ऐसे पदार्थ संहार या सृजन के विषय बन जाते हैं जो किसी के द्वारा निर्मित हों-जैसे शरीर इत्यादि। इसके प्रतिकूल ऐश्वर्य से परिपूर्ण चैतन्य-तत्त्व के उत्पत्ति और विनाश कभी नहीं होते क्योंकि वह एक शाश्वतिक अस्तित्त्व है।

इसलिए निश्चित रूप से आत्मा एक है। वह भिन्न-भिन्न प्रमेय-पदार्थों और प्रमाताओं के रूपों में नाना-प्रकार के आकारों और स्वभावों को अपनाने पर भी, सारी अवस्थाओं का एक ही अनुभावी होने के कारण, हरेक प्रमाता के अंतस् में एक ही (चित्-प्रकाशमय) रूप में प्रकाशमान रहता है। फलतः किसी भी हालत में अद्वैतवाद क्षतिग्रस्त नहीं हो जाता है।

कारिका-८

ध्यानाकर्षण : प्रस्तुत कारिका में प्रयुक्त निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दों का संक्षिप्त तात्पर्य ध्यान में रखने की आवश्यकता है–

१. *अनुगम :* 'अनुगम' एक तार्किक युक्ति है जिसके अनुसार किसी पदार्थ के साथ संबंधित तथ्यों का पूरा विवेचन करने के उपरान्त ही उसके विषय में कोई निश्चित अवधारणा बनाया जाता है। संवित् की सार्वत्रिक व्यापकता को सिद्ध करने के बारे में शैवग्रन्थों में इसी युक्ति का प्रयोग किया गया है।

२. *अभ्युपगम :* यह दूसरे प्रकार की तार्किक युक्ति है। इसके अनुसार किसी पदार्थ को पहले से ही सिद्ध मानकर फिर उसकी सत्यता का परीक्षण तार्किक युक्ति के द्वारा किया जाता है। जड़ एवं अजड़ पदार्थों में आत्मा की सामान्य व्यापकता को सिद्ध करने के विषय में शैवविचारकों ने इस युक्ति का भी प्रयोग किया है।

३. *अहंप्रतीतिविषय* : केवल आंतरिक 'अहम्' की अनुभूति से प्रतीत होने वाला आत्म-तत्त्व।

४. *आत्मा* : (१) विश्वोत्तीर्ण स्तर पर सर्वव्यापी अखण्ड चित्भाव। (२) विश्वमय स्तर पर एक योनि से दूसरी योनि में भटकते रहने वाला संकुचित जीवात्मा।

५. *ग्राह्यविषय* : किसी भी प्रमाता के द्वारा अनुभव किए जाने वाले सारे घट, पट आदि प्रमेय पदार्थ।

६. *प्रमाता* : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंधात्मक प्रमेय-पदार्थों का अनुभविता कोई भी जीवित प्राणी।

७. *पुर्यष्टक-प्रमाता* : संसारी (क्षेत्रज्ञ) प्रमाता, जिसका आदान-प्रदानात्मक व्यवहार पांच ज्ञानेन्द्रियों और मन, बुद्धि एवं अहंकार इन तीन अंत:करणों के द्वारा चलता रहता है, अत: वह असली आत्मा से अपरिचित रहकर इस पुर्यष्टक पर ही आत्म-मानिता रखने के संकोच में पड़ा रहता है।

८. *वेदक* : प्रमेय पदार्थों को ज्ञान का विषय बनाने वाला कोई भी चेतन प्रमाता। इसको दूसरे शब्दों में ग्राहक भी कहते हैं।

९. *वेद्य-खंड* : परमशिव की अनुभूति में संसार के भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारों वाले जड़ एवं चेतन पदार्थ सर्वव्यापी आत्म-भाव के अलग-अलग संकुचित अंश (खंड) हैं, अत: प्रमेय खंड या वेद्य खंड कहे जाते हैं।

१०. *स्वानुभव* : एक वेद्य–हरेक चेतन प्रमाता के अंतस् में वर्तमान आत्मसत्ता, जिसका अनुभव बहिरंग स्थूल इन्द्रियबोध से नहीं, प्रत्युत केवल निजी आंतरिक अनुभूति के ही द्वारा हो जाता है–स्व-अनुभव- एक-वेद्य।

उपक्रमणिका : 'इत्थम् अपि सर्वेषाम् अयम् आत्मा विश्व-प्रपञ्च-स्वभाव: एव, संवित्-मात्र-परमार्थ:, सर्व-अवभास:–सर्वत्र संवित्-अनुगमात्' -इति युक्ति-आगमाभ्यां प्रतिपादित: चेत् किम्-इति लोष्ट-आदौ-अपि अविशेषात् स्वात्मतया स न प्रतीयते, अभ्युपगमे वा जड-अजड-व्यवस्था इयं भासमाना न सङ्गच्छते, लोक-व्यवहार: च जड-अजड-रूप:–इति कथम् एतत् स्यात्?-इति आह–

अनुवाद : इस प्रकार से भी (तार्किक) युक्तियों और आगमशास्त्रों की सीख के आधार पर अगर यह सिद्ध किया जाए कि प्रत्येक स्थान पर संवित् का अनुगम होने के कारण, सारे पदार्थों में सामान्य रूप में व्यापक रहने वाले आत्मा का केवल संवित् ही परमार्थ है, यह सारे पदार्थों का

प्रकाशक है और विश्वप्रपंच के रूप में अवभासमान रहना इसका अकाट्य स्वभाव है–तो भी इन शंकाओं का समाधान नहीं होने पाता कि–

१. (जब आत्मा की व्यापकता में कहीं कोई विशेष नहीं है तो) मिट्टी इत्यादि पदार्थों में भी उसका प्रकाशमान होना क्यों प्रतीत नहीं होता है? और २. अभ्युपगम के द्वारा भी आत्मा की व्यापकता का सिद्धान्त मान लेने पर यह जगत् में चलती हुई जड़ एवं चेतन की व्यवस्था, जो कि भासमान है, संगत नहीं लगती है, जब कि लोक-व्यवहार जड़ एवं अजड़ दोनों रूपों में चल रहा है।

फलतः इस सारे (सैद्धान्तिक) विरोध का परिहार कैसे होगा?- इसका स्पष्टीकरण (अगली कारिका में) प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

राहुरदृश्योऽपि यथा शशिबिम्बस्थः प्रकाशते तद्वत्।
सर्वगतोऽप्ययमात्मा विषयाश्रयणेन धीमुकुरे॥

अन्वय/पदच्छेद : यथा राहुः अदृश्यः अपि शशि-बिम्ब-स्थः प्रकाशते, तत्-वत् अयम् आत्मा सर्व-गतः अपि धी-मुकुरे विषय-आश्रयणेन (प्रकाशते)।

अनुवाद : (दृष्टान्त) जिस प्रकार राहु (ग्रहण की छाया) यों दिखाई न देने पर भी, चन्द्रमंडल पर छा जाने की अवस्था में साफ दिखाई देता है,

(दार्ष्टान्तिक) उसी प्रकार यह आत्मा सब पदार्थों में व्यापक होने पर भी, बुद्धि में दर्पण में किसी प्रमेय विषय के प्रतिबिंबित हो जाने की वेला पर प्रकाशित हो जाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : **(दृष्टान्त) आकाश-देशे राहुः सर्वत्र परिभ्रमन् अपि न उपलभ्यते, स एव पुनः ग्रह-उपराग-काले चंद्र-मूर्ति-स्थः-'अयं राहुः'-इति परीक्ष्यते, अन्यथा स्थितः अपि भचक्रे अस्थितः एव।**

अनुवाद : राहु आकाश में चारों ओर घूमता हुआ भी साधारणतया दिखाई नहीं देता है, परन्तु ग्रहण लग जाने के समय चांद के परिवेश पर छा जाने की दशा में–'यह राहु है'–इस प्रकार भली-भांति परीक्षण किया

जाता है। अन्यथा वह ग्रहचक्र में वर्तमान होता हुआ भी न होने के बराबर ही प्रतीत होता है।

मूलग्रन्थ : (दार्ष्टान्तिक)–तथा एव इह अपि सर्व-अन्तरतमत्त्वेन स्थित: अपि अयम् आत्मा स्व-अनुभव-एक-स्वरूपतया प्रत्यक्ष-परिदृश्यमान: सर्वस्य तथा न उपलक्ष्यते।

अनुवाद : (दार्ष्टान्तिक)–उसी प्रकार प्रस्तुत संदर्भ में सारे (जड़-चेतन) पदार्थों के अन्तरतम में अवस्थित होने पर भी इस आत्मा का साक्षात्कार उसी रूप में सबों को नहीं हो पाता है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार केवल निजी आंतरिक अनुभूति के रूप में ही हो सकता है-तात्पर्य यह कि आत्मा स्वानुभवैकरूप होने के कारण केवल आंतरिक 'अहंम्' अनुभूति के रूप में ही जाना जा सकता है।

मूलग्रन्थ : यदा पुन: पुर्यष्टक-प्रमातृणां बुद्धि-दर्पणे प्रतिभामुकुरे ग्राह्य-व्यवस्था-काले शब्द-आदि-विषय-स्वीकारेण शृणोमि इति एवम् 'अहं' प्रतीति-विषयो भवति, तदा ग्राहक-स्वभावतया लोष्टादौ अपि स्थित: सन् स्फुटरूप:, तत्र एव स्वात्मा प्रकाशते सर्वै: च स्वानुभवैकरूप: प्रतीयते।

लोष्टादौ अत्यन्त-तमोमयत्वात् स्थित: अपि अस्थितकल्प: असौ प्रथते, राहु: आकाशे यथा।

अनुवाद : फिर जब ग्राह्य पदार्थों को व्यवस्थित करने के मौकों पर, अपनी 'बुद्धि'-अर्थात् निर्मल एवं सात्त्विक प्रतिभा के दर्पण में शब्द आदि (पांच) विषयों को प्रतिबिंब रूप में स्वीकारने के द्वारा, (शुद्ध संवेदन वाले) पुर्यष्टक प्रमाताओं को–'मैं (शब्द) सुनता हूँ'-ऐसी ऐसी अहंप्रतीतियों के रूप में अनुभावी आत्मा का अनुभव हो जाता है, तो स्पष्ट रूप में वह, मात्र अनुभावी स्वभाव पर अटल रहने के कारण, मिट्टी इत्यादि पदार्थों में भी वर्तमान रहता हुआ केवल (निर्मल एवं सात्त्विक) बुद्धि-दर्पण में प्रकाशित (प्रतिबिंबित) हो जाता है, और सारे (योगी अथवा शुद्ध संवेदन वाले) व्यक्तियों को केवल अपने (आंतरिक) अनुभव अर्थात् 'अहं' अनुभूति के रूप में प्रतीत भी हो जाता है।

(हाँ इतना तो है कि) मिट्टी इत्यादि (स्थूलतम) प्रमेय-पदार्थों में, तमोगुण का अत्यधिक प्राचुर्य होने के कारण, आकाश में राहु की

भांति, विद्यमान होता हुआ भी (साधारणतया) अविद्यमान जैसा ही जान पड़ता है।

मूलग्रन्थ : एवम् अयं भगवान् माया-शक्त्या स्वात्म[1]कल्पे अपि भाव-वर्गे कांश्चित पुर्यष्टक-स्वरूपान् वेद्य-खण्डान्[2] अपि अहन्ता-व्यवस्था-रस-अभिषिक्तान् वेदकीकरोति, कांश्चित् वेद्यीकरोति, तत् अपेक्षया अयं जड-अजड-व्यवस्था-स्वरूपो भेदव्यवहारः सुस्थितः एव उपपद्यते। तेन लोष्ट–आदिः वेद्यत्वात् जडः, वेदकत्वात् पुर्यष्टक-प्रमाता अपि अजडः। तेन पुनः परमार्थेन[3] परमेश्वर-अपेक्षया जड-अजड- व्यवहारः–इति।

अनुवाद : फलतः वास्तविक स्थिति यह है कि यद्यपि ऐश्वर्यशाली परमशिव की अनुभूति में सारी प्रमेय-पदार्थों के अटाले 'स्वात्मकल्प'-अर्थात् आत्मभाव के बिल्कुल अनुरूप हैं, तो भी वह अपनी माया-शक्ति (मौलिक स्वातन्त्र्यशक्ति) के बल से, कई पुर्यष्टकरूपी वेद्यखण्डों को अहंचेतना के रस से सींच कर 'वेदक्' अर्थात् चेतन-प्रमाताओं का रूप देता है और कई वेद्यखंडों को प्रमेय-पदार्थों के रूप में रखता है। इन्हीं (वेदकों और वेद्यों) की अपेक्षा से यह जड़ और चेतनों के भेदभाव पर आधारित रहने वाला लोकव्यवहार नियमित रूप से चल रहा है।

इसलिए मिट्टी आदि पदार्थ प्रमेय होने के कारण जड़ और पुर्यष्टक-प्रमाता (वास्तव में वेद्यखंड होते हुए भी) अनुभावी होने के कारण चेतन कहे जाते हैं। फिर तो उसी परमार्थ की दृष्टि से सिद्ध हो जाता है कि जड़ और चेतन के रूपवाला व्यवहार मूलतः परमेश्वर का ही उपजाया हुआ है- (इसमें और किसी का कुछ भी योगदान नहीं है)

***संकेत** : १. यहां पर मूलग्रन्थ में 'स्वात्मकल्पे' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'कल्पः' शब्द संस्कृत में यद्यपि समानता के भाव को अभिव्यक्त करता है, तो भी शैवसंदर्भ में वह समानता वैसी ही समझी जाती है जैसी आग के ढेर और चिनगारी में होती है। चिनगारी आग का ढेर तो नहीं, परन्तु आग से भिन्न भी नहीं होती है। इसी प्रकार परमात्मशक्ति के द्वारा असीम आत्मभाव से अलगाए हुए प्रमेय पदार्थ परमात्मभाव के साथ नितांत एकाकार न होते हुए भी उससे भिन्न नहीं हैं। तात्पर्य यह कि पूरे स्वात्मरूप नहीं, बल्कि स्वात्मकल्प हैं। यदि बिल्कुल स्वात्मरूप होते तो परमात्मभाव और संसारभाव के पार्थक्य का कोई झमेला ही नहीं होता।*

२. कोई भी परमात्मभाव का अंश असीम परमात्मभाव से अलगाए जाने के तत्काल ससीम बन जाने के कारण वेद्यखंड बन जाता है।
३. परमार्थसार में यह भी एक परमार्थ है।

कारिका-९

उपक्रमणिकाः 'ननु सर्व-प्रमातृणां बुद्धौ चेत् स्वात्मनः अपि अविशेषेण प्रस्फुरणं तर्हि ते सर्वे किम् इति स्वात्मविदः न स्युः, तत् ज्ञानवन्तो मा वा भूवन्? विशेष-अभावात्। यत् पुनः संसार-अवस्थायाम् अपि केचन स्वात्म-ज्ञानात् जीवन्मुक्ताः सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्व-शालिनः, केचन स्वात्म-ज्ञान-योग्या आरुरुक्षवः च दृश्यन्ते, अपरे स्वात्म-ज्ञान- रहिताः सन्तो धर्म-अधर्म-निमित्त-शुभ-अशुभ-कर्म-निगड-प्रबन्ध-बद्धाः संसारिणः एव'–इति कथम् एतत् सङ्गच्छते? इत्थम् अन्तः सर्वं कृत्वा पारमेश्वरः शक्तिपातः विशृङ्खलः इति प्रतिपादयति–

अनुवादः (शंका) यदि सारे प्रमाताओं की बुद्धि में आत्मभाव का स्पंदन भी सामान्य रूप में ही होता रहता, तो कोई पारस्परिक विशेषता न होने के कारण, क्या वे सारे एकदम आत्मज्ञानी या निपट आत्म-अज्ञानी ही नहीं होते? उल्टे में स्थिति यह है कि जीवभाव की अवस्था में भी कई प्रमाता आत्मज्ञान की उपलब्धि से जीवन्मुक्त बनकर सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता की शक्तियों से रममाण हैं, कइयों में आत्मज्ञानी बनने की योग्यता का निखार, और उच्चतम भूमिका पर चढ़ने का चाव दीख पड़ता है, और कई प्रमाता आत्मज्ञान से निरा चौपट और धर्म एवं अधर्म के (कथित) उद्देश्यों को लेकर किये जाने वाले (कथित) अच्छे या बुरे कर्मों की दुर्भेद्य बेड़ियों के द्वारा जकड़े हुए होने के कारण संसार के चक्कर में ही पड़े हुए हैं-फलतः इस सारे विरोधाभास का तालमेल कैसे बैठ सकता है?

इस सारी शंका को मन में रखकर (अगली कारिका में) यह मान्यता प्रस्तुत कर रहा है कि परमेश्वर का शक्तिपात (अनुग्रह) किसी निश्चित क्रम का वशवर्ती नहीं है–

मूलकारिका

आदर्शे मलरहिते यद्वद् वदनं विभाति तद्वदयम्।
शिवशक्तिपातविमले धीतत्त्वे भाति भारूपः॥

अन्वय/पदच्छेदः यद्वत् मल-रहिते आदर्शे वदनं विभाति, तद्वत् अयं भा-रूपः शिव-शक्तिपात-विमले धी-तत्त्वे भाति।

अनुवादः (दृष्टान्त) जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ही, स्पष्ट रूप में, मुख प्रतिबिंबित हो जाता है, उसी प्रकार–

(दार्ष्टान्तिक): यह प्रकाशरूप आत्मा परमशिव के शक्तिपात (अनुग्रह) से मंजे हुए बुद्धि-तत्त्व में ही झलकता रहता है- ('अहम्' रूप में अनुभव किया जाता है)

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : (दृष्टान्त) दर्पणे मालिन्य-रहिते यथा निर्विशेष-गुण-गण-युक्तं मुखं चकास्ति। न स देशः अस्ति यं विनिवृत्त-मलः आदर्शो न स्वीकुरुते।

समले दर्पणे तु मुखम् अनन्य-अतिशयम् अपि ध्यामलत्वात् वैपरीत्येन प्रकाशते। न अपि मलिनः तदीयान् गुणान् स्वीकर्तुम अलम्, प्रत्युत तन्-न्यस्त-मुखम् अन्यथा एव ध्यामलत्व-आदि-उपेतम् अवलोक्य स्वात्मनः लज्जाम् आवहति-'विकृतं मत्-वदनम्'-इति।

अनुवाद : (दृष्टान्त) जिस प्रकार मलिनता से हीन दर्पण में मुख सामान्य रूप में अपनी सुंदरता इत्यादि गुणों के समूह को साथ लेकर प्रतिबिंब रूप में झलकने लगता है–तात्पर्य यह कि उसका कोई भी ऐसा भाग रहने नहीं पाता जिसका प्रतिबिंब वह मंजा हुआ दर्पण अपने में ग्रहण न करता हो।

मुख अपने स्थान पर नितांत अतिशयशाली होने पर भी, मैले दर्पण पर छाए हुए 'ध्यामलत्व'-अर्थात् धुंधलाई के कारण भद्दे आकार में ही प्रतिबिंबित होने पाता है। भाव यह कि मैला दर्पण अपने में उस मुख के गुणों का अविकल प्रतिबिंब ग्रहण करने में सक्षम नहीं होता है। उल्टा वैसे धुंधले दर्पण में मुख का प्रतिबिंब भद्दा अथवा ध्यामलता से युक्त दिखाई देने पर, अपने ही मन में इस विचार से लज्जा उत्पन्न हो जाती है कि- "मेरे मुख की सूरत कितनी बिगड़ गई है"?

मूलग्रन्थ : (दार्ष्टान्तिक) तथा एव शिवस्य स्वात्मनः या असौ अनुग्रह-आख्या शक्तिः तस्याः पातः स्व-किरण-विस्फारः तेन संमार्जिते

आणव-मायीय-कार्म-मल-वासना-प्रक्षयात् विशदीकृते केषाञ्चित् अपश्चिम-जन्मनां प्रमातॄणां (धी-तत्त्वे?) भाः प्रकाशः रूपं यस्य इति स भारूपः स्वात्मा-यावत् सर्वज्ञत्व-आदि-गुण-गण-युक्तः तावान् अपि अवभासते, येन केचन एव ते स्वात्म-स्वरूप-प्रथनात् संसार-मध्य-पतिताः अपि मुक्तकल्पाः स-अतिशयाः च।

अनुवाद : (दार्ष्टान्तिक)–(शक्तिपात शब्द का अर्थ='शक्ति' अर्थात् परमेश्वर की उस अवर्णनीय (पांचवी) अनुग्रह नामवाली शक्ति का, 'पात' अर्थात् किसी विरले भाग्यशाली भक्तजन के अंतर्हृदय में अलक्षित रूप में और अकस्मात् आलोकित होना)

उसी प्रकार कई इने-गिने और फिर दुबारा जन्म न लेने वाले प्रमाताओं के ऐसे बुद्धितत्त्व में, जो कि अपना ही अन्तरात्मा बने हुए शिव के शक्तिपात की प्रभाविता के द्वारा आणव, मायीय और कार्म–इन तीनों मलों की वासनाओं का समूलनाश होने के कारण स्वच्छातिस्वच्छ बन गया हो, अहं-प्रकाशमय आत्मा अपने स्वाभाविक सर्वज्ञता इत्यादि ईश्वरीय गुणसमूह की पूरी मात्रा को साथ लेकर अवभासमान रहता है। इसी महिमा से वे चुने-चुनाए व्यक्ति, स्वात्ममहेश्वर के स्वरूप के ज्ञानवान होने के कारण, संसारभाव की अवस्था में वर्तमान रहते हुए भी मुक्तात्माओं के समकक्ष और अतिशयशाली बने रहते हैं।

मूलग्रन्थ : केषाञ्चित् एवं परमेश्वर-तिरोधान-शक्त्या आणव-मायीय-कार्म-मल-समाच्छादिते बुद्धि-तत्त्वे भारूपः अपि आत्मा मालिन्यात् भातः अपि अभातकल्पः, येन ते संसारिणः पशवः-इति अभिधीयन्ते। अन्ये अपि उभय-शक्ति-योगात् प्रमातारः आरुरुक्षवः-इति। इत्थं तीव्र-मन्द-मन्दतर-आदि-भेदेन शक्तिपात-वैचित्र्यं सर्वत्र अपि ऊह्यम्।

अनुवाद : इसी प्रकार कई प्रमाता आवागमन के ही चक्कर में पड़े रहने के कारण 'पशु' कहलाते हैं। कारण यह कि उनके बुद्धि-तत्त्व पर परमेश्वर की तिरोधानशक्ति के प्रभाव से आणव, मायीय और कार्म इन तीनों मलों का सघन आवरण छाया रहता है, जिसकी 'ध्यामलता' अर्थात् धुंधलाई के फलस्वरूप उसमें (बुद्धितत्त्व में) आत्मा प्रकाशमय आत्मा स्पष्टरूप में भासमान होने पर भी 'अभातकल्प' अर्थात् अनुभव में न आनेवाला जैसा ही बना रहता है। इनसे इतर प्रमाताओं में भी दोनों

(अनुग्रह एवं तिरोधान) शक्तियों की मिली-जुली प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उच्चभूमिका पर चढ़ने की साध लगी रहती है।

इस प्रकार तीव्र, मंद, मंदतर इत्यादि प्रकार के भेदों के अनुसार शक्तिपात की विलक्षणता का परीक्षण हरेक अवस्था में करते रहना चाहिए।

मूलग्रन्थ : अत्र न माया-अन्तः-पाति-नियति-शक्ति-समुत्थम् अश्वमेध-आदिकं जप-ध्यान-आदि वा अन्यत् यत् किञ्चित् कर्म मोचन-हेतुः-आत्मनः तस्य हि मायातः समुत्तीर्णत्वात् भेद-प्रधानं वस्तु तत्-साधनाय न प्रकल्पते। यत् गीतम्–

'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया?

(भगवद्गीता अ० ११, श्लोक ५३)

अनुवाद : इस विषय में अश्वमेध यज्ञ इत्यादि (वैदिक), जप एवं ध्यान इत्यादि (कर्मकाण्डीय), या और भी ऐसी ही (शास्त्रीय) इतिकर्तव्यताएँ मुक्ति दिलाने का कारण नहीं बन सकतीं क्योंकि वे स्वयं माया की परिधि के अंतर्गत और नियति-शक्ति की उपज हैं। आत्मा, निश्चय से माया की पहुँच से बाहर है, अतः उसकी अनुभूति प्राप्त कराने में किसी निरा भेदभाव पर टिके हुए साधन की कल्पना करना व्यर्थ है। भगवद्गीता में ऐसा ही उपदेश दिया गया है–

'अहंरूप आत्मा का अनुभव वेदों का स्वाध्याय करने, तपस्या करने, दान देने और यज्ञ करने से नहीं होता है।'

(भगवद्गीता अ०११, श्लोक ५३)

मूलग्रन्थ : तस्मात् एक एव अत्र परमेश्वर-अनुग्रहः कारणम् अकृत्रिमं भव्य-बुद्धीनाम्। यत् उक्तम्–

'ईशितुः शक्तिपातांशे ख्यापयित्री स्वतन्त्रता।
धीः कारणकलाध्राता नैव किञ्चिदपेक्षते॥'

अनुवाद : इसलिए 'भव्य'-अर्थात् मंगलमय सत्त्वप्रधान प्रतिभा वाले व्यक्तियों को, मात्र परमेश्वर का अनुग्रह, आत्म-अनुभूति करानेवाला स्वाभाविक साधन है, जैसा कहा गया है–

'सबों के नियामक परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति ही (भक्तजनों) को वितरण किए जानेवाले शक्तिपात की मात्रा का निर्धारण कर लेती है,

बुद्धि को उस 'कारणकला' अर्थात् ईश्वरीय अनुग्रह के छोटे से छोटे अंश का भी स्पर्श हो जाने पर और किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती है।'

मूलग्रन्थ : पशु-प्रमातृणां तु परमेश्वर-तिरोधान-शक्तिः संसरण-हेतुः एव, येन एते स्व-स्वरूप-अप्रथनाय शुभ-अशुभ-कर्म-निरताः सुख-दुःख-आदि-भोग-भाजः पुनः पुनः अस्मिन् संसरन्ति। तस्मात् प्रमातृणां साधारणे अपि स्वात्मनि, प्रकाश-अप्रकाश-रूपे अनुग्रह-तिरोधान-शक्ती द्वे एव ते मोक्ष-बन्ध-प्रविभाग-हेतू। यत् उक्तम् अवधूतसिद्धपादैः-

'बध्नाति काचिदपि शक्तिरनन्तशक्तेः
क्षेत्रज्ञमप्रतिहता भवपाशजालैः।
ज्ञानासिना च विनिकृत्य गुणान् अशेषान्
अन्या करोत्यभिमुखं पुरुषं विमुक्तौ॥- इति।

अनुवाद : पशुप्रमाताओं के लिए तो परमेश्वर की तिरोधान शक्ति ही आवागमन के हेतु बनी रहती है। उसी शक्ति के प्रभाव से ऐसे प्रमाता मानो स्वरूपबोध से निपट अज्ञानी रहने के लिए ही (कथित) अच्छे और बुरे कर्तव्यों का पालन करते और (कथित) सुख या दुःख भोगते हुए इस संसार में बार-बार जन्मते और मरते रहते हैं। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि यद्यपि सारे प्रमाताओं में आत्मा, सामान्य रूप में, व्यापक है, तो भी प्रकाशमयी अनुग्रहशक्ति और अंधकारमयी तिरोधानशक्ति ये ही दो ईश्वरीय शक्तियाँ आत्मा के लिए क्रमशः मुक्ति और बंधन के विभाग का कारण बनी हुई हैं। इस संदर्भ में अवधूतसिद्धपाद का कथन इस प्रकार है-

'अनन्त शक्तियों के संचालक (परमेश्वर) की कोई शक्ति (तिरोधानशक्ति) क्षेत्रज्ञ प्रमाता को सांसारिक पाशजाल में, बिना किसी अवरोध के, फंसा लेती है, जब कि कोई दूसरी शक्ति (अनुग्रहशक्ति) ज्ञान की तलवार से त्रिगुणमय पाश का छेदन करके, पुरुष को मुक्ति के अभिमुख बना देती है।'

संकेत : *इस कारिका की टीका में टीकाकार ने 'ध्यामल' शब्द का प्रयोग किया है। यह शैवशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। यह अस्पष्टता का द्योतक है। साधारण और विशेष रूपों में इसके दो निम्नलिखित अभिप्राय हैं-*

(क) साधरण रूप में-मैला दर्पण, गंदला पानी इत्यादि पदार्थों में पड़े हुए मुख इत्यादि के प्रतिबिंब का अस्पष्ट अंकन।
(ख) विशेष रूप में-सदाशिव-तत्त्व की भूमिका पर, बहिरंग स्थूल विश्व की सृष्टि से पूर्व मंत्रमहेश्वर प्रमाता (शिव का रूपान्तर) के विमर्श में उभरने वाली विश्वचित्र की ऐसी अस्पष्ट गढ़न जिसमें अभी सृज्य विश्व के स्थूल आकार-प्रकारों का स्पष्ट अंकन नहीं होता है।

कारिकाएँ-१०, ११

उपक्रमणिका : एवम् इदं सर्व-आगम-अनुभव-युक्ति-युक्तं प्रतिपाद्य यत् प्राक् शक्ति-आदि-अण्ड-चतुष्टयं प्रतिपादितं तत् अन्तरालवर्ति षट्त्रिंशत्-तत्त्वात्मकं जगत् यत्‘लग्नं भाति, तत् प्रथमतः कारण-कारणं परमशिव-स्वरूपं कारिका-द्वयेन आह–

अनुवाद : इस प्रकार सारे आगमों, निजी अनुभवों और तार्किक युक्तियों के आधार पर इस सारे प्रतिवाद का संगत समाधान प्रस्तुत किया गया। पहले जिन शक्ति इत्यादि चार अंडों का उल्लेख किया गया, उन्हीं के अंतराल में यह छत्तीस तत्त्वों से संरचित विश्व जिस आधार पर भासमान है वही सारे कारणों का मूलकारण परमशिव कहलाता है। अगली दो कारिकाओं में उसी के स्वरूप का परिचय प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिकाएँ

भारूपं परिपूर्णं स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम्।
इच्छासंवित्करणैर्निर्भरितमनन्तशक्तिपरिपूर्णम्॥
सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम्।
यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्म जगत्॥

अन्वय/पदच्छेद : यत् भारूपं, परिपूर्णं, स्वात्मनि विश्रान्तितः महा-आनन्दम्, इच्छा-संवित्-करणैः निर्भरितं, अनन्त-शक्ति-परिपूर्णं, सर्व-विकल्प-विहीनं, शुद्धं, शान्तं, लय-उदय-विहीनं परतत्त्वं (वर्तते) तस्मिन् षट्त्रिंशत्-आत्म जगत् विभाति।

अनुवाद : केवल प्रकाशमय, परिपूर्ण (=नित्यतृप्त, आकांक्षाओं से रहित, अहंरूप), स्व-स्वरूप में विश्रान्त होने के कारण महान आह्लाद से भरित, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के रूपवाले स्वातन्त्र्य से

ओत-प्रोत, अनन्त रूपों में रममाण शक्तियों से पूर्ण, सारे विकल्पों से दूर, मलातीत, शान्त(=क्षोभरहित), अस्त एवं उदय से रहित (=अविनाशी) जो परतत्त्व (=तत्त्वातीत परमशिव) वर्तमान है, उसी आधार पर (=उसी ईश्वरीय विमर्श में) यह छत्तीस तत्त्वों से संरचित विश्व प्रकाशमान है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : यत् एवंविधं परं पूर्णं शिव-तत्त्वं, तत्र शिव-आदि-धरा-पर्यन्तं वक्ष्यमाणं विश्वं-विश्रान्तं सत्-प्रकाशते,-तत् अभिन्नम् एव चकासत्-युक्त्या उपपद्यते-इति यावत्।

अनुवाद : ऐसे लोकोत्तर एवं परिपूर्ण शिव-तत्त्व (परमशिव) के आधार पर यह शिव-तत्त्व से लेकर अंतिम पृथ्वी-तत्त्व तक के विस्तार वाला और आगे के ग्रन्थ में वर्ण्य-विषय बना हुआ विश्व, (ईश्वरीय विमर्श में नित्य) सत्-रूप होता हुआ ही (बहिरंग स्थूल रूप में) प्रकाशमान है। तात्पर्य यह कि उस परमात्मभाव के साथ मूलतः अभिन्न रूप में (=संवित्मय रूप में) नित्य प्रकाशमान रहता हुआ ही (बाहरी स्थूल रूप में) भासमान है। यह वास्तविकता 'युक्ति' अर्थात् आगम, तर्क और स्वानुभव के बल से सिद्ध हो जाती है।

मूलग्रन्थ : (शंका) ननु तन्यते सर्वं तनु-आदि यत्र तत् तत्त्वम्, तननात् वा तत्-आप्रलयं, तस्य भावः-इति वा तत्त्वम्-इति एवम् अपि तत्त्व-व्यपदेशः अयं जाड्य-आ-पादकः कथं चित्-रूपे भगवति परमशिवे स्यात्?

(समाधान) : उच्यते-उपदेश्य-जन-अपेक्षया यावत् शब्देन प्रतिपाद्यते, तावता तत्र तत्त्व-व्यपदेशः, न वस्तुतः।

अनुवाद : शंका यह है कि-

(क) जिसमें सारे शरीर इत्यादि (अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, भुवन इत्यादि) भावों का उत्तरोत्तर विस्तार होता रहता हो, उसको तत्त्व कहते हैं,

(ख) जिसके विस्तारक्रम की प्रक्रिया प्रलय के आरंभ तक चलती रहती हो, उसको तत्त्व कहते हैं,

(ग) जिसका (किसी भी प्रकार के इन्द्रियबोध के द्वारा जान पड़ने वाला) सद्भाव हो, उसको तत्त्व कहते हैं।

तत्त्व शब्द के इन तीनों लक्षणों के अनुसार किसी पदार्थ को तत्त्व यह नाम देना उसके जड़ होने के भाव को सिद्ध कर देता है। भगवान्

परमशिव तो केवल चित्-रूप है, अतः उसको तत्त्व कहना कहां तक युक्तियुक्त है?

(समाधान) : शिष्यजनों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए जितनी मात्रा तक शब्दों का प्रयोग करना संभव हो सके, उतने तक ही परमशिव का निर्देश तत्त्व शब्द से किया गया है, जब कि वास्तविकता से ऐसा नहीं किया गया है।

मूलग्रन्थ : कीदृशं तत् परं तत्त्वम्?

भाः प्रकाशो रूपं स्वभावो यस्य–महाप्रकाश-वपुः इत्यर्थः। तथा परिपूर्णं निराकाङ्क्षम्। निराकाङ्क्षम् अपि स्फटिकमणि-दर्पण-आदि जडं वस्तु भवति–इत्याह 'स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम्-इति। स्वस्मिन् स्वभावे अखण्ड-अहंता-चमत्कार-रसे विश्रमात् महान् आनन्दः परा निर्वृतिः यस्य-इति। तत् एवं परम-आह्लादक-स्फुरत्ता-सारत्वात् प्रकाश्य- स्फटिक-आदेः जडात् वैलक्षण्यम् उक्तं भवति।

अनुवाद : उस परमोत्कृष्ट तत्त्व का स्वरूप कैसा है?–

उसका **'रूप'** अर्थात् स्वभाव मात्र प्रकाश है। तात्पर्य यह कि **'महाप्रकाश'** अर्थात् सनातन, असीम, अखंड एवं सर्वव्यापी बोध उसका स्वरूप है।

वह सर्वतोभाव से पूर्ण है–तात्पर्य यह कि (उसके लिए सब कुछ अहमात्मक होने के कारण) उसकी तनिक् भी आकाङ्क्षा नहीं है।

कोई यह पूछे कि बिल्लौर, रत्न, दर्पण इत्यादि (प्रकाशमान) पदार्थ भी आकाक्षांओं से रहित होते हैं, परंतु वे जड़ हैं। इस शंका का शमन करने के अभिप्राय से 'स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम्'-इस कारिकाभाग को प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

वह परिपूर्ण स्वात्मभाव में तल्लीन होने के कारण 'महान आनन्द'-अर्थात् लोकोत्तर आनन्द की पराकाष्ठा से भरित है। अभिप्राय यह कि स्वभावसिद्ध एवं खंडनाओं से वर्जित 'अहंविमर्श=मैं, मेरा विस्तार' के चमत्कार की रसमयता में विश्रान्त होने के कारण असीम आह्लाद, जिसको शास्त्रीय परिभाषा में परनिर्वृति कहते हैं, से सराबोर है। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि वह परमात्मा स्वाभाविक आनन्दमयता का सार-सर्वस्व होने के कारण इन, किसी दूसरे के द्वारा प्रकाशनीय, बिल्लौर इत्यादि जड़-भावों से विलक्षण है।

मूलग्रन्थ : **अत एव आह–'इच्छासंवित्करणैर्भरितम्'-इति–इच्छा-ज्ञान-क्रिया-शक्ति-स्वभावम् एव, न पुनः शान्त-ब्रह्म-वादिनाम् इव शक्ति-विरहितं जड़कल्पम्।**

अन्यत् च 'अनन्त-शक्ति-परिपूर्णम्'-इति–अनन्ताः निःसंख्या घट-पट-आद्याः नाना-रूपात्मिकाः शक्तयः इच्छा-ज्ञान-क्रिया-शक्तीनां पल्लवभूता ब्राह्माद्याः शब्द-राशि-समुत्थाः, ताभिः परितः समन्तात् पूर्णं व्याप्तं, तत एव उल्लसन्त्यः तत्र एव शाम्यन्ति–इति। एवं परावाक्-रूपं भगवति स्वातन्त्र्यम् उक्तं स्यात्।

अनुवाद : इसी अभिप्राय को लेकर कहा है–'इच्छा-संवित्-करणैर्निर्भरितम्'। तात्पर्य इसप्रकार है–

वह परतत्त्व जो कि इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों की सर्वतोमुखी व्यापकता से युक्त है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया–इन तीन मुखों में नित्य स्पन्दायमान रहना उसका मुख्य स्वभाव है। ऐसा नहीं कि वह शान्त ब्रह्मवादियों के द्वारा वर्णित शक्तिहीन ब्रह्म की तरह जड़ अर्थात् निष्क्रिय है।

यह भी कहा है–'अनन्तशक्ति परिपूर्णम्'। तात्पर्य इस प्रकार है–

कलसा, कपड़ा इत्यादि नाना आकार-प्रकारों वाले प्रमेय-विषय मूलतः उसी की अनगिन शक्तियों का विस्तार हैं। (बहिरंग रूप में) इनका अभ्युत्थान, उन्हीं मौलिक इच्छा, ज्ञान और क्रिया से उद्भूत कोंपलों जैसी और ब्राह्मी इत्यादि (मातृका) शक्तियों के द्वारा संचालित, 'शब्दराशि'–अर्थात् 'अ' से लेकर 'क्ष' तक की वर्णराशि से होता रहता है। वह परतत्त्व इन्हीं अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है। यह सारा शक्ति-परिवार उसी उद्‌गम से (बहिरंग रूप में) विस्फार पाकर पुनः उसी में विश्रान्त भी हो जाता है। इस कथन से भगवान में परावाक् रूपी स्वातन्त्र्य के सद्भाव की अभिव्यंजना होती है।

संकेत : *तात्पर्य यह कि भगवान में समूचा शक्तिपुंज 'परावाक्' रूपी ईश्वरीय स्वातन्त्र्य के रूप में सदा-सर्वदा गर्भित ही है।*

मूलग्रन्थ : **ननु वाक्-रूपं चेत् परं-तत्त्वं तर्हि काल्पनिकं-शब्द-सन्निभत्वात्, कथं शुद्ध-प्रकाश-वपुषि कल्पनायोगः?- इति आशयेन आह-'सर्व-विकल्प-विहीनम्'–इति–**

पर-प्रमातरि यः अयं पराहन्ता-चमत्कारः स वाक्-रूपः अपि निर्विकल्पः। विकल्पः हि अन्य-अपोह-लक्षणः द्वयं घट-अघट-रूपम् आक्षिपन् अघटात् व्यवच्छिन्नं घटं निश्चिनोति। प्रकाशस्य पुनः पराहन्ता-चमत्कार-सारस्य अपि न अप्रकाशरूपः प्रकाशात् अन्यः प्रतिपक्षतया विद्यते, यत् व्यवच्छेदात् तस्य विकल्प-रूपता स्यात्।

अनुवाद : यदि परतत्त्व (किसी भी स्तर की) वाणी के आकार वाला है तो वह (वाणी के द्वारा उचारे जाने वाले) शब्दों का समकक्ष होने के कारण निरा एक काल्पनिक (विकल्पमय) वस्तु है, परंतु निर्मल (अहं) प्रकाशमय स्वरूपवाले तत्त्व के परिप्रेक्ष्य में कल्पनाओं (विकल्पों) का अवकाश ही कहां है?-इस आशय से-'सर्वविकल्पविहीनम्'-यह कारिकाभाग प्रस्तुत किया है। तात्पर्य इस प्रकार है-

पर-प्रमाता में जो यह लोकोत्तर अहंभाव की आनन्दमयता का परामर्श (अहंविमर्शमय स्पन्दन) भरा हुआ है वह वाक्-रूप (परावारणीरूप) होने पर भी विकल्पात्मक नहीं है। किसी भी पदार्थ के स्वरूपनिर्धारण के विषय में दो परस्पर-विरोधी धारणाओं में से एक अनपेक्षित धारणा का अपोहन करके, दूसरी अपेक्षित धारणा का निश्चय करवाने वाले व्यापार को विकल्प कहते हैं। (उदाहरणार्थ-) अमुक पदार्थ-'कलसा है, या कलसा नहीं है'-विकल्प इन दो प्रतिस्पर्धी धारणाओं का (युगपत्) आक्षेप (ग्रहण) करने के तत्काल ही इनमें से घड़ा नहीं है-इस अनपेक्षित धारणा का अपोहन करके इससे इतर 'यह घड़ा है'-इस धारणा का निश्चय करवाता है। परंतु सारे पदार्थों को सर्वत्र अहंरूप में अनुभव करने के हुलास का सार बने हुए प्रकाश का, प्रकाश से भिन्न, कोई अप्रकाशरूपी प्रतिस्पर्धी ही नहीं है जिससे अलगाया जाने पर इसको (परमशिवमय पर-प्रकाश को) विकल्प रूप मान लिया जाता।

संकेत *: पर-प्रकाश 'अहम्' अभिलापात्मक होने पर भी, अथवा परा-वाणीमय होने पर भी विकल्प नहीं है। इस विषय में विस्तृत जानकारी के लिए श्रीईश्वरप्रत्यभिज्ञा की निम्नलिखित कारिका का अध्ययन करें-*

'अहं प्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः।
नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयापेक्षी विनिश्चयः॥'

मूलग्रन्थ : व्यवच्छेद्यो हि अर्थो अप्रकाशात्मा प्रकाश-वपुषि प्रकाशते चेत् तर्हि-

'तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः'।

(स्पं० का० ३/२८)

इत्यादिः न्यायेन यः अपि अर्थः प्रकाश-स्वभावतां यातः सन्, स कथं स्वात्मनः तस्य एव व्यवच्छेदकः स्यात्, येन विकल्प-रूपतां तत्र समावहेत्?

अथ प्रतिपक्षतया न प्रकाशते-इति कथम् इह प्रकाशमानः पदार्थः प्रतिपक्षरूपः अस्ति इति परिच्छेतुम् अपि न शक्येत? इति यत् किञ्चित् एतत् स्यात्।

अनुवाद : '(प्रकाश से) अलगाए जाने वाले पदार्थ का, स्वरूपतः, अप्रकाशरूप होना निश्चित है। उसका (उस रूप में) प्रकाशन भी प्रकाश-स्वरूप की आधारिता से ही संभव हो सकता है।' अगर यही वस्तुस्थिति है तो–

"(प्रकाश-स्वरूप आत्मा सारे घट, पट आदि स्वप्रकाश से हीन पदार्थों को) निजी संवेदनात्मक तादात्म्य के द्वारा (प्रकाशित कर लेता है)"।

(स्पं० का० ३/२८)

इस (स्पन्दशास्त्र में वर्णित) न्याय के अनुसार जो भी कोई (अप्रकाशमय) पदार्थ एक बार प्रकाशमान होने के स्वभाव को प्राप्त कर चुका हो, उसके लिए पहले अपने ही (प्रकाशमय) स्वरूप का विघटन करना और फिर उसी पर विकल्परूप होने की छाप लगा देना कैसे संभव हो सकेगा?

यदि यह तर्क प्रस्तुत किया जाए कि अप्रकाश प्रकाश का प्रतिद्वन्द्वी बनकर प्रकाशमान नहीं है (अर्थात् वह भी अपनी जगह अपने रूप में प्रकाशमान है) तो इस संसार में, –'कोई भी प्रकाशमान पदार्थ प्रकाश का ही विरोधी है'-इस प्रकार से प्रकाश का विभाजन करना भी संभव नहीं हो सकेगा।

मूलग्रन्थ : यतः सर्वैः व्यवच्छेद-आत्मकैः 'विकल्पैर्विहीनम्' अपरिच्छिन्न-स्वभावं परं तत्त्वम्। अत एव आह-'शुद्धम्'-इति विमलं, विकल्पमय्या अशुद्धि-मष्या अभावात्। तथा 'शान्तम्'-इति। ग्राह्य-ग्राहक-समुत्थ-क्षोभ-अभावात् शक्ति-सामरस्येन स्व-स्वरूप-स्थं, न पुनः अश्म-शकल-कल्पम्। अन्यत् च 'लयोदयविहीनम्'–इति–

"सकृद्विभातोऽयमात्मा" इति कृत्वा सनातनः एव।

अनुवाद : इसलिए कि-'वह परतत्त्व सारे विच्छेदात्मक विकल्पों से रहित है'-'शुद्धम्' यह विशेषण बताया है। तात्पर्य यह कि ऐसा परतत्त्व जिसमें मलिनता को उपजाने वाली विकल्प की कलौंछ नाम के लिए भी नहीं है। इसके अतिरिक्त 'शान्तम्' इस विशेषण का प्रयोग किया है। तात्पर्य इस प्रकार है-

वह परतत्त्व जो कि सर्वथा क्षोभ से रहित है। प्रमेयभाव और प्रमातृभाव की पारस्परिक खींचाखींची से उभरने वाले द्वंद्व से रहित होने के कारण, उस स्वरूप में सारी शक्तियां समरस बनी रहती हैं, अतः वह अचेतन ढेला जैसा नहीं, प्रत्युत (चिदानन्द-) स्वरूप में अटल रहने-वाला तत्त्व है।

साथ ही 'लयोदयविहीनम्'-यह विशेषण बताने का तात्पर्य इस प्रकार है-

'यह आत्मा सनातन रूप में प्रकाशमान है'

इस सूत्र से यह अभिप्राय भी लिया जाता है-

'(किसी विरले अनुग्रहशाली भक्तजन को) इस आत्मा की अनुभूति 'सकृत्' अर्थात् सहसा=अलक्ष्य रूप में=एकबारगी ही हो जाती है।)

इस शास्त्रवाक्य के आधार पर उसको 'सनातन' कहना ही औचित्यपूर्ण है।

मूलग्रन्थ : 'अतः भूत-भविष्यत्-वर्तमान-वपुः कालः तत्र न क्रमते, यतः कालस्य ततः एव समुल्लासः'-इति समुत्पत्ति-विनाश-बहिष्कृते परतत्त्वे अभ्युपगते विश्वस्य विश्वत्वम् उपपन्नम्-इति प्रतिपादितं स्यात्।

अनुवाद : अतः भूत, भविष्यत् और वर्तमान-इन तीन सामयिक विभागों वाला काल-तत्त्व उसको आक्रान्त नहीं कर सकता-क्योंकि कालविभाग भी स्वयं उसी परतत्त्व से जन्म पाता है। फलतः उत्पत्ति और विनाश, दोनों से अतिवर्ती परतत्त्व का अस्तित्व स्वीकारने पर ही विश्व का विश्वत्व भी सार्थक सिद्ध हो सकता है।

कारिकाएँ - १२, १३

उपक्रमणिका : 'ननु एवंविधे परतत्त्वे जगत् भाति'-इति यत् प्रतिपादितं तत् कथम् एतत् स्यात्, यावता परतत्त्व-अपेक्षया न किञ्चित्

भेदेन भातुं प्रगल्भेत? ततो भिन्नं चेत् जगत् भासते तदा-अद्वयवाद-खण्डना, अभिन्नं चेत् जगत् प्रकाशते–इति कथं वाचोयुक्तिः?–इति दृष्टान्त-द्वारेण तत्-भेदाभेद-रूपं तत्त्वम् उपदर्शयन् एतत् समर्थनाय आह–

अनुवाद : शंका यह है कि–'ऐसे भेदरहित परमतत्त्व के आधार पर यह जगत् भासमान है'–इस प्रकार जिस सिद्धान्त की स्थापना की गई वह कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है? कारण यह कि परतत्त्व की अपेक्षा से किसी भी उससे इतर पदार्थ में 'अलग-थलग'-अर्थात् निजी स्वतन्त्र सत्ता के बल पर आभासित होने की क्षमता नहीं है। फलतः यदि जगत् परतत्त्व से भिन्न (स्वतन्त्र) रूप में भासमान है तो अद्वयवाद स्वयं ही खंडित हो जाता है। यदि भेदहीन रूप में प्रकाशमान है तो अद्वयवाद की रट लगाने का प्रयोजन ही क्या है?

समाधान में अपने सिद्धान्त का समर्थन करने के अभिप्राय से, परतत्त्व की भेदाभेदमयी स्थिति को दृष्टान्त के द्वारा समझाता हुआ (अगली कारिकाएँ) प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिकाएँ

दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादि चित्रमविभागि।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च॥
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वत् विभागशून्यमपि।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत्॥

अन्वय/पदच्छेदः यत्-वत् दर्पण-बिम्बे नगर-ग्राम-आदि अविभागि चित्रं परस्परं च दर्पणात् अपि च विभागेन एव भाति, तत्-वत् एतत् जगत् विमलतम-पर-भैरव-बोधात् विभाग-शून्यम् अपि अन्योन्यं च ततः अपि च विभक्तम् आभाति।

अनुवाद : (दृष्टान्त) जिस प्रकार दर्पण में पड़ा हुआ नगर गांव इत्यादि विलक्षणताओं से पूर्ण प्रतिबिंब (प्रथमाभासिक दृष्टि में) उस दर्पण के साथ एकाकार होता हुआ भी (सविकल्प दृष्टि में) एक ओर उस दर्पण से और दूसरी ओर अपने आप में भी परस्परभिन्न रूपों में भासमान होता है, (दार्ष्टान्तिक–) उसी प्रकार यह जगत् (प्रथमाभासिक निर्विकल्प दृष्टि में) अति निर्मल परमशिवमय बोध (अखंड ज्ञान) के साथ एकदम अलगाव से रहित रूप में प्रकाशमान होता हुआ भी, (सविकल्प दृष्टि में)

एक ओर 'उससे'-अर्थात् परशिवमय प्रकाश से और दूसरी ओर अपने आप में भी एक दूसरे से भिन्न रूपों में भासमान है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : (दृष्टान्त) यथा निर्मले मुकुर-अन्तराले नगर-ग्राम-पुर-प्राकार-अट्ट-स्थल-नद-नदी-ज्वलन-वृक्ष-पर्वत-पशु-पक्षि-स्त्री-पुरुष-आदिकं सर्वं प्रतिबिम्बतया चित्रं स्वालक्षण्येन नाना-रूपं भासते-अविभागि दर्पणात् अविभक्तं सत् भाति-तत्-अभेदेन एव अन्तः आकारं समर्पयति, तत्र अभेदेन भासमानम् अपि भाति विभागेनैव च परस्परम् इति–अन्योन्य- स्वालक्षण्येन घटात् पटः भिन्नः, पटात् घटः इति विभक्ततया स्फुरति। तत् अन्तर्गता हि भावा एव पृथक्त्वेन परामृश्यन्ते, न पुनः तं दर्पणं त्यक्त्वा पृथक् किञ्चित् उपलभ्यते, किन्तु दर्पण-सामरस्येन स्थितम् अपि सर्वतो भिन्नं जगत् प्रतीयते।

अनुवाद : (दृष्टान्त) जिस प्रकार मंजे हुए दर्पण के अंतराल में नगर, गांव, कस्बा, परकोटा, अटारी, भूखंड, नद, नदी, लपट, पेड़, पहाड़, पशु, पक्षी नारी, पुरुष इत्यादि ढेर सारे प्रमेयों का अटाला प्रतिबिंबित होकर, जहां एक ओर हरेक प्रमेय की अपनी अपनी 'स्वलक्षणता'-अर्थात् स्वरूप की पहचान के अनुसार नानारूपों में भासमान होता है, वहीं दूसरी ओर उस दर्पण से बिल्कुल अलग न होता हुआ ही प्रतिबिंब रूप में झलकता रहता है। तात्पर्य यह कि दर्पण में अपने आकार को इस प्रकार से अंकित करता है कि उसके साथ एकाकार बन जाता है। उस दर्पण में ऐसे अभेदरूप में भासता हुआ भी अपने आप में-'घट से पट अलग है, पट से घट भिन्न है'-इस प्रकार की 'स्वलक्षणताओं'-अर्थात् अपनी अपनी पहचान के लक्षणों को लिए हुए रूपों में भी झलकता रहता है। इससे उस प्रतिबिंब के अंतर्गत प्रमेय पदार्थ अलग अलग रूपों में केवल विवेचन के विषय बन जाते हैं, ऐसा नहीं कि कोई पदार्थ उस दर्पण को छोड़कर बाहर उपलब्ध होता है। किंतु इतना तो है कि वह (प्रतिबिंबमय) जगत् दर्पण के साथ समरस (एकाकार) बनकर अवस्थित होने पर भी चारों ओर से भिन्नताओं को लिए हुए प्रतीत होता है।

मूलग्रन्थ : एवम् अपि घट-आदि-प्रतिबिम्बेन दर्पणः तर्हि अन्तर्हितः स्यात्-इति। एतत् न-इति आह दर्पणात् अपि च-इति। न केवलं स्वयं भावाः दर्पण-अन्तर्गताः अपि भिन्नाः प्रकाशन्ते, यावत् दर्पणात् अपि

व्यातिरिच्यन्ते। यतो दर्पणः तत्-तत्-प्रतिबिंब-मयः अपि तेभ्यः प्रतिबिम्बेभ्यः समुत्तीर्ण-रूपतया चकास्ति, न पुनः तन्मयः संपद्यते येन च 'न दर्पणः'-इति प्रतीतिः स्यात्। सर्वस्य पुनः तत्-तत्-प्रतिबिम्ब-ग्रहणे अपि 'दर्पणः अयम्'-इति अबाधिता प्रतिपत्तिः। न अपि घट-आदि दर्पणं विशिनष्टि येन 'अयं दर्पणः, अयं पट दर्पणः'–इति स्व-स्वरूपता-हानिः तत्र जायते। देशकृतः कालकृतो वा भेदो न तत्र स्वभाव-विप्रलोपाय भवति। तस्मात् तत्-तत्-प्रतिबिम्ब-सहिष्णुः सन् स्वात्मनि दर्पणो दर्पणः एव–इति न काचित् प्रतिबिम्बवाद-क्षतिः।

अनुवाद : (शंका) तो इस विवेचन अनुसार उन घट आदि के प्रतिबिंबों के पीछे दर्पण स्वयं अंतर्हित होता होगा? 'नहीं, ऐसी बात नहीं है'–इस उत्तर की पुष्टि करने के अभिप्राय से 'दर्पणादपि च'–इस कारिकाभाग को प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

केवल इतना ही नहीं है कि वे (नगर इत्यादि) मात्र दर्पण में प्रतिबिंबित होकर आपस में एक दूसरे से भिन्न रूप में झलकते रहते हैं, प्रत्युत वे दर्पण से भी पृथक् होते हैं। कारण यह कि दर्पण नाना प्रकार के प्रतिबिंबों को अपने में धारण करता हुआ भी, स्पष्ट रूप में, उन प्रतिबिंबों से अलग अपने दर्पण रूप में भी अवश्य प्रकाशमान होता है। ऐसा नहीं कि वह अपने दर्पणरूप को खोकर प्रतिबिंब स्वरूप ही बन जाता हो जिससे दर्शकों को 'यह दर्पण नहीं है'–ऐसी प्रतीति हो जाती। उल्टे में सारे दर्शकों को, नाना प्रकार के प्रतिबिंबों को देखने के अवसरों पर भी–'यह दर्पण है'–यह प्रतीति निर्बाध रूप में बनी रहती है। ऐसा भी नहीं है कि घडे आदि प्रमेयों का प्रतिबिंब दर्पण को कोई ऐसी विशेषता प्रदान करता हो जिससे–'यह घट-दर्पण है, यह पट-दर्पण है'–ऐसे ऐसे रूपों में उसके असली दर्पणरूप को कोई क्षति पहुँच पाती हो। इसके अतिरिक्त देश-भेद और काल-भेद भी दर्पण के निजी (प्रतिबिंबग्राही) स्वभाव को मिटा नहीं सकते हैं, अतः भांति भांति के प्रतिबिंबों को अपने में सहन करने की क्षमता से युक्त होता हुआ दर्पण, अपनी जगह पर, दर्पण ही बना रहता है। इस तरह प्रतिबिंबवाद को कोई सैद्धान्तिक क्षति नहीं पहुँचती है।

मूलग्रन्थ : अथ उच्यते भ्रान्तिः एषा–यत् उत 'दर्पणे हस्ती'–इति परामृश्यते, न तु पुनः दर्पणे स कश्चित् विद्यते-तथात्वेन अर्थ-क्रिया-विरहात् भ्रान्त्या एव एष निश्चयः-इति।

एतावता प्रतिबिंब-वादेन दृष्टान्तः तावत् सिद्धः, भ्रान्तेः तु स्वरूपं समनन्तर निरूप्यते।

अनुवाद : यह भी कहा जाता है कि प्रतिबिंबवाद निरा एक भ्रान्ति है। दर्पण में (हाथी के) प्रतिबिंब को देखकर हाथी का परामर्श किया जाता है, जबकि दर्पण में कोई असली हाथी नहीं होता है–क्योंकि वहां असली हाथी की जैसी अर्थ-क्रिया दिखाई नहीं देती है। अतः, स्पष्ट रूप में, ऐसा निश्चय भ्रान्ति से ही किया जाता है।

अस्तु, प्रतिबिंबवाद के इतने विश्लेषण से प्रस्तुत दृष्टान्त तो सिद्ध हो गया। रहा भ्रान्ति का प्रश्न, उसका स्वरूप-निर्धारण जरा ठहरकर (कारिकांक २८ से ३२ तक) किया जायेगा।

मूलग्रन्थ : (दार्ष्टान्तिक) तद्वत् तथा एव दर्पण-नगर-आदि-प्रतिबिम्ब-दृष्टान्तेन 'विमलतमपरमभैरवबोधात्'–अतिशयेन विगलित-कालिकात् पूर्ण-आनन्द-उद्रिक्तात् प्रकाशात् जगत् विश्वं विभाग-शून्यम् अपि दर्पण-प्रतिबिंब-वत् ततः प्रकाशात् अविभक्तम् अपिपरस्परं च विभक्तत्वेन ग्राह्य-ग्राहक-अपेक्षया नाना-रूपं प्रथते। 'ततः-अपि च'–इति बोधात् अपि उन्मग्नम् इव आभाति–यतः बोधः तत्-रूपतया अपि प्रथमानः, ततः समुत्तीर्णः प्रथते यथा प्रतिबिंबेभ्यः दर्पणः।

अनुवाद : उसी प्रकार अर्थात् दर्पण में अंकित हुए नगर के प्रतिबिंब की भान्ति यह विश्व भी सर्वथा मलों की कालिख से हीन एवं परिपूर्ण आनन्दमयता से बृंहित महाप्रकाश के साथ अभिन्न होने पर भी, अपने आप में अगणित प्रमेयों और प्रमाताओं की अपेक्षाओं के अनुसार अनेक रूपों में बंटा हुआ जान पड़ता है। 'ततोऽपि च'–इन मूलकारिका के शब्दों से यह ध्वनित होता है कि यह (विश्व) उस 'बोध' अर्थात् शिवबोध से भी अतिरिक्त रूप में उभरा हुआ जैसा प्रतीत हो रहा है–क्योंकि वह बोध स्वयं विश्वरूप में आभासमान होता हुआ भी, ठीक उसी प्रकार उससे (विश्व से) सर्वथा अतिक्रान्त जान पड़ता है जिस प्रकार प्रतिबिंबों से दर्पण।

मूलग्रन्थ : एवम् अपि विश्व-भाव-प्रतिबिंब-सहिष्णु: प्रकाश: विश्व-भावेभ्य: समुत्तीर्ण: सर्वस्य अनुभवितृतया स्व-स्वरूपेण प्रथते। भाव-गत: अपि देश-काल-आकार-भेद: केवलम् अत्र प्रकाशते दर्पणवत्, न पुन: स्वं रूपं संभिनत्ति। अत एव एक-अनेक-स्वरूप: अपि बोध: एक एव–बौद्ध-अभ्युपगत-चित्रज्ञान-वत्।

अनुवाद : यों भी (अर्थात् निष्पक्ष रूप में मनन करने पर भी) यह तथ्य स्पष्ट है कि विश्वभर के ढेर सारे प्रमेयों के प्रतिबिंबों को स्वरूप में सहन करनेवाला (महा)-प्रकाश, विश्व के सारे प्रमेय-पदार्थों से अतिक्रान्त, और सारे भावों में अनुभावी सत्ता के रूप में प्रथमान है। देश, काल एवं आकारगत भेदभाव, जिसका संबंध केवल प्रमेय पदार्थों के साथ जुड़ा हुआ है, भी इम् महाप्रकाशरूपी दर्पण में, साधारण दर्पण में अंकित प्रतिबिंब की तरह, केवल झलकता रहता है, न कि महाप्रकाश अपने स्वरूप का विभाग या विघटन कर देता है। फलत: वह 'बोध'-अर्थात् अखंड ज्ञानमय महाप्रकाश (परमशिव) (युगपत्) एकाकारता में अनेकाकार होता हुआ भी, मूलत:, बौद्ध-दार्शनिकों के द्वारा स्वीकारे गए चित्रज्ञान की भांति (प्रथमाभासिक दृष्टि में) बिल्कुल एकाकार है।

मूलग्रन्थ : किन्तु दर्पण-प्रकाशात् स-चमत्कारस्य चित्प्रकाशस्य इयान् विशेषो यत् दर्पणे स्वच्छता-मात्र-सनाथे भिन्नं बाह्यम् एव नगर-आदि: प्रतिबिम्बत्वेन अभिमतं भाति, न तु स्वनिर्मितम्। अत: दर्पणे 'अयं हस्ती'–इति य: निश्चय: स भ्रान्त: स्यात्। प्रकाश: पुन: स्व-चमत्कार-सार: स्व-इच्छया स्वात्म-भित्तौ अभेदेन परामृशन् स्व-संवित्-उपादानम् एव विश्वम् आभासयति। विश्वस्य-आभासनम्- एव निर्मातृत्वं भगवत:–इति परामर्श: एव प्रकाशस्य जडात् दर्पण-प्रकाश-आदे: वैलक्षण्य-आपादकं मुख्यं रूपम्–इति। एतत् एव ग्रन्थ-विकृति-विमर्शिन्याम् उक्तम्–

"अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद् विचित्ररचना मुकुरान्तराले।
बोध: पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु।।" इति।

अनुवाद : लेकिन (जड=निश्चेतन) दर्पण-प्रकाश की तुलना में, अहंविमर्श की आनन्दमयता से परिपूर्ण चित्-प्रकाश में महान् अंतर पाया जाता है–

१. दर्पण में, केवल निर्मलता की सहकारिता उपलब्ध होने पर, उससे भिन्न एवं (उसकी परिधि से) बाहर के नगर आदि प्रतिबिंबित होने के योग्य माने जानेवाले पदार्थ प्रतिबिंबित हो जाते हैं, परन्तु वे दर्पण के द्वारा स्वयं रचित नहीं होते हैं। यही कारण है कि दर्पण में जो 'यह हाथी है'–ऐसा निश्चय किया जाता है, उसके कदाचित् भ्रान्तिमूलक होने की संभावना है।

२. लेकिन इसके उल्टे में चित्-प्रकाश 'सचमत्कार-सार' अर्थात् निजी रूपविस्तार की शाश्वतिक एवं स्वयंसिद्ध रसमयता के सार से भरपूर है। इसलिए वह केवल अभेदभाव में विमर्श करता हुआ, अपनी (सर्वस्वतन्त्र) इच्छाशक्ति के द्वारा, स्वरूप की भित्ति पर और निजी संवित् की ही कारण-सामग्री से, विश्व को स्वरूप में ही (प्रतिबिंब रूप में) आभासित कर लेता है। विश्व को (बहिरंग स्थूल रूप में) आभासित करने की (विमर्शमयी) क्रियात्मकता को ही परमेश्वर की निर्मातृता (सर्जन) कहा जाता है। फलतः स्वभाविक स्वरूपविमर्श (इच्छा-ज्ञान- क्रियामय स्पन्दन) ही, प्रकाश (लोकोत्तर महाप्रकाश = परमशिव) का वह मुख्य स्वभाव है जो उसको (जड) दर्पण-प्रकाश से विलक्षण सिद्ध कर देता है। **विवृतिविमर्शिनी** नामक ग्रन्थ में यही बात इस प्रकार समझाई गई है–

'परमात्मा के विमर्श में सारा जगत् उसी प्रकार प्रकाशमान है जिस प्रकार दर्पण में अद्भुत पदार्थों की रचना (प्रतिबिंब रूप में) प्रकाशमान होती है, अंतर इतना है कि चित्-प्रकाश स्वरूपविमर्श की सारवत्ता के बल से स्वयं विश्व का विमर्श करता है, जबकि दर्पण वैसा नहीं कर सकता है।'

मूलग्रन्थ : इत्थं परमेश्वर-अपेक्षया स्व-अङ्ग-निर्मिते भावराशौ न काचित् भेद-भ्रान्तिः, माया-प्रमातृ-अपेक्षया तु यः अयं भेद-अवभासः, एषा अपूर्णत्व-अख्याति-रूपा भ्रान्तिः-पूर्णस्य अद्वय-आत्मनः रूपस्य अख्यानम् अप्रथा, पूर्णं न भासते, भेदः एव प्रतीयते–इति यावत्। तस्मात् निरवद्यः अयं प्रतिबिम्बवादः।

अनुवाद : इस प्रकार स्वरूप (चित्-स्वरूप) के अंशों से ही निर्मित ढ़ेर सारे प्रमेयविषयों में परमेश्वर की अपेक्षा से कहीं कोई भेदभाव या भ्रमात्मकता वर्तमान नहीं है–(विश्वोत्तीर्ण स्तर)।

माया-प्रमाता की अपेक्षा से जो यह पारस्परिक भेदभाव का 'आभास'–अर्थात् मिथ्याज्ञान हो रहा है, यही 'अख्याति'–अर्थात् अपूर्ण ज्ञान के रूपवाली भ्रान्ति है–(विश्वमय स्तर)।

परिपूर्ण और द्वैत से रहित आत्मभाव का अपूर्ण ज्ञान ही भ्रान्ति का रूप है। तात्पर्य यह कि इस भ्रान्ति के कारण आत्मभाव की परिपूर्णता का सही प्रकाशन नहीं होने पाता है। उल्टे में द्वैतभावना और अपूर्णता का ही 'आभास' अर्थात् चतुर्दिक् भेद-भाव का ही दृढ़ निश्चय होता रहता है। अत: प्रतिबिंबवाद में कुछ भी आपत्तिजनक नहीं है।

कारिका-१४

उपक्रमणिका : इत्थं परतत्त्व-स्वरूप-निरूपण-पूर्वं प्रकाश-अभेदेन जगतः षट्त्रिंशत्-तत्त्वात्मकस्य स्थितिं विधाय पुनः अपि एतस्य समुत्पत्ति-क्रमेण प्रति-तत्त्वं स्वरूपं कारिकाभिः प्रतिपादयति–

अनुवादः इस प्रकार (ग्रन्थकार ने) प्रारम्भिक कारिकाओं में परतत्त्व के स्वरूप का निरूपण किया। उपरान्त छत्तीस तत्त्वों के रूपवाले जगत् की, उसी प्रकाशमानता के साथ पूरे अभेदभाव में वर्तमानता के सिद्धान्त की स्थापना की। अब इस जगत् के सृष्टिक्रम के अनुसार प्रत्येक तत्त्व का अलग अलग स्वरूपनिर्धारण अगली कारिकाओं में प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

शिव-शक्ति-सदाशिवताम्-ईश्वर-विद्यामयीं च तत्त्वदशाम्।
शक्तीनां पञ्चानां विभक्तभावेन भासयति॥

अन्वय/पदच्छेद : (परमशिवः) पञ्चानां शक्तीनां विभक्त-भावेन शिव-शक्ति-सदाशिवतां च ईश्वर-विद्यामयीं तत्त्व-दशां भासयति।

अनुवाद : (परमशिव) स्वरूपमयी पांच ईश्वरीय शक्तियों, (चित्, निवृति, इच्छा, ज्ञान, क्रिया), का ही बंटवारा करके क्रमशः शिव-तत्त्व, शक्ति-तत्त्व, सदाशिव-तत्त्व, ईश्वर-तत्त्व और शुद्धविद्या-तत्त्व– इन पांच तत्त्वों तक की तत्त्व-अवस्था को अवभासित कर देता है।

संकेत *: शास्त्रीय परिभाषा में इन पांच तत्त्वों की सृष्टि को 'शुद्धसृष्टि' या 'महासृष्टि' कहते हैं। 'शुद्ध' इसलिए कि यह मायातत्त्व*

से उपरीली, और 'महा' इसलिए कि यह माया-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक विस्तृत अवरसृष्टि की बीजभूमि है। इसका दूसरा शास्त्रीय नाम 'शुद्धाध्वा'–अर्थात् मायातत्त्व से अतिवर्ती शुद्ध-मार्ग भी है। इसमें ऊपर से नीचे तक केवल शुद्ध शिवतत्त्व की व्यापकता मानी जाती है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : यः अयं परमशिवः परतत्त्व-निरूपणया समनन्तर-प्रतिपादित-स्वरूपः (तस्य) स्व-स्वरूप-रूपाः याः शक्तमः चित्-निवृति-इच्छा-ज्ञान-क्रिया-आख्याः पञ्च, अनन्त-शक्ति-व्रात-हेतुभूताः तासाम् एव पञ्चानां शक्तीनां भिन्नत्वेन अतत्-व्यावृत्त्या इमां तत्त्वदशां पञ्च-संख्या-अवच्छिन्नाम् एव भासयति स्वालक्षण्येन प्रकटयति इत्यर्थः।

अनुवाद : जो यह परमशिव है, उसके स्वरूप का निर्धारण प्रारम्भिक कारिकाओं में किया गया। उसकी चित्, निर्वृति, इच्छा, ज्ञान, और क्रिया–ये पांच स्वरूपमयी शक्तियां (बहिरंग जगत् में क्रियाशील) अनन्त शक्तियों के पुञ्ज का मूलकारण हैं। वह (परतत्त्व) इन्हीं पांच शक्तियों को अतद्व्यावृत्ति के रूप में अलगाकर इस शिव-तत्त्व से लेकर शुद्धविद्या-तत्त्व तक के पांच तत्त्वों तक ही सीमित तत्त्वदशा को स्वलक्षण रूप में आभासित कर देता है। यह इस कारिका का अर्थ है।

संकेतः *इस अवतरण में 'अतद्व्यावृत्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय समझना ज़रूरी है। मूलतः यह बौद्ध दार्शनिकों की एक तार्किक परिभाषा है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी पदार्थ की सिद्धि केवल तभी होती है जब 'अतत्' अर्थात् जो उस पदार्थ का स्वरूप न हो उसकी 'व्यावृत्ति' अर्थात् अपोहन हो जाए। उदाहरणार्थ–सामने वर्तमान घड़े की–'यह घड़ा है'–इस रूप में सिद्धि केवल तभी संभव हो सकती है जब इसके साथ संबंधित 'यह घड़ा नहीं है'–इस धारणा का अपोहन हो जाए। प्रस्तुत प्रसंग में इन पांच तत्त्वों में केवल शिवतत्त्व की व्यापकता मानी गई है। इस धारणा को 'अतद्व्यावृत्ति' के द्वारा इस प्रकार सिद्ध किया गया है–'परतत्त्व निजी इच्छाशक्ति के बल से अशिवत्व का अपोहन करके (अर्थात् शुद्ध शिवत्व की व्यापकता में ही) इन पांच तत्त्वों को आभासित करता है।*

मूलग्रन्थ : कीदृशीं ताम्?–इति आह 'शिव' इत्यादि–

शिवः च, शक्तिः च, सदाशिवः च-तेषां भावो यस्याः सा तथा उक्ता ताम्, तथा ईश्वर-विद्ये प्रकृतिः यस्यां सा तथा–इति। अत्र प्रतितत्त्वं स्वरूपं प्रदर्श्यते। तथा हि–

अनुवाद : उस तत्त्वदशा की रूपरेखा कैसी है?–इस विषय में 'शिव' इत्यादि कारिकांश प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

ऐसी तत्त्वदशा जिसमें शिव, शक्ति और सदाशिव–इन तीन तत्त्वों की 'भावरूपता' अर्थात् अंतरंग सत्तारूपता, और ईश्वर एवं शुद्धविद्या–इन दो तत्त्वों की 'प्रकृतिरूपता' अर्थात् अंतरंग सत्ता को (बहिरंग) विश्वरूप में विकसित करने की स्वभावरूपता वर्तमान है। इन पांच तत्त्वों में से हरेक तत्त्व का अलग अलग स्वरूप आगे दिखाया जा रहा है, वह इस प्रकार है–

मूलग्रन्थ : (क) : सर्व-प्रमातॄणाम् अन्तः पूर्ण-अहन्ता-चमत्कारमयं सर्व-तत्त्व-उत्तीर्णं महाप्रकाश-वपुः यत् चैतन्यम् एतत् एव शिव-तत्त्वम्। अत्र तत्त्व-निरूपणम् उपदेश्य-जन-अपेक्षया–इति।

(ख) : तस्य एव भगवतः चित्-रूपस्य आनन्द-रूपा, 'विश्वं भवामि'–इति परामृशतः विश्व-भाव-स्वभाव-मयी संवित् एव किञ्चित्-उच्छूनता-रूपा सर्वभावनां बीज-भूमिः इयं शक्ति-अवस्था। एषा एव विश्व-गत-सृष्टि-संहार-उपचारात् कृशपूर्ण-उभय-रूपा अपि एका एव सर्व-रहस्य-नयेषु गीयते।

(ग) : पुनः अपि अत्र एव विश्व-समुत्पत्ति-बीज-भूमौ महा-शून्यातिशून्य-आख्यायां महेशस्य 'अहम् इदम्'–इति अभेदेन पूर्ण-अहन्ता-मयः यः चमत्कारः ज्ञान-प्राधान्यात् क्रिया-भागस्य अहन्ता-विश्रान्तेः, सा इयं सदाशिव-दशा। अत्र मन्त्रमहेश्वराः प्रमातारः तिष्ठन्ति।

(घ) : तथा अत्र एव 'अहमिदम्'–इति अभेदेन अहन्ता-इदन्तयोः सम-धृत-तुलापुट-न्यायेन यः स्वात्म-चमत्कारः सा एषा तस्य ईश्वर-अवस्था। अत्र अपि मन्त्रेश्वराः मन्त्रेश्वराः प्रमातारः।

(ङ) : अत्र अपि इदन्ता-प्राधान्येन अहन्ता-गुणीकारेण यः 'अहमहम् इदमिदम्' इति एवं-रूपः चमत्कारः, सद्योजात-बालस्य इव शिरः-अङ्गुलि-निर्देश्यः, एतत् एव बोध-सारत्वात् भगवतः शुद्धविद्या-तत्त्वम्।

अत्र विद्येश्वरैः सह सप्त कोटयः तु मन्त्राणां वाचकतया अनुग्रह-स्वभावात् पशून् उद्धर्तुं वाच्यान् मन्त्रमहेश्वर-मन्त्रेश्वरान् प्रत्यवतिष्ठन्ते।

अनुवाद : (क - शिवतत्त्व) सारे प्रमाताओं के अंतर्हृदय में, परिपूर्ण अहंभाव की रसमयता के रूप में व्यापक रहनेवाला, सारे तत्त्वों से अतीत और महाप्रकाशमय चैतन्य ही शिव-तत्त्व है। (वास्तव में तत्त्वातीत होने पर भी) मात्र शिष्यों को उपदेश देने की अपेक्षा से उसका निरूपण तत्त्व रूप में किया गया है।

संकेत *: यहां पर श्रीयोगराज ने परमशिव-अवस्था और शिव-तत्त्व अवस्थाओं में पारस्परिक अंतर स्पष्ट नहीं किया है, जबकि पाठकों के लिए यह समझना अति आवश्यक है। अतः यहां पर समझाने का प्रयास किया जा रहा है–*

परमशिव अवस्था : यह वास्तव में अनाख्य (शब्दों में अवर्णनीय) अवस्था है। अस्तु, यों तो निराकांक्षता, समरसता, सर्वातीतता एवं परिपूर्ण अहंभावमयी अंतर्मुखीन अवस्था को परमशिव-अवस्था कहा जा सकता है। अनुत्तर होने के कारण इसमें न कोई आकांक्षा और न कोई क्षोभ है। यह आत्मभाव की अति उत्कृष्ट तत्त्वातीत या यों कहिए सर्वातीत अवस्था है। ऐसा ही अनुत्तर महाशिव जब अपनी स्वाभाविक इच्छाशक्ति के द्वारा 'मैं विश्व बन जाऊँ'–इस प्रकार की उन्मुखता में बहिर्मुखता की ओर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में स्पन्दायमान होने लगता है तब शिव-तत्त्व कहलाता है। इस अवस्था में रूप-प्रसार का क्षोभ है अतः यह तत्त्वातीत अवस्था के स्थान पर तत्त्वमयी अवस्था है। यही परमशिव और शिव-तत्त्व में भेद है।

(ख) शक्ति-तत्त्व : 'मैं विश्व बन जाऊँ' इस पारमेश्वर विमर्श की उफान में उस चिन्मय भगवान शिव की अपनी ही आनन्दमयी 'संवित्' अर्थात् शक्ति-अंश, (विसर्गकला होने के कारण) संसार के जड़ एव चेतन भावों के रूप में विकसित होना जिसका स्वभाव है, कुछ मात्रा तक उच्छून बनकर अर्थात् फूल कर = सृष्टि के अभिमुख बन कर), सारे जागतिक पदार्थों की बीज-भूमि का रूप धारण कर लेती है। यही शिव की शक्ति-तत्त्व अवस्था है। यद्यपि यह शक्ति संसार भाव में चलते रहने वाले सृष्टि-संहार की औपचारिकता के अनुसार कृश, पूर्ण एवं (एक साथ ही) कृश-पूर्ण इन तीन रूपों में (युगपत् ही) विलसमान है तो भी रहस्य-शास्त्रों में मतैक्य से इसको एक ही (पारमेश्वरी) शक्ति माना गया है।

संकेत : *शिव-तत्त्व और शक्ति-तत्त्व परतत्त्व का ही क्रमशः अंतर्मुखीन एवं बहिर्मुखीन अवस्थायुगल है। बहिर्मुख शिव ही शक्ति, और अंतर्मुख शक्ति ही शिव है। फलतः शिव स्वयं बीज-अवस्था और बीज-भूमिका अवस्था-दोनों है।*

(ग) सदाशिव-तत्त्व : इस तत्त्व के स्तर पर जहां एक ओर 'ज्ञान' अर्थात् पूर्ण अहंभाव की ही प्रधानता है, वहीं दूसरी ओर 'क्रियाभाग' अर्थात् इदंरूप जगत्भाव भी उसी अहंभाव के गर्भ में सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंकुरायमान अवस्था में वर्तमान है। इस कारण से इसी महाशून्यातिशून्य (जिसमें न तो पूर्ण शिवभाव और न पूर्ण जगत्भाव की ही स्थिति होती है) नामवाली, (आगामी) विश्व के उद्भव की बीज-भूमि अर्थात् शक्ति-तत्त्व पर उतरे हुए परमेश्वर के परामर्श में-'अहमिदम्=मैं-भाव के गर्भ में ही अंकुरायमान यह भाव'–ऐसा चमत्कार (पहली बार) उभर आता है। तात्पर्य यह कि परमेश्वर के विमर्श में पहली बार अहंभाव में ही इदंभाव भी अंकुराने लगता है=अहमिदम्। महेश की इस अवस्था का नाम सदाशिव-तत्त्व है। इस तत्त्व की अवस्था पर पहुँचे हुए प्रमाताओं का पारिभाषिक नाम 'मंत्रमहेश्वर' है।

संकेत : *शिव-तत्त्व और शक्ति-तत्त्व दोनों स्तरों पर केवल अहंभाव, जिसमें इदं भी घुल-मिल कर अहं ही बना होता है, की सर्वतोमुखी व्यापकता है। सदाशिव-तत्त्व के स्तर पर अहंभाव की व्यापकता में ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में इदंभाव भी, पहली बार अंकुरित होने लगता है। यही इन तत्त्वों में भेद है। शास्त्रीय विश्लेषण के अनुसार सदाशिव शब्द उस तत्त्व की अभिव्यंजना करता है जहां से 'इदम्'-अर्थात् बहिरंग जगत् का अलग 'सत्'–अर्थात् अलग अस्तित्व आरम्भ हो जाता है।*

(घ) ईश्वर-तत्त्व : इसी प्रकार इस सदाशिवभाव पर उभरे हुए 'अहमिदम्'-इस पार्थक्य से रहित परामर्श में ही, जब ऐसा आत्मिक चमत्कार उभर आता है जिसमें 'अहम् और इदम्'–दोनों तराजू के दो समान वज़न वाले पलड़ों की भांति तुल्यबल बन जाते हैं, तब वह चैतन्य की ईश्वर-तत्त्व अवस्था कहलाती है। ईश्वर-तत्त्व के स्तर पर अवस्थित प्रमाताओं का (पारिभाषिक) नाम मन्त्रेश्वर-प्रमाता है।

संकेत : *सदाशिव-तत्त्व और ईश्वर-तत्त्व में पारस्परिक भेद अति स्पष्ट है। पहले में अंतर्मुखीन अहंभाव के गर्भ में ही इदंभाव के सूक्ष्म सूत्रपात, और दूसरे में अहम् और इदम् में तुल्यबलवत्ता का आभास मिलता है।*

(ङ) शुद्धविद्या-तत्त्व : इस ईश्वर-तत्त्व पर उभरे हुए 'अहम्-इदम्=मैं (शिव), यह (जगत्)' में भी जब इदंभाव की मुख्यता और अहंभाव की गौणता हो जाने के कारण जो 'अहम् अहम्, इदम् इदम्'–अर्थात् मैं-भाव का गौण रूप में और यह-भाव का मुख्यरूप में निर्देश, जिसकी अभिव्यंजना नवजात शिशु के द्वारा सिर या अंगुली के इशारे से भावों की अभिव्यक्ति के समान होती है, उभर आता है, उसको परमेश्वर (आत्ममहेश्वर) की शुद्धविद्या-तत्त्व की अवस्था कहते हैं। शुद्धविद्या इस नामकरण का कारण यह है कि इस तत्त्व में भी अभी शिवबोध की व्यापकता पाई जाती है।

इस तत्त्व में 'विद्येश्वरों'–अर्थात् शुद्धविद्या के अधिपति मंत्र-प्रमाताओं के सहयोग में सात करोड़ मंत्रों की वर्तमानता बताई जाती है। वे मंत्र पर-तत्त्व के वाचक होने के कारण अनुग्रह-स्वभाव वाले हैं। वे पशु-प्रमाताओं का उद्धार करने के लिए अपने वाच्य मंत्रेश्वर और मंत्रमहेश्वर प्रमाताओं के प्रति अभिमुखीभाव की स्थिति में लीन रहते हैं।

संकेत : *ईश्वर-तत्त्व स्तर के 'अहम्-इदम्'–इस परामर्श में अहंभाव एवं इदंभाव की स्थिति तुल्यबल, जबकि शुद्धविद्या-तत्त्व स्तर के परामर्श 'अहम् अहम्-इदम् इदम्' में इदंभाव की ही प्रधानता और अहंभाव की गौणता वर्तमान है। यही इनमें भेद है। स्पष्ट है कि इन पांच शुद्धाध्वा तत्त्वों की स्थिति मायातीत है।*

मूलग्रन्थ : अत्र विद्या-तत्त्वे विद्येश्वर-प्रमातृणां बोध-रूपत्व-अविशेषे अपि या भेद-प्रथा सा 'माया-शक्ति'-कृता–इति आगमेषु गीयते–

'मायोपरि महामाया..........'।

इति, येन तत्रस्थाः मन्त्राः महामाया-अनुप्रवेशात् 'अणवः'–इति उच्यन्ते।

अनुवाद : यद्यपि इस शुद्धविद्या-तत्त्व में अवस्थित प्रमाताओं के आत्मबोध में कोई अन्तर नहीं है, तो भी (सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में) जो पारस्परिक भेद भावना पाई जाती है वह (स्वयं परमेश्वर की) 'महामाया

शक्ति'–अर्थात् स्वरूप का गोपन करने वाली स्वातन्त्र्यशक्ति, के ही द्वारा उत्पादित है। आगमशास्त्रों में यह उद्घोषित किया गया है कि–

'माया-तत्त्व से ऊपरवाले तत्त्वों में (परमेश्वर की) महामाया-शक्ति सक्रिय है'।

यही कारण है कि वहां (शुद्धविद्या-तत्त्व पर) अवस्थित प्रमाताओं के बौद्धिक क्षेत्र में महामाया का अनुप्रवेश (घुसपैठ) होता है जिसके फलस्वरूप उनको अणु-प्रमाता ही माना जाता है–(पति-प्रमाता नहीं)।

मूलग्रन्थ : माया-तत्त्व उपरि शुद्धविद्या-अधः च विज्ञानाकलाः प्रमातारः–आणव-मल-भाजनम्।

एवम् एकम् एव इदं शिव-स्वरूपं तुर्यातीतम् अपि तुर्य-रूपतया तत्त्व-पञ्चकतया गीयते। तस्मात् एकः एव-एषः स्वतन्त्रः कर्ता प्रशस्यते, यस्य 'अहम् इदम्'–इति सदाशिव-ईश्वर-भूमौ यः प्रकाशः, एतत् एव शुद्ध-वेदन-रूपं कारणं, वक्ष्यमाणः माया-तत्त्व-आदि-धरा-अन्तः तत्त्व-सर्गः च कार्यम्। इति एवम् कर्तृ-करण-क्रिया-रूपः एकः एव स्वात्ममहेश्वर-आख्यः पर-प्रमाता विजृम्भते।

अनुवाद : (आगामी) माया-तत्त्व से उपरीले, और शुद्धविद्या-तत्त्व से निचले (बिचले) अवकाश में ऐसे प्रमाता अवस्थित हैं जिनमें केवल एक ही 'आणव-मल' छाया रहता है, और जिनको (शास्त्रीय) परिभाषा में विज्ञानाकल-प्रमाता कहा जाता है।

इस प्रकार यह एकला 'शिवस्वरूप' वास्तव में 'तुर्यातीत-स्वरूप'-अर्थात् पूर्ण अद्वैतमय सर्वातीत सद्भाव, होने पर भी, तुर्य-रूप और उल्लिखित पांच तत्त्वों के रूपवाला (अर्थात् द्वैताद्वैत-स्वरूप भेदाभेद-स्वरूप उद्घोषित किया गया है। (निष्कर्ष–)

इन उल्लिखित कारणों से एक ही स्वतन्त्र कर्ता वर्तमान है। सदाशिव-तत्त्व और ईश्वर-तत्त्व इन दो स्तरों पर उसके परामर्श में जो-'अहमिदम्'–अर्थात् अहंभाव के गर्भ में ही इदंभाव का अंकुराना और पनपना'–इस प्रकार का प्रकाश (ज्ञान) उभरता है, वही शुद्ध संवेदनमय मूल-कारण है, और आगे वर्णन की जानेवाली माया-तत्त्व से लेकर (अन्तिम) पृथ्वी-तत्त्व तक के आयाम वाली तत्त्वों की सृष्टि, उसी का कार्य है। फलतः स्वात्म-महेश्वर नामवाला पर-प्रमाता-'कर्ता, कारण और क्रिया'–तीनों रूपों में स्वयं ही प्रकाशमान है।

कारिका-१५

उपक्रमणिका : मायातत्त्व-स्वरूपम् आह–

अनुवाद : माया-तत्त्व के स्वरूप का परिचय प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसंपादनं महेशस्य।
देवी माया-शक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्॥

अन्वय/पदच्छेद : १. यत् महेशस्य परमं दुर्घट-सम्पादनं स्वातन्त्र्यं (वर्तते सा) देवी माया-शक्तिः,

२. एतत् शिवस्य स्वात्म-आवरणम् (माया-तत्त्वम्) उच्यते।)

अनुवाद : १. महान ईश्वर का जो (विश्वनिर्माणरूपी) दुर्घट कृत्य को संपन्न कर सकनेवाला स्वातन्त्र्य है, वही (माया-तत्त्व से ऊपर शुद्धाध्वा की व्यवस्था देने वाली) देवी माया-शक्ति (भगवती महामाया) है,

२. यही (ईश्वरीय) स्वातन्त्र्य (माया-तत्त्व से नीचे सारे अशुद्धाध्वा को नियंत्रित करने वाला) शिव के अपने ही स्वरूप (जीवभाव) का आवरण बन जाने की दशा में (माया-तत्त्व) कहलाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : परमम् अनन्य-अपेक्षं यत् परमेशितुः स्वातन्त्र्यं विश्व-निर्मातृत्वं सा एव इयं माया-आख्या शक्तिः तस्य शक्तिमतः। मीयते परिच्छिद्यते धरा-अन्तः प्रमातृ-प्रमेय-प्रपञ्चः यया सा माया, विश्व-मोहकतया वा माया।

अनुवाद : परमेश्वर का जो 'परम' अर्थात् (स्वरूप से इतर) और किसी दूसरे पर निर्भर रहने की अपेक्षा से हीन 'स्वातन्त्र्य'–अर्थात् विश्व का निर्माण करने के रूपवाला कर्तृत्व है, वही उस शक्तिमान की 'माया' नामवाली शक्ति है। इस शक्ति को (निम्नलिखित) दो लक्षणों के आधार पर माया कहा जाता है–

(I) माया वह शक्ति है जो पृथ्वी-तत्त्व के अन्त तक विस्तृत प्रमाताओं और प्रमेय-पदार्थों के प्रपञ्च को इयत्ताओं के संकोच में धकेलती रहती है, अथवा–

(II) माया वह शक्ति है जो सारे विश्व को मोहित करती रहती है–(तात्पर्य यह कि वास्तविक आत्म-भाव की विस्मृति उपजा कर अनात्मा (शरीर इत्यादि पर) आत्म-अभिमान रखने की भ्रान्ति को उपजाती रहती है।)

मूलग्रन्थ : एषा देवस्य क्रीडा-शीलस्य सम्बन्धिनी–इति कृत्वा 'देवी', न पुनः ब्रह्मवादिनाम् इव व्यतिरिक्ता काचित् माया उपपद्यते–इति।

अनुवाद : इस माया को 'देवी' कहने का आधार यह है कि यह शक्ति 'देव'–अर्थात् क्रीडाशील परमात्मा की संबन्धिनी 'देवी' अर्थात् सृष्टि, संहार आदि कृत्यों को खिलवाड में संपन्न करने वाली शक्ति है, न कि (शैव मान्यता में) ब्रह्मवादियों की अविद्या जैसी किसी अतिरिक्त माया का अस्तित्व स्वीकारा जाता है।

मूलग्रन्थ : कीदृशं तत् स्वातन्त्र्यम्? 'दुर्घट-सम्पादनम्'–इति–

दुःखेन घटयितुं शक्यम्–इति दुर्घटस्य कार्यस्य प्रमातृ-प्रमेय-रूपस्य सम्पादनं प्राप्ति-प्रापकम्।

अनुवाद : उस स्वातन्त्र्य का रूप कैसा है? इस शंका के समाधान में 'दुर्घट सम्पादनम्'–इस कारिकांश को प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

(शैव संदर्भ में) 'दुर्घट-सम्पादन'–यह पारिभाषिक परामर्श ऐसे ईश्वरीय कृत्य ध्वनित करता है जो किसी दैवी शक्ति के बिना असाध्य हो। 'दुर्घट' अर्थात् दुःखसाध्य 'संपादन' अर्थात् (कल्पनातीत) प्रमाताओं और प्रमेयों के रूपवाले विश्व को (बहिरंग नामरूप में) अवभासित करना। (मात्र ईश्वरीय-शक्ति दुर्घट-सम्पादन की क्षमता से भरित है)।

मूलग्रन्थ : एषा एव माया स्व-इच्छया पशु-भावम् आपन्नस्य शिवस्य 'स्वात्म-आवरणम्'–स्वरूप-गोपन-आख्यम् आणव-आदि-मल-त्रितयम्।

अनुवाद : अपनी ही इच्छा से पशुभूमिका पर उतरे हुए (अर्थात् संसारी जीव बने हुए) शिव के लिए यही माया-देवी आवरण बनी है। इस आवरण का रूप 'स्वरूप-गोपन' अर्थात् अपने वास्तविक रूप का दुराव है, और आणव इत्यादि तीन मल इसकी पहचान हैं।

कारिका-१६

सूचना : प्रस्तुत कारिका के संबन्ध में निम्नलिखित तालिका को ध्यान में रखें–

	बिंब				
	परमशिव ______ स्वातन्त्र्यशक्ति				
स्वातन्त्र्य शक्ति के पांच मुख	चित्	आनन्द (निवृति)	इच्छा	ज्ञान	क्रिया
शक्तियों की पहचान	सर्वज्ञता	सर्वकर्तृता	पूर्णता	नित्यता	सर्वव्यापकता
	प्रतिबिंब				
	पुरुषतत्त्व(जीव) ______ पारतन्त्र्य मायातत्त्व				
मायातत्त्व के पांच मुख	अविद्या/विद्या	कला	राग	काल	नियति
इनकी पहचान	अल्पज्ञता	अल्पकर्तृता	अपूर्णता	अनित्यता	अव्यापकता

उपक्रमणिका : वक्ष्यमाणे च प्राधानिके सुख-आदि-रूपे भिन्न भोग्ये यत् भोक्तृ-रूपं पुंस्तत्त्वं तत्-स्वरूपं आह–

अनुवाद : आगे वर्णन किए जानेवाले 'प्राधानिक'-अर्थात् मूलप्रकृति से संबंधित, सुख इत्यादि रूपोंवाले और स्वरूप से भिन्न पदार्थों का उपभोक्ता 'पुरुष क्षेत्रज्ञ' है। उसी पुरुषतत्त्व का स्वरूपनिरूपण कर रहा है–

मूलकारिका

मायापरिग्रहवशात् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति।
कालकलानियतिवशाद्रागाविद्यावशेन संबद्धः।।

अन्वय/पदच्छेद : बोधः माया-परिग्रह-वशात् मलिनः पुमान् पशुः भवति, (स) काल, कला, नियति-वशात् (तथा) राग-अविद्या-वशेन सम्बद्धः (वर्तते)।

अनुवाद : 'बोध' अर्थात् चित्-प्रकाश माया को स्वीकारने की विवशता के फलस्वरूप, तीनों मलों के द्वारा अभिभूत होकर, 'पुरुषतत्त्व' बन गया है और पशु कहलाता है, यह काल, कला, नियति, राग और अविद्या इन तत्त्वों की वशिता में जकड़बंद रहता है।

*(**संकेत** : इस कारिका के उत्तरार्ध में वर्णित काल, कला इत्यादि पांच तत्त्वों के साथ पूर्वार्ध में संकेतित माया तत्त्व को मिलाकर छः परतों वाले अंतरंग कञ्चुक की कल्पना की गई है, जो कि जीव की वास्तविक आत्मचेतना पर छादन बनकर प्रतिसमय चिपका रहता है)*

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : माया-स्वीकार-पारतन्त्र्यात् सर्वज्ञत्व-सर्व-कर्तृत्व-मयः अपि बोधः सर्वज्ञत्व-आदि-गुण-अपहस्तनेन अख्याति-रूपम् आणवं मलम् आपन्नः, येन घटाकाशवत् पूर्ण-स्वरूपात् चित्-आकाशात् अवच्छेद्य परिमितीकृतः सन्-तत् एव 'पुंस्तत्त्वम्' उच्यते। अतः मायायाः पाल्यः पाश्यः च इति पशुः आणव-मायीय-कार्म-मल-स्वभावानां पाशानां भाजनम्।

अनुवाद : 'बोध'-अर्थात् परमशिवमय असीम ज्ञानसागर, मूलतः सर्वज्ञता एवं सर्वकर्तृता जैसी महान ईश्वरीय शक्तियों से ओत-प्रोत है। वह (स्वेच्छा से ही) माया को (स्वरूप आवरण के रूप में) अंगीकार करने से परवशता का भागी बन गया है। फलस्वरूप सर्वज्ञता इत्यादि ईश्वरीय धर्मों का अपचय हो जाने से उसके स्वरूप पर (स्वात्मविस्मृति रूप) आणव-मल छा गया है। ऐसी परिस्थिति ने उसको परिपूर्ण स्वरूप वाले चिदाकाश से विलगाकर (अनंत नभोमंडल से अलगाए हुए) 'घटाकाश'–अर्थात् घडे के अन्दरवाले आकाश की भांति, परिमित बना डाला है। उसी (स्वरूप-विच्छेद एवं स्वरूप-संकोच के कारण शक्ति-दरिद्र बने हुए) शिव को पुरुष-तत्त्व (जीव) कहते हैं। माया का ही पालतू होने, और मायीय फंदों में ही जकड़ा हुआ होने के कारण 'पशु' भी कहलाता है। आणव, मायीय, कार्म–इन तीन मलों के स्वभाव वाले पाश=फंदे हैं जिनमें वह बुरी तरह जकड़बंद है।

मूलग्रन्थ : अन्यत् च 'कालकला'-इति वक्ष्यमाण-स्वरूपैः कालादिभिः ओत-प्रोत-तया सम्यक् बद्धः दृब्धः–इति एवं तत्त्व-षट्क-वेष्टितं पुंस्तत्त्वम्।

अनुवाद : और यह भी है कि 'काल-कला' इत्यादि श्लोकार्ध के अनुसार 'काल' इत्यादि (कञ्चुकरूपी) तत्त्व, जिनका स्वरूप-विश्लेषण आगे किया जा रहा है, उसके अंतस् के साथ घुल-मिल कर इस प्रकार चिपके रहते हैं कि उनसे पिंड छुड़ाना अति कष्ट-साध्य है। इस प्रकार इन छः तत्त्वों के बेठन से आमूल-चूल लिपटा हुआ शिव ही 'पुरुष-तत्त्व' है।

संकेत *: तालिका में विद्या, कला, राग, काल, नियति*

(I) *इस प्रकार से इन पांच तत्त्वों को प्रचलित शास्त्रीय क्रम के अनुसार रखा गया है। कारिका में भगवान अभिनव को छंद के अनुरोध से इनके क्रम में तनिक परिवर्तन करना पड़ा हो इससे किसी मतिभ्रम में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है।*

(II) *कारिका में वर्णित अविद्या-तत्त्व पूरे ज्ञानाभाव की जैसी अवस्था का द्योतक नहीं, प्रत्युत विकल अथवा अधूरे ज्ञान की अवस्था का द्योतक नहीं, प्रत्युत विकल अथवा अधूरे ज्ञान की अवस्था का द्योतक है। शैव मीमांसा में पूरे ज्ञानाभाव की जैसी किसी अवस्था के लिए कोई स्थान नहीं है। मतज्ञान, भ्रांतिज्ञान, शिशुज्ञान इत्यादि ज्ञान की अवस्थाएं भी अपने अपने स्थान पर संवदेनमय ही हैं। वास्तव में अविद्या, अख्याति, अज्ञान इत्यादि शब्दों में निषेधार्थक 'अ=नञ्' का प्रयोग 'अभाव' के अर्थ पर नहीं, प्रत्युत 'अल्प' के अर्थ पर किया गया है। अतः अविद्या शब्द भी संकुचित ज्ञातृता का द्योतक है। संक्षेप में शिवचेतना 'विद्या' अर्थात् त्रिकालाबाधित, सहज विद्यामयी, नित्य स्मृतिज्ञान की अवस्था है। अतः पहली विद्या और दूसरी अविद्या या अविद्यामयी विद्या कहलाती है।*

(III) *कारिका में वर्णित राग-तत्त्व से सामान्य रूप में सारे पदार्थों के प्रति 'मुझे सब कुछ चाहिए' ऐसे रूपवाले मानसिक झुकाव का अभिप्राय है। ऐसा राग पशु चेतना पर छाया हुआ अंतरंग आवरण है और राग-तत्त्व कहलाता है। दूसरे प्रकार का राग बुद्धि धर्म भी है। जिसमें सारी इतर लोलुपताओं का अपोहन करके किसी एक ही विशेष कामिनी जैसे पदार्थ के प्रति-'मुझे इस कामिनी के साथ गहरा लगाव है'। ऐसी अभिव्यक्तियों के द्वारा प्रकट किए जाने वाले अभिष्वंग की प्रबलता पाई जाती है। इस प्रकार के राग को राग-तत्त्व नहीं प्रत्युत केवल 'राग' कहते हैं। परमेश्वर के प्रति भी भक्त के मानस में राग होता है। वह कौन-सा राग है–इस परिप्रेक्ष्य में अपने स्थान पर चर्चा होगी।*

(IV) *साधारण रूप में 'पुरुष-तत्त्व' से संसार के किसी भी जन्म-मरणशील शरीरधारी का अभिप्राय है। 'पुरि शेते-इति पुरुषः'-इस विश्लेषण के अनुसार किसी भी आकार-प्रकार वाले शरीर में अवस्थित रहनेवाला संकुचित चेतन अंश ही पुरुष-तत्त्व है।*

कारिका-१७

उपक्रमणिका : काल-आदीनां तत्त्वानां च एतत्-वेष्टनक्रमेण स्वरूपम् आह–

अनुवाद : पुरुष पर (कंचुक के रूप में) छाए रहने के क्रम के अनुसार इन 'काल'-इत्यादि तत्त्वों का स्वरूपनिर्धारण कर रहा है–

मूलकारिका

अधुनैव किञ्चिदेवेदमेव सर्वात्मनैव जानामि।
मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम्॥

अन्वय/पदच्छेद : 'अधुना एव, किञ्चित् एव, इदम् एव, सर्वात्मना, जानामि'-इदं माया-सहितं कञ्चुक-षट्कम् अणोः अन्तरङ्गम् उक्तम्।

अनुवाद :

(१) केवल इसी समय (जानता हूँ)–काल-तत्त्व,

(२) कुछ कुछ ही (जानने की क्रिया करता हूँ)–कला-तत्त्व,

(३) केवल यही (जानता हूँ)–नियति-तत्त्व,

(४) सब कुछ (अपेक्षणीय जानता हूँ)–राग-तत्त्व, और

(५) (केवल सामने वाले पदार्थ को) जानता हूँ–अविद्या-तत्त्व–

इन पांच तत्त्वों के साथ (मूलभूत) माया-तत्त्व को मिलाकर छः परतों वाला लबादा 'कंचुकषट्क' कहलाता है, यह लबादा पशु (पुरुषत्त्व) का अंतरंग-आवरण माना जाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : इत्थं स्वतन्त्रः अपि बोधः स्वमायया यथा अणुत्वं प्राप्तः तथा एव तदीये ज्ञान-शक्ती सङ्कुचिते अस्य पशु-रूपस्य विद्या-कले-इति उच्येते। यथा राज्ञः अपहृत-सर्वस्वस्य अनुकम्पया जीवन-अर्थं किञ्चित् धनं स्तोकं दीयते, तथा एव अणुत्वम् आपन्नस्य बोधस्य अपहृत-सर्वज्ञत्व-आदेः

किञ्चित्कर्तृता-परमार्थ-ज्ञत्वम् उपोद्वल्यते–इति ज्ञत्वस्य-एव प्राधान्यात् काल-आदीनां जानातिना अन्वयः दर्शितः।

अनुवाद : इस प्रकार 'बोध'–अर्थात् परशिवमय ज्ञानभंडार, स्वतन्त्र होने पर भी जिस प्रकार (अपनी ही) माया-शक्ति के प्रभाव से 'अणुत्व'–अर्थात् पशुभाव (जीवभाव) पर अवतीर्ण हुआ है, उसी प्रकार उसकी (असंकुचित) ज्ञान एवं क्रिया शक्तियां भी संकुचित बनकर–उसके पशुरूप के अनुरूप बनकर–क्रमशः विद्या-तत्त्व और कला-तत्त्व नामों से जानी जाती हैं। उदाहरणार्थ–जिस प्रकार किसी ऐसे व्यक्ति को जिसकी सारी संपत्ति राजा ने (किसी कारणवश) जब्त की हो, अनुकंपा के आधार पर, थोड़ी सी धनराशि जीवनवृत्ति के रूप में प्रदान की जाती है, उसी प्रकार पशुभाव पर लुड़के हुए और छिनी गई सर्वज्ञता आदि (ईश्वरीय) शक्तियों वाले जीवरूपी शिव में भी ज्ञान की उतनी ही परिमित मात्रा का उन्नयन किया जाता है जितनी से वह संकुचित परिवेश में कुछ कुछ ही कर सके। इसलिए, मूलतः ज्ञातृता की ही प्रधानता होने के कारण (कारिका में 'अधुना एव, इदम् एव'–इत्यादि शब्दों के द्वारा वाच्य) 'काल' इत्यादि प्रत्येक तत्त्व का, आगे के 'जानामि' इस ज्ञातृता के भाव को अभिव्यक्त करनेवाले क्रियापद के साथ, जोड़ा गया है।

***संकेत** : शैवमान्यता में क्रिया ज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, प्रत्युत ज्ञान की परिणति ही क्रिया होती है। इतना ही नहीं बल्कि 'जानना' भी स्वतः क्रिया ही है। फलतः क्रियाशक्ति का परिमित बनना, वास्तव में, ज्ञानशक्ति का ही संकुचित होना है। इस कारण से व्याख्याकार ने टीका में 'किञ्चित्कर्तृता परमार्थज्ञत्वम्'-इस समस्तपद का प्रयोग करके इसी मान्यता की ओर संकेत किया है*

मूलग्रन्थ : इदं कञ्चुक-षट्कम् उक्त-रूपया मायया युक्तम् अणोः आणव-मल-अपहस्तित-सर्वज्ञत्व-आदेः पुंसः स्वरूप-आच्छादकं- सुवर्णस्य कालिका इव–अन्तरङ्गं निजं कथितम्।

अनुवाद : पूर्वोक्त (मौलिक) माया-तत्त्व को जोड़ कर इन छः तत्त्वों वाले माया-परिवार का (शास्त्रीय) नाम कंचुकषट्क अर्थात् छः परतों वाला कवच है। आणवमल के कुप्रभाव से पुरुष की, वास्तविक, सर्वज्ञता आदि शक्तियों में पहले ही घटाव हुआ होता है, उस पर भी यह (कंचुकषट्क) उसके स्वरूप को ठीक उसी प्रकार आछन्न कर देता है

जिस प्रकार सुवर्ण के असली रंग को कालिख। शास्त्रों में इस कंचुकषट्क को अंतरंग-आवरण की संज्ञा दी गई है।

मूलग्रन्थ : किं रूपम्? इति आह 'अधुना' इत्यादि–

१. 'अधुना एव जानामि'–इति स अणुः वर्तमानतया, 'इदं प्राक् मया अज्ञातं, जानामि, ज्ञास्यामि–इति,' एवम् अपि 'कृतं, करोमि, करिष्ये वा'–इति ज्ञान-क्रिया-स्वरूपेण भावान् अपि तथा कलयन् अवच्छिनत्ति च–इति एष अस्य 'कालः'।

अनुवाद : (कंचुक का) रूप कैसा है? इस शंका का समाधान करने के हेतु 'अधुना'-इत्यादि कारिकाभाग को प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

१. (काल-तत्त्व)–(किसी पदार्थ को पहली बार देखने पर) वह अणु 'इसी समय जानता हूँ'–ऐसा वर्तमानकालिक प्रयोग करता है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि–यह पदार्थ भूतकाल में मुझे अज्ञात था, वर्तमान में जानता हूँ और भविष्य में जान पाऊँगा। इसी प्रकार–'अमुक कार्य मैंने भूतकाल में किया, वर्तमान में करता हूँ और भविष्य में करूँगा'–इस तरह (संकुचित) ज्ञान और क्रिया के विस्तार के अनुसार प्रमेयविषयों को भी तद्रूप ही समझता हुआ सामयिक परिधियों में सीमित करता रहता है। यह उस पर चिपका हुआ 'काल-तत्त्व' है।

२. मूलग्रन्थ : (कला-तत्त्व) : तथा 'किञ्चित् एव'–इति अवच्छिन्नम् एव करोति, सर्वं कर्तुं न अलम्, घट-मात्र-करणाय प्रभवति, न पट-आदौ–इति एतत् अस्य अणोः 'कला-तत्त्वम्'।

२. अनुवाद : (कला-तत्त्व): उसी प्रकार 'कुछ ही करना जानता हूँ'–ऐसी भावना से कुछ इने-गिने ही कार्य संपन्न कर लेता है, सब कुछ करने की क्षमता से वंचित है अर्थात्–'मात्र घड़े का निर्माण कर सकता है, कपड़े का नहीं–ऐसे ऐसे रूपों में अणु के अंतस् में (दूसरा) कला-तत्त्व छाया रहता है।

३. मूलग्रन्थ : (नियति-तत्त्व) : 'इदम् एव (जानामि)'–इति नियतात् कारणात् नियतं कार्यं यत् अर्थयते यथा–'वह्नेः एव धूमः, अश्वमेध-आदि-कर्मणः एव स्वर्ग-आदि-फलम्, न सर्वस्मात्'–इति एव-नियमेन स्व-सङ्कल्प-कृत-कर्म-प्रबन्ध-समुत्थ-पुण्य-अपुण्यैः आत्मा नियम्यते येन तत् अस्य 'नियति-तत्त्वम्'।

३. अनुवाद : (नियति-तत्त्व): 'मैं केवल यही (जानता हूँ)' ऐसी अवधारणा से (पशु) नियत कारणों से नियत कार्यों के सिद्ध होने की अपेक्षा करता रहता है। उदाहरणार्थ–'अग्नि से ही धुआं उठता है, अश्वमेध इत्यादि आयोजनों का ही फल स्वर्गप्राप्ति होता है, सारे आयोजनों से नहीं' इत्यादि'। इस प्रकार नियत रूप में स्वयं कपोल- कल्पित कर्मकांडीय अनुष्ठानों से निकलने वाले अच्छे या बुरे फलों के साथ अपने आप को नियत करता रहता है। ऐसी प्रवृत्ति के रूप में उस पर नियति-तत्त्व की वशिता छाई रहती है।

मूलग्रन्थ : (राग-तत्त्व)–'तथा सर्वात्मना (जानामि)'–इति या इयम् अपूर्णम्-मन्यता-'सर्वम् इदं मम उपयुज्यते, भूयासं, मा कदाचित् न भूवम्'–इति एतत् पशोः राग-तत्त्वम्।

"बुद्धि-धर्मः यः रागः स एकत्र कुत्र अपि कान्ता-लक्षणे अर्थे अन्यत् अपोह्य–'अत्र मे रागः'–इति अभिष्वङ्गमात्रम्, न सर्व-आकाङ्क्षा-मयस्य राग-तत्त्वस्य समानः"।

४. अनुवाद (राग-तत्त्व) : इसी प्रकार-'सारे पदार्थों को (अपने लिए) उपयोगी समझता हूँ'–यह जो पशु के अंदर निजी अधूरेपन की भावना–'ये सारे पदार्थ केवल मेरे लिए उपयोगी हैं, मैं तो बना रहूँ, ऐसा न हो कि मैं कभी न बना रहूँ'–ऐसे ऐसे रूपों में अभिव्यक्त होती रहती है, वही उसके अंतस पर चिपका हुआ 'राग-तत्त्व' है।

"दूसरे प्रकार का राग, जो कि बुद्धि का धर्म है, सारी इतर कामनाओं का अपोहन करके किसी एक ही–'सुन्दर कामिनी' जैसे भाव के प्रति,–'इसके प्रति मेरे मन में अनुराग है'–ऐसी अभिव्यक्तियों का विषय बनने वाले 'अभिष्वङ्ग' अर्थात् गहरे लगाव का नाम है। इसके विपरीत (सामान्य रूप में) सारे पदार्थों को प्राप्त करने की आकांक्षा (लालसा) 'राग-तत्त्व' कहलाता है, अतः इन दोनों में पारस्परिक समानता नहीं है।

५. मूलग्रन्थ : (विद्या/अविद्या-तत्त्व) : तथा 'जानामि'–इति 'किञ्चित् एव पुरोवर्ति घट-आदिकं, न पुनः दूर-व्यवहितं वस्तु'–इति विद्या-तत्त्वम्।

शुद्धविद्या-अपेक्षया कारिकायाम् 'अविद्या' इति कथितम्, न पुनः वेदन-अभावात्।

'मायासहितम्'-भेद-प्रथा-प्रयुक्तम् एतत् 'कंचुकषट्कम्' पशोः–इति।

५. अनुवाद (विद्या/अविद्या-तत्त्व) : इसी प्रकार 'जानता हूँ'–इस सामान्य निर्देश का अभिप्राय यह है कि-'मैं कुछ ही, सामने वर्तमान, घट इत्यादि पदार्थ को तो जानता हूँ, परन्तु दूरवर्ती या किसी आड के पीछे वर्तमान पदार्थ को (नहीं जानता हूँ)'। इस प्रकार का विकल ज्ञान 'विद्या/अविद्या तत्त्व' कहलाता है– (ऐसा ज्ञान जो विकल हो 'विद्या' होने पर भी 'अविद्या'-अर्थात् अधूरी विद्या ही कहा जा सकता है, अतः 'विद्या/अविद्या-तत्त्व' यह नाम सर्वथा औचित्यपूर्ण है)

(१६वीं कारिका के -'रागाविद्यावशेन'-इस भाग में) ज्ञातृता के लिए 'अविद्या' शब्द का प्रयोग केवल 'शुद्ध विद्या' की अपेक्षा से किया गया है, संवेदन के एकदम पूरे अभाव की दृष्टि से नहीं।

'मायासाहितम्'–इस कारिकांश का अभिप्राय यह है कि भेदज्ञान के आकार वाली माया ही पशु पर (न कि ज्ञानी पर) इस कंचुकषट्क का प्रयोग करती रहती है।

कारिका-१८

उपक्रमणिका : कथम् एतस्य कञ्चुकषट्कस्य अणुं प्रति अन्तरङ्गत्वम्? इत्याह–

अनुवाद : 'अणु' अर्थात् जीवात्मा पर चिपके हुए इस कंचुकषट्क की अंतरंगता किस प्रकार की है? इसका समाधान प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

कम्बुकमिव तण्डुलकणविनिविष्टं भिन्नमप्यभिदा।
भजते तत्तु विशुद्धिं शिवमार्गौन्मुख्ययोगेन॥

अन्वय/पदच्छेद : तत् तण्डुल-कण-विनिविष्टं कम्बुकम् इव भिन्नम् अपि अभिदा (भासते), तु (तत्) शिवमार्ग-औन्मुख्य-योगेन विशुद्धिं भजते।

अनुवाद : वह (कञ्चुकषट्क) चावल के दाने पर चिपके हुए 'कम्बुक' अर्थात् बारीक छिलके=भुसी की भांति (चावल के दाने से) भिन्न होता हुआ भी अभिन्न ही (भासमान होता है), परन्तु शैवशास्त्रों में

समझाए गए उपायक्रम की ओर गहरी तन्मयता हो जाने से वह स्वयं ही शुद्ध हो जाता है अर्थात् हट जाता है।

संकेत *: पहले समझाया गया आणव-मल (आत्मविस्मरण) अंतरात्मा पर चिपका हुआ पहला पर-कञ्चुक है। प्रस्तुत कारिका में वर्णित कञ्चुकषट्क दूसरा सूक्ष्म-कञ्चुक है। ये दोनों साक्षात् आत्मा पर छाए रहने के कारण क्रमशः आंतर-कञ्चुक और अंतरंग-कंचुक कहे जाते हैं।*

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : वास्तवेन वृत्तेन 'भिन्नमपि कञ्चुकं यथा अभिदा तण्डुलकणविनिविष्टम्'-इत्यभेदेन तण्डुलान्तश्च ऊतं भासते, निपुणैरपि प्रक्षिप्यमाणं तण्डुलस्य अन्तरङ्गत्वान्न पृथग् अवतिष्ठते, तथा एतन्मायादिकञ्चुकम् अणोस्तण्डुलस्थानीयस्य अन्तरङ्गत्वात् कम्बुकस्थानीयं व्यतिरिक्तम् अव्यतिरिक्ततया पूर्णसंवित्स्वरूपम् आच्छाद्य स्थितम्-इति शेषः।

अनुवाद : वास्तविक परिस्थिति इस प्रकार है कि कञ्चुकषट्क आत्मा से निरा भिन्न है। वैसा होने पर भी वह आत्मा पर अभिन्न रूप में ठीक उसी प्रकार लिपटा रहता है जिस प्रकार चावल के दाने पर भूसी का छिलका। कहने का अभिप्राय यह कि भूसी का छिलका चावल के दाने पर इस प्रकार अपृथक् रूप में लिपटा होता है कि देखने पर दाने के अन्तरतम तक भी धंसा हुआ जान पड़ता है। प्रवीण पुरुषों के द्वारा बार बार छितराए जाने पर भी, चावल का अंतरंग छिलका होने के कारण, उससे अलग नहीं हो जाता है। उसी प्रकार यह माया आदि छः तत्त्वों का बना हुआ कञ्चुक, चावल के दाने के स्थानापन्न जीवात्मा का अंतरंग होने के कारण **'कम्बुक'** अर्थात् भूसी का स्थानापन्न है। यह स्वतः अलग होने पर भी उस जीवात्मा के पूरे संवित्-स्वरूप को इस प्रकार ढांप लेता है कि उसका अभिन्न अंग जैसा ही प्रतीत होता है।

मूलग्रन्थ : एवम् अपि दुर्निवारं कथं तद् विलीयते?-इत्याह 'भजते' इत्यादि। तुः विशेषे न अन्य अत्र उपायः।

शिवस्य स्वात्ममहेश्वरस्य योऽसौ मार्गः-'परमाद्वयचिदानन्दैकघनोऽस्मि, ममैवेदं विश्वं स्वशक्तिविजृम्भणमात्रम्'-इति स्वात्मस्वरूपविभूतिप्रत्यवमर्शरूपा सरणिः, तदौन्मुख्यं दाढ्येन तन्निभालनपरत्वं, योगः पूर्णरूपतया अणोः स्वात्मनि स्वस्वरूपत्वेन सम्बन्धः, तेन तद् उक्तस्वरूपं कञ्चुकं विशेषेण शुद्धिं भजते-स्वयमेव निःशेषेण विलयं भजते सेवते।

अनुवाद : इस विश्लेषण के अनुसार भी ऐसा लगता है कि कञ्चुकषट्क का निवारण नहीं हो सकता, अतः (प्रश्न यह है कि) उसका विलय कैसे हो सकेगा? इसका समाधान 'भजते' इत्यादि (कारिका भाग में) प्रस्तुत कर रहा है। (कारिका में प्रयुक्त) 'तु' शब्द विशेषवाची है अर्थात् (यहां पर बताए जाने वाले उपाय के अतिरिक्त) और कोई उपाय उपयोगी नहीं है इस तथ्य को ध्वनित कर रहा है।

'मैं सर्वोत्कृष्ट अद्वैत भूमिका अर्थात् चिदानन्द भाव से ओतप्रोत हूँ, यह समूचा विश्व मात्र मेरी ही शक्ति की जंभाई है'–इस प्रकार से अपने ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप की विभूति का निरन्तर अनुसन्धान करते रहने का ढर्रा ही 'शिवमार्ग' अर्थात् शैवशास्त्रों में समझाई गई सरणी है। उसी की दिशा में उन्मुख बने रहना अर्थात् आत्मिक दृढ़ता से उसको निभालने की दिशा में डटे रहना ही ऐसा योग है जिससे अणु को अपने अंतस् में ही अपने वास्तविक स्वरूप के साथ संबन्ध हो जाता है। वैसा संबन्ध हो जाने से वह उल्लिखित रूपवाला कञ्चुक विशेष रूप में शुद्ध हो जाता है अर्थात् संस्कारों के सहित गल जाता है।

मूलग्रन्थ : एतद् उक्तं स्यात्–यदा परमेश्वरशक्तिपात-विशुद्धहृदयः पशुर्भवति तदा–अहम् एव महेश्वरः' इति स्वात्मज्ञान-अविर्भावात् स्वयमेव पशुत्वापादकं कञ्चुकावरणं विलीयते। न पुनरत्र स्वात्मज्ञानं विहाय मायीयं किञ्चिन् नियतिशक्तिसमुत्थं कर्म प्रगल्भत इति।

अनुवाद : यह कहा जाए कि जब पशु का हृदय परमेश्वर के शक्तिपात से निर्मल हो जाता है तब–'मैं ही महामहिमशाली ईश्वर हूँ' इस प्रकार की स्वात्मप्रत्यभिज्ञा का अविर्भाव हो जाने के फलस्वरूप वह पशुभाव को जन्म देनेवाला कञ्चुकरूपी आवरण (स्वयं ही) विलीन हो जाता है। इस दिशा में आत्मज्ञान को छोड़ और कोई नियति शक्ति के द्वारा निर्धारित मायीय कर्म किसी काम का नहीं है।

कारिका-१९

उपक्रमणिका : 'एवंविधस्य अणोर् भोक्तुश्च भोग्येन भाव्यम्,-इति प्राधानिकं तत्त्वसर्गम् आह–

अनुवाद : (स्वाभाविक बात है कि-) 'ऐसी परिस्थिति में पड़े हुए अणु, जो कि (अणुभूमिका पर) उपभोक्ता है, के लिए कोई अनुकूल भोग्य विश्व होना चाहिए'-इस विचार से अब आगे 'प्राधानिक' अर्थात् मूलप्रकृति से विकास में आनेवाली तत्त्वसृष्टि का वर्णन कर रहा है–

मूलकारिका

सुखदुःखमोहमात्रं निश्चयसंङ्कल्पनाभिमानाच्च।
प्रकृतिरथान्तःकरणं बुद्धिमनोऽहंकृतिः क्रमशः॥

अन्वय/पदच्छेद : सुख-दुःख-मोह-मात्रं प्रकृतिः, अथ च निश्चय-सङ्कल्प-अभिमानात् **क्रमशः बुद्धिः** मनः अहंकृतिः अन्तःकरणं (उच्यते)।

अनुवाद : (सत्त्वमय) सुख, (रजोमय) दुःख और (तमोमय) मोह–इन तीनों की समता अवस्था को प्रकृति और, इनके अतिरिक्त निश्चय, संकल्प और अभिमान–इन तीन क्रियाओं को सम्पन्न करने के कारण क्रमशः बुद्धि, मन और अहंकार–इन तीन को अंतःकरण कहते हैं।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : सत्त्वरजस्तमसां यत् सुख-दुःख-मोहात्मकं सामान्य-रूपं, अङ्गाङ्गिभावो यत्र नोपलभ्यते, सा मूलकारणं प्रकृतिः।

अनुवाद : सत्त्व, रजस् और तमस्–इन तीन गुणों की जो क्रमशः सुख, दुःख और मोहमयी 'साम्य की अवस्था' अर्थात् जिसमें (किसी एक की भी मात्रा की घटती या बढ़ती के कारण) पारस्परिक अंगांगिभाव न पाया जाता हो, है वह (प्राधानिक सर्ग का) मूलकारण बनी हुई प्रकृति है।

मूलग्रन्थ : प्रकृतेरनन्तरं कार्यरूपम् अंतःकरणम् आह 'निश्चय' इत्यादि–निश्चयः=इदम् एतादृक्, सङ्कल्पनं=मननम्, अभिमानो=ममता-इति क्रमेण 'बुद्धि, मनोऽहङ्कारः'-इत्येवंरूपं त्रितयं 'अन्तःकरणम्' अङ्गाङ्गिभावेन गुणानां कार्यभूतेन्द्रियाद्यपेक्षया च कारणम् इति।

अनुवाद : प्रकृति-तत्त्व के उपरांत 'निश्चय' इत्यादि कारिकाभाग में इसके (मूलकारण बनी हुई प्रकृति के) कार्यरूप तीन अंतःकरणों का वर्णन कर रहा है–

'निश्चय=अमुक पदार्थ ऐसा है, संकल्पन=मनन, अभिमान=पदार्थों के प्रति ममत्व'–इस क्रम के अनुसार 'बुद्धि, मन और अहंकार'–ये तीन अन्तःकरण मूल तीन गुणों के पारस्परिक अंगांगिभाव पर आधारित हैं। ये भी अपने कार्यभूत इन्द्रियों (स्थूल कायिक इन्द्रियों) की अपेक्षा (सूक्ष्म होने कारण) कारणपदवी पर अवस्थित हैं।

कारिका-२०

उपक्रमणिका : बाह्यकरणम् आह–

अनुवाद : बाहरी (स्थूल) इन्द्रियों का वर्णन कर रहा है–

मूलकारिका

श्रोत्रं त्वगक्षि रसना घ्राणं बुद्धीन्द्रियाणि शब्दादौ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थं कर्मेन्द्रियाणि पुनः।।

अन्वय/पदच्छेद : शब्दादौ (विषये) श्रोत्रं, त्वक्, अक्षि, रसना, घ्राणं, बुद्धि-इन्द्रियाणि, पुनः वाक्, पाणिः, पादः, पायुः, उपस्थं कर्म-इन्द्रियाणि (सन्ति)

अनुवाद : शब्द इत्यादि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) विषयों का ग्रहण करनेवाली क्रमशः कान, त्वचा, आंख, रसना (जीभ आस्वाद करने के समय), और नाक ये पांच ज्ञानेन्द्रियां और, वाणी (जिह्वा बोलने के समय), हाथ, पैर, पायु और उपस्थ (आनन्देन्द्रिय) पांच कर्मेन्द्रियां हैं।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : वक्ष्यमाणे शब्दादौ विषये ज्ञानप्रधानानि श्रोत्रादीनि पञ्च इन्द्रियाणि, क्रियाप्रधानानि च इन्द्रियाणि पञ्च वागादीनि।

अनुवाद : आगे वर्णन किए जानेवाले शब्द इत्यादि पांच विषयों का ग्रहण करने के लिए कान इत्यादि पांच ज्ञानप्रधान इन्द्रियां और, वाणी इत्यादि पांच क्रियाप्रधान इन्द्रियां हैं।

मूलग्रन्थ : वचन-आदान-विहरण-विसर्ग-आनन्दात्मकाः कर्मेन्द्रियाणां विषयाः-इत्युभयथा च 'शृणोमि, कथयामि'– इत्यहङ्कारानुगमाद् अहङ्कारकार्याणि।

अनुवाद : बोलना, पकड़ना, चलना, मलत्याग और आनन्द का अनुभव–ये पांच क्रमशः कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। 'मैं सुनता हूँ', 'मैं कहता हूँ'–इन दोनों ज्ञानप्रधान और क्रियाप्रधान अभिव्यक्तियों में 'अहंकार' अर्थात् मैं-भाव का अनुगम होने के कारण (सारी इन्द्रियां समान रूप से) अहंकार के कार्यरूप हैं।

कारिका-२१

उपक्रमणिका : एषां शब्दादिविषयस्वरूपं कथयति–

अनुवाद : इन इन्द्रियों के शब्द इत्यादि प्रमेय विषयों के स्वरूप को बतला रहा है–

मूलकारिका

एषां ग्राह्यो विषयः सूक्ष्मः प्रविभागवर्जितो यः स्यात्।
तन्मात्रपञ्चकं तत् शब्दः स्पर्शो महो रसो गन्धः॥

अन्वय/पदच्छेद : एषां यः सूक्ष्मः प्रविभागवर्जितः ग्राह्य विषयः स्यात् तत् शब्दः, स्पर्शः, महः, रसः, गन्धः तन्मात्र-पञ्चकम् (उच्यते)।

अनुवाद : इन पांच ज्ञानेन्द्रियों के जो सूक्ष्म रूप को लिए हुए और (स्थूल) विभाग से रहित पांच ग्राह्य विषय हैं उनको शब्द-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, तेज-तन्मात्र, रस-तन्मात्र और गंध-तन्मात्र कहते हैं।

संकेत *: शब्द इत्यादि पांच ग्राह्यविषयों में से किसी की भी सूक्ष्म और विभागों से रहित अवस्था उसकी तन्मात्र अवस्था कही जाती है। उदाहरणार्थ सूक्ष्म शब्द, जो केवल शब्दमात्र हो और जिसमें अभी नगाडे का शब्द, मेघ का शब्द, मशीन का शब्द, गीत का शब्द ऐसे ऐसे स्थूल शाब्दिक विभाग उभरें न हों, शब्द-तन्मात्र कहा जाता है। शब्देतर विषयों के परिप्रेक्ष्य में भी यही ध्यान में रखना चाहिए।*

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : ज्ञेय-कार्यतया स्वीकार्यो ए एषाम् इन्द्रियाणां विषयो गोचरः स्यात् स कीदृशः?–

प्रविभागवर्जितः विशेषेण बहिष्कृतः सामान्यात्मा सूक्ष्मो योऽर्थो भवेत् तदेव शब्दादि सामान्यरूपं तन्मात्रं-'शब्दसामान्यं शब्द-तन्मात्रम्'–इति।

एवम् अन्यानि। विषय-विषययिणोः परस्परसापेक्षत्वाद् इन्द्रियवद् इदमपि तन्मात्रपञ्चकम् आहङ्कारिकम् एव–इति।

अनुवाद : (ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा) ज्ञेयरूप में और (कर्मेन्द्रियों के द्वारा) कार्यरूप में स्वीकरणीय जो भी कोई इन्द्रियबोध के द्वारा जानने के योग्य (शब्द आदि) विषय हो उसका स्वरूप कैसा है?

जो भी कोई (शब्द आदि) विषय विशेषताओं के सूचक विभागों से रहित, सामान्य रूपवाला और सूक्ष्म हो उसकी वह सामान्य अवस्था ही तन्मात्र-अवस्था कही जाती है। उदाहरणार्थ शब्द की 'सामान्य' अर्थात् शब्दमात्र तक ही सीमित अवस्था शब्द-तन्मात्र कही जाती है। दूसरे ग्राह्यविषयों के बारे में भी ऐसा समझना चाहिए। 'विषय' अर्थात् इन्द्रिय बोध के द्वारा ज्ञेय या कार्य पदार्थ और 'विषयी' अर्थात् ग्रहण करने वाली इन्द्रियां आपस में सापेक्ष होते हैं–(तात्पर्य यह कि दो परस्पर-सापेक्ष पदार्थों के गुण समान होते हैं)। इस कारण से इन्द्रियों की ही भांति ये पांच तन्मात्र भी आहंकारिक ही हैं।

कारिका-२२

***संकेत** : पिछली कारिका में शब्द आदि पांच ज्ञेयरूपी ग्राह्यविषयों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। अब प्रस्तुत कारिका में पांच महाभूतों अर्थात् कार्यरूपी प्रमेयविषयों का वर्णन किया जा रहा है।*

उपक्रमणिका : विषयाणां परस्परसाङ्कर्येण पृथिव्यादीनि कार्यम् इत्याह–

अनुवाद : इन (शब्द आदि) (ज्ञेय) विषयों की पारस्परिक मिलावट के द्वारा पृथिवी आदि कार्य विषयों का विकास हो जाता है–इस बारे में बतला रहा है–

मूलकारिका

एतत्संसर्गवशात् स्थूलो विषयस्तु भूतपञ्चकताम्।
अभ्येति-नभः पवनस्तेजः सलिलं च पृथिवी च॥

अन्वय/पदच्छेद : एतत् संसर्ग-वशात् विषयः तु स्थूलः 'नभः, पवनः, तेजः, सलिलं च, पृथिवी च',–(इति) भूत-पञ्चकताम् अभ्येति।

अनुवाद : पारस्परिक संसर्ग हो जाने के परिणामस्वरूप ये (सूक्ष्म तन्मात्ररूपी) विषय स्थूल बनकर आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इन पांच (स्थूल) महाभूतों के रूप में विकसित हो जाते हैं।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : एतेषां संसर्गवशात् पारस्परिक-संघर्ष-सामर्थ्यात् यो विशेषः स्थूलो विषयः स एव भूतरूपतां याति। तथाहि–

'१. शब्दतन्मात्रात् शब्दविशेषो नभो जायते, २. शब्द स्पर्शाभ्यां पवनः, ३. रूपसंयुक्ताभ्याम् एताभ्यां तेजश्च, ४. एभ्यो रसयुक्तेभ्यश्च आपः, ५. गंधसंयुक्तेभ्यश्च पृथिवी,–इति पञ्चभूतानि'।

अनुवाद : इन तन्मात्रों के पारस्परिक संघर्ष के क्षोभ से जिस किसी भी (सूक्ष्म) ग्राह्य विषय में एक विशेष प्रकार की स्थूलता आ जाती है वही (अपने अनुगुण) महाभूत का रूप धारण कर लेता है। विश्लेषण इस प्रकार है–

(I) शब्दतन्मात्र शब्द को ही ग्रहण करने की विशेषता से युक्त आकाश-तत्त्व;

(II) शब्द और स्पर्श तन्मात्रों के संसर्ग से इन्हीं की विशेषता से युक्त वायु-तत्त्व;

(III) इन्हीं के साथ रूप-तन्मात्र के संपर्क से शब्द, स्पर्श, रूप की विशेषता से युक्त तेज-तत्त्व;

(IV) इन तीनों के साथ रस-तन्मात्र की मिलावट से शब्द, स्पर्श, रूप, रस की विशेषताओं से युक्त जल-तत्त्व, और

(V) इन चारों के साथ गंध-तन्मात्र की मिलावट से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध की विशेषताओं से युक्त पृथिवी-तत्त्व–इस प्रकार पांच स्थूल (कार्यरूपी) महाभूतों का विकास हो जाता है।

मूलग्रन्थ : 'कार्यं कारणानुगुणम्'–इति कृत्वा एकोत्तरगुणानि इति। एवम् एषा प्रकृतिः कार्यकारणात्मा पुरुषस्य परमेश्वरस्य इच्छया भोग्यतया प्रवृत्ता! इति षट्त्रिंशत् तत्त्वात्मकं जगत् विभज्य प्रतितत्त्वं निरूपितम्।

अनुवाद : 'हरेक कार्य में अपने कारण के ही अनुरूप गुण होते हैं'–इस नियम के अनुसार इनमें से अगले अगले में एक एक गुण (विशेषता) की बढ़ोत्तरी पाई जाती है।

इस प्रकार यह कार्य-कारणभाव के स्वभाववाली प्रकृति पुरुषरूपी परमेश्वर की इच्छा के अनुसार 'भोग्या' अर्थात् (चेतन पुरुष के) उपभोग का विषय बनकर क्रियाशील रहती है।

इस प्रकार छत्तीस तत्त्वों से संरचित जगत् का विभाग करके हरेक तत्त्व का अलग अलग निरूपण किया गया।

संकेत *: निम्नलिखित तत्त्वविभाग को ध्यान में रखें–*

संख्या	विभाग	परमशिव=तत्त्वातीत सत्ता	संख्या
१	शुद्धाध्व	शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या=तत्त्व	५
२	जीव	पुरुष-तत्त्व	१
३	षट्कञ्चुक	माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति=तत्त्व	६
४	३ गुणों का साम्य	प्रकृति-तत्त्व	१
५	अंत:करण	बुद्धि, मन, अहंकार=तत्त्व	३
६	ज्ञानेन्द्रिय	कान, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण=तत्त्व	५
७	कर्मेन्द्रिय	वाणी, हाथ, पैर, पायु, उपस्थ=तत्त्व	५
८	तन्मात्र	शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध=तत्त्व	५
९	महाभूत	आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी=तत्त्व	५
		कुल योग	३६

कारिका-२३

उपक्रमणिका : मायाकञ्चुकवत् प्रकृतेः कञ्चुकतां पुरुषं प्रति आह–

अनुवाद : 'मायाकञ्चुक' अर्थात् कञ्चुकषट्क की भांति 'प्रकृतिकञ्चुक' अर्थात् प्रकृति-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक का बहिरंग स्थूल (कायारूपी) कंचुक भी पुरुष पर लिपटा हुआ है–इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

तुष इव तण्डुलकणिकामावृणुते प्रकृतिपूर्वकः सर्गः।
पृथिवीपर्यन्तोऽयं चैतन्यं देहभावेन॥

अन्वय/पदच्छेद : अयं प्रकृति-पूर्वकः पृथिवी-पर्यन्तः सर्गः तण्डुल-कणिकाम् तुषः इव चैतन्यं देह-भावेन आवृणुते।

अनुवाद : यह प्रकृति-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक का सर्ग (बहिरंग कायिक कंचुक) चैतन्य (आत्मा) को उसी प्रकार आच्छादित

कर देता है जिसप्रकार चावल के दाने को तुसी (सब से बाहरी छिलका=तुष)।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : अयमपि प्राधानिकः सर्गो धरापर्यन्तः, तण्डुलकणं यथा तुषो धान्यचर्म आवृणुते समाच्छादयति, तथैव मायाकञ्चुकेन कम्बुकस्थानीयेन समावृतं चैतन्यं पुनर् अपि तुषस्थानीयेन देहभावेन एतत् तत् समावृणुते तत्प्रति प्राकारतया स्थगयति।

अनुवाद : जिसप्रकार (अंदर से भुसी से घिर हुए) चावल के दाने को 'तुष' अर्थात् धान का छिलका=तुसी, बाहर से भी आवृत किए हुए होता है, उसी प्रकार भुसी के स्थानापन्न कञ्चुकषट्क के द्वारा अंतरंग रूप में आच्छादित किए हुए चैतन्य को यह तुसी का स्थानापन्न पृथिवी-तत्त्व तक का प्राधानिक सर्ग कायिक आकार में बाहर से भी आच्छादित कर देता है। तात्पर्य यह कि परकोटा बनकर उसका (आत्मा का) स्थगन कर लेता है।

मूलग्रन्थ : अत्रेमे प्रमातारः कलाभिर् इन्द्रियमात्राभिर् विशेषान्ताभिर् देहस्वभावाः सकलाः-इत्युच्यन्ते। विशेषवर्जिता विदेहाः प्रलयाकलाः इति च। एवं शिवादि-सकलान्त-प्रमातृसप्तक- सनाथं रुद्र-क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं जगदिति।

अनुवाद : यहां (प्राधानिक संसार में) ये सारे प्रमाता (मानव या मानवेतर) 'कलाओं' अर्थात् सूक्ष्म एवं स्थूल पाञ्चभौतिक ज्ञानेन्द्रियों, जिनको मात्रा कहते हैं, के द्वारा कायिक स्वभाव को धारण करते हुए 'सकल' अर्थात् इन्द्रियमात्राओं से युक्त सकलप्रमाता कहे जाते हैं। इतना भी है कि दूसरे प्रकार के, स्थूल कायाओं से रहित और प्रलयकालपर्यन्त गहरे स्वाप की जैसी अवस्था में पड़े रहनेवाले प्रमाता प्रलयाकल-प्रमाता कहे जाते हैं।

इस प्रकार यह बहिरंग विश्व शिवप्रमाता से लेकर सकल-प्रमाता तक के (शिव, मंत्रमहेश्वर, मंत्रेश्वर, मंत्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल) सात प्रमातृवर्गों से आश्रित और, (शुद्धाध्व पर) रुद्ररूपी एवं (अशुद्धाध्व पर) क्षेत्रज्ञरूपी प्रमाताओं से अधिष्ठित है।

*संकेत : प्रलयाकल प्रमाता के परिप्रेक्ष्य में **श्रीईश्वरप्रत्यभिज्ञा** आगमाधिकार आह्निकर का अध्ययन पाठकों के लिए हितकर होगा।*

कारिका-२४

उपक्रमणिका : कञ्चुकत्रितयस्य पर-स्थूल-सूक्ष्मरूपताम् आह–

अनुवाद : तीनों कंचुकों के पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप का व्यौरा प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

परमावरणं मल इह सूक्ष्मं मायादि कञ्चुकं स्थूलम्।
बाह्यं विग्रहरूपं कोशत्रयवेष्टितो ह्यात्मा।।

अन्वय/पदच्छेद : इह मलः परम् आवरणं, माया आदि कञ्चुकं सूक्ष्मं, विग्रहरूपं बाह्यं स्थूलं, हि आत्मा कोश-त्रय-वेष्टितः (वर्तते)।

अनुवादः इस (शैवमान्यता) में (ज्ञानसंकोचरूपी मौलिक) आणक-मल 'पर' अर्थात् आंतर आवरण, माया आदि (छः तत्त्वों से बना हुआ) कंचुकषट्क सूक्ष्म-आवरण और बाहरी कायिक आकारवाला स्थूल-आवरण (माने जाते हैं)। निश्चय से जीवात्मा इन्हीं तीन 'कोशों' अर्थात् आवरणों के द्वारा घिरा हुआ है।

संकेत : यहां पर पर-आवरण से आणवमल, सूक्ष्म-आवरण से मायीयमल और स्थूल-आवरण से कार्ममल समझना चाहिए।

योगराजीय व्याख्या

(क) मूलग्रन्थ : चैतन्यस्य स्वस्वरूप-अपहस्तन-सतत्त्व-अख्यातिर् एव आणवो मल आन्तरः, स्वर्णस्य कालिकेव, परम् अन्तरङ्गम् आवरणं छादनम्।

(क) अनुवाद : 'चैतन्य' अर्थात् चिन्मय महाशिव का (बहिर्मुखीन स्वरूप विस्तार की उन्मुखता में अपने ही स्वातन्त्र्य से) स्वरूप को संकुचित बना देना ही 'अख्याति' अर्थात् अधूरे ज्ञान या स्वरूप विस्मरण का वास्तविक सार है। यह अख्याति ही 'आंतर' अर्थात् आत्मभाव का अति निकटवर्ती 'आणव' अर्थात् अणु से संबंधित या पशुभाव का जन्मदाता मल है। सोने पर जमी हुई कालिख के समान यह आणव-मल

'पर' अर्थात् अंतरंग से भी अंतरंग आच्छादन है। (इसको परिभाषा में पर-कंचुक कहते हैं)

(ख) मूलग्रन्थ : तादात्म्येन स्थितत्वात् मायादि विद्यान्तं कञ्चुकषट्कं सूक्ष्मम् आत्मन आवरणं, तण्डुलस्य कम्बुकमिवावरणं, पृष्ठपातित्वेन आस्ते येन भेदमयी ज्ञत्व-कर्तृत्व-प्रथा प्रथते,-इत्येष मायीयो मलः।

(ख) अनुवाद : तत्स्वरूपता (एकाकार जैसा दिखाई देना) के रूप में चिमटा हुआ होने के कारण, माया-तत्त्व से लेकर विद्या/अविद्या तत्त्व तक विस्तृत कञ्चुकषट्क, आत्मभाव पर छाया हुआ दूसरा सूक्ष्म-आवरण है। चावल के दाने पर लिपटे रहनेवाले 'कम्बुक' अर्थात् भुसी के समान यह (कंचुकषट्क) आवरण पहले आणव-आवरण का पृष्ठपोषक बनकर चिमटा रहता है जिसके फलस्वरूप अणु में भेदभाव से पूर्ण ज्ञातृता और कर्तृता का उदय हो जाता है। इसलिए यह (दूसरा) मायीय मल है।

(ग) मूलग्रन्थ : एतदपेक्षया बाह्यं तुषस्थानीयं प्राधानिकं शरीरसत्तालक्षणम् आवरणं स्थूलं त्वङ्-मांसादिरूपत्वात्। एष तृतीयः कार्मो मलः येन प्रमाता शुभ-अशुभ-कर्म-सञ्चय-भाजनं भवति।

अनुवाद : इन दोनों (अंतरंग आवरणों) की अपेक्षा बाहरी और तुसी के स्थानापन्न प्राकृतिक शरीरसत्ता के रूपवाला आवरण, चमड़ा, मांस इत्यादि का पिंड होने के कारण, स्थूल-आवरण माना जाता है। यह तीसरा कार्म-मल है जिसकी वशिता से सर्वसाधारण प्रमाता अच्छे या बुरे कर्मों (कर्म-फलों) को बटोरने का पात्र बन जाता है।

मूलग्रन्थ : एवम् अनेन पर-सूक्ष्म-स्थूलरूपेण कोषत्रयेण वेष्टितो विकस्वरोऽपि, घटाकाशवत्, सङ्कुचितीकृतः–'आत्मा इति, अणुरिति, पशुरिति' उच्यते।

अनुवाद : इस तरह इन पर, सूक्ष्म और स्थूल रूपवाले तीन गिलाफों से घिरा हुआ, मूलतः 'विकस्वर' अर्थात् नित्य-विकसित होने पर भी घटाकाश की भान्ति संकुचित बना हुआ-'जीवात्मा, अणु, पशु' इन नामों से पुकारा जाता है।

कारिका-२५

उपक्रमणिका : एतत् सम्बन्धात् उपहत इव भवति–इत्याह–

अनुवाद : इन तीन कंचुकों के साथ संबन्ध हो जाने के कारण

(जीवात्मा) दब्बू जैसा (अथवा अभिमंत्रित जैसा) बना होता है–इस बारे में बतला रहा है–

मूलकारिका

अज्ञानतिमिरयोगादेकमपि स्वं स्वभावमात्मानम्।
ग्राह्य - ग्राहक - नाना - वैचित्र्येणावबुध्येत।।

अन्वय/पदच्छेद : (अयम् अणुः) अज्ञान-तिमिर-योगात् एकम् अपि स्वं स्वभावम् आत्मानं ग्राह्य-ग्राहक-नाना-वैचित्र्येण अवबुध्येत।

अनुवाद : (यह अणु) अल्पज्ञानरूपी धुंधुरी का रोग चिमट जाने के कारण अपने स्वभावभूत आत्मा के (मूलतः) भेदरहित होने पर भी नाना प्रकार के प्रमेय-पदार्थों और प्रमाताओं की विलक्षणता वाला समझता रहता है।

संकेत : *तिमिर अथवा धुंधुरी एक प्रकार का नेत्ररोग है जिसमें रोगी को एक ही पदार्थ के दो दिखाई देते हैं। इस रोग का दूसरा नाम रेखातिमिर भी है। कश्मीरी भाषा में इसको 'तेम्बर्' कहते हैं।*

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : एष कोषत्रयसम्बद्ध आत्मा, आत्माख्याति-अंधकार-सम्बन्धात्, एकमपि अद्वयस्वभावम् अपि स्वं निजं, नान्यस्मादुपनतम्, आत्मस्वभावं चैतन्यम् आत्मसत्तालक्षणं स्वरूपं प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय-नाना-रचना-प्रपञ्चेन जानाति–अभेदविपरीतेन भेदेन अभिमन्यत इति यावत्।

अनुवाद : तीन कोशों में कसकर बंधा पड़ा यह जीवात्मा, आत्म-अपरिचय-रूपी धुंधुरी की छूत के कारण, 'एक' अर्थात् भेदभाव से सर्वथा रहित, 'चैतन्य' अर्थात् अविनश्वर ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों की स्वयंसिद्ध एवं निर्विराम स्पन्दना से ओतप्रोत आत्मसत्ता के लक्षणों से युक्त स्वरूप, जोकि उसका अपना है, किसी दूसरे से उधार नहीं लाया है, को नाना प्रकार के प्रमाताओं, प्रमाणों और प्रमेयों की परस्परभिन्न संरचनाओं के रूप में समझता रहता है–तात्पर्य यह कि अभेदभाव के उलटे में भेदभाव से पूर्ण ही मानता रहता है।

मूलग्रन्थ : (दृष्टान्त) यथा रेखातिमिरोपहतः पुरुष एकम् अपि चन्द्रं पश्यन्–'द्वौ चन्द्राविमौ नभसि स्तः' इति परिच्छिन्दन् लोकमपि

दर्शयति–'द्वौ चन्द्राविमौ पश्य'–इति। वस्तुवृत्तेन एक एवासौ चन्द्रः, इति तिमिरवशात् तथा भासते, येन उद्वेगलक्षणाम् आनन्द-लक्षणां वा अर्थक्रियां स तैमिरिकः प्राप्नोति।

अनुवाद : (दृष्टान्त) जिस प्रकार 'रेखातिमिरोपहत'-अर्थात् धुंधुरी नामक नेत्ररोग से पीड़ित मनुष्य (वास्तव में) एक ही चन्द्रमा को देखता हुआ भी–'अरे ये दो चांद हैं'–इस प्रकार पहले स्वयं इस निर्णय पर पहुँचकर फिर दूसरे लोगों को भी–'अरे ये दो चांद देख लो'-ऐसा दिखाने लगता है। वस्तुस्थिति के अनुसार तो चांद एक ही है परन्तु धुंधुरी के प्रभाव से उसको वैसा भासित हो रहा है जिसके फलस्वरूप वह तैमिरिक या तो मानसिक व्याकुलता या मानसिक उल्लास के रूपवाली अर्थक्रिया को करने लगता है।

***संकेत** : तैमिरिक को व्याकुलता इसलिए होने लगती है कि उसकी आंखों में धुंधुरी का विकार उत्पन्न हो गया है, और हर्ष इसलिए होने लगता है कि वह आकाश में दो चांदों का मनमोहक दृश्य देख रहा है।*

मूलग्रन्थ : (दार्ष्टान्तिक) : तथैव अज्ञान-तिमिर-प्राप्त-भेदप्रथः सर्वं स्वात्मनः अभिन्नम् अपि भेदेन व्यवहरन् भिन्नं कर्मफलम् अर्थयते, येन भूयो भूयः स्वर्गनिरयादिभोगभाग् भवति।

अतश्च अज्ञानस्य तिमिरेण रूपणा-विपरीत-आभासनात्।

अनुवाद (दार्ष्टान्तिक): उसी प्रकार वह अल्पज्ञानरूपी धुंधुरी के कारण भेदज्ञान के दृष्टिभ्रम में पड़ा हुआ व्यक्ति, सब कुछ स्वात्मभाव से अभिन्न होने पर भी, भेदभाव पर आधारित आदान-प्रदान करता हुआ, अपने मनोनीत कर्मफलों की कामना करता रहता है और, उसके परिणामस्वरूप स्वर्ग या नरक इत्यादि का भागी बन जाता है।

अज्ञान (अल्पज्ञान) की उपमा धुंधुरी के साथ इसलिए दी गई है कि इस दशा में (मानव को) केवल उलटा-पुलटा ही नज़र आता है।

कारिका-२६

उपक्रमणिका : आत्माद्वयं दृष्टान्तेन दर्शयति–

अनुवाद : आत्मा का अभेद दृष्टान्त के द्वारा दर्शा रहा है–

मूलकारिका

रस-फाणित-शर्करिका-गुड-खण्डाद्या यथेक्षुरस एव।
तद्वदवस्थाभेदाः सर्वे परमात्मनः शंभोः॥

अन्वय/पदच्छेद : यथा रस-फाणित-शर्करिका-गुड-खण्ड-आद्याः इक्षुरसः एव (सन्ति) तद्वत् सर्वे अवस्था-भेदाः परमात्मनः शंभोः (सन्ति)।

अनुवाद (दृष्टान्त) : जिस प्रकार (गन्ने का) रस, राब (या चाशनी), शक्कर, गुड, खाँड इत्यादि (असल में) गन्ने का रस नहीं हैं,

(दार्ष्टान्तिक) उसी प्रकार सारे (जाग्रत आदि अथवा प्रमेय, प्रमाता आदि) अवस्थाओं के भेद (मूलतः) विश्वात्मा शिव के ही (रूपान्तरमात्र) हैं।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ (दृष्टांत) : रसादय इक्षुभेदा यथा एक एवेक्षुरसः परमार्थतः-सर्वत्र माधुर्यानुगमात्,

(दार्ष्टान्तिक-) तथैव जाग्रदादि-अवस्था भेदा ग्राह्य-ग्राहक-प्रपञ्चरूपाः सर्वे विशेषाः परमात्मनः स्वस्वभावस्य शम्भोश् चैतन्य-महेश्वरस्य एव। यतः स एव भगवान् सर्वस्य स्वात्मभूतः तथा ग्राह्य-ग्राहक-आदि-अवस्था-विशिष्टः प्रथते-यथा इक्षुरसः। न पुनः स्वात्मनस् तस्माद् भिन्नं किञ्चिदस्ति-इति स एक एव-सर्वत्र संविदनुगमात्।

अनुवाद (दृष्टान्त) : जिस प्रकार ईख से बनने वाले, गन्ने का रस इत्यादि भोग्य-भेद, यथार्थ में गन्ने का रस ही हैं क्योंकि सबों में मीठे स्वाद का अनुगम पाया जाता है,

(दार्ष्टान्तिक) उसी प्रकार प्रमेय पदार्थों, प्रमाताओं इत्यादि के जंजाल का प्रतिनिधित्व करनेवाली जाग्रत् आदि अवस्थाओं के भेद अथवा सारे विशेष, निजी स्वभाव बने हुए विश्वात्मा शम्भू अर्थात् चैतन्यमूर्ति परमेश्वर के ही (रूपान्तरमात्र) हैं। कारण यह कि केवल वही भगवान हरेक (जड-चेतन) पदार्थ की (अंतरंग) आत्मसत्ता बनकर, ठीक गन्ने के रस की भांति, (बहिरंगता में) प्रमेय, प्रमाता इत्यादि (अनगिनत) अवस्थाविशेषों से विशिष्ट रूप में प्रकाशमान है। फिर तो ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं कि जिसमें उस स्वात्मभूत (परमेश्वर) से कुछ भिन्न हो।

फलतः सारी अवस्थाओं में केवल संवित् का ही अनुगम होने के कारण वह (स्वात्ममहेश्वर) एकला है।

मूलग्रन्थ : इत्थं सर्वत्र एकरूपतादर्शनात् प्रमाता सर्वदृश्वा भवति, यदाह शम्भुभट्टारकः–

'एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः।।इति
भगवद्गीतास्वपि–
'सर्वभूतेषु येनैकं भावमक्षयमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।। (१८, २०) इति।

अनुवाद : इस प्रकार चारों ओर एकरूपता का साक्षात्कार करते रहने से प्रमाता 'सर्वदृश्वा' अर्थात् सारे पदार्थों में व्यापक परमात्मभाव का द्रष्टा अथवा समदर्शी बन जाता है। जैसा कि शम्भुभट्टारक (भगवान अभिनव का एक गुरु) ने कहा है–

'हरेक भाव में सारे भावों का समावेश है; सारे भावों में एकली आत्मसत्ता का समावेश है, जिसने वास्तविक एकभावता का साक्षात्कार पाया उसने यथार्थ रूप में सारे भावों को पहचान लिया।'

श्रीमद्भगवद्गीता में भी यह उपदेश दिया गया है–

'(हे पार्थ!) जिसके द्वारा सारे (जड-चेतन) पदार्थों में एक ही और बंटवारों का विषय न बनने वाले अविनाशी-अस्तित्व का साक्षात्कार हो जाता है, उस ज्ञान को 'सात्त्विक-ज्ञान' जान लो।'

कारिका-२७

ध्यानाकर्षण : प्रस्तुत कारिका में आचार्य अभिनव ने परमार्थ-अन्वेषण के बारे में अतिप्राचीन काल से चली आती हुई कई प्रमुख चिन्तनधाराओं का संकेत रूप में उल्लेख किया है। इनमें बौद्धों का विज्ञानवाद, ब्रह्मवादियों का अन्तर्यामीवाद, प्राणब्रह्मवादियों का प्राणब्रह्मवाद, वैदिक मतावलम्बियों का विराट-देहवाद, वैशेषिकों का सामान्य महासत्तावाद और चार्वाकों का देहात्मवाद अन्तर्गत हैं। आचार्य जी का मानना है कि परमार्थ का साक्षात्कार चाहने वाले व्यक्तियों के लिए ये अलग अलग मन्तव्य, संप्रदाय एवं वाद बिल्कुल निःसार हैं। आत्मविस्मृति के दलदल से निस्तार पाना ही मात्र परमार्थ है। यदि यह प्रयोजन सिद्ध होता है तो ये सारे वाद किसी काम के नहीं, अथवा यदि नहीं

होता है तो भी इनके झमेले में पड़ना व्यर्थ है। अस्तु, संक्षेप में इन सारे वादों का अलग अलग ब्यौरा इस प्रकार है–

विज्ञानवाद : बौद्ध दार्शनिकों की एक शाखा का नाम विज्ञानवादी शाखा है। उन विचारकों की मान्यता यह रही है कि वास्तव में आत्मा नामवाले किसी अलग पदार्थ का सद्भाव नहीं है। यह तो केवल नाम-रूप इत्यादि उपाधियों से रहित विशुद्ध ज्ञानमात्र है जो कि अनादि वासना के बल से उद्बुद्ध होकर विश्वभर के घट, पट, सुख, दु:ख आदि भावों के रूप में प्रकाशमान है। इस ज्ञान का रूप चित्त है और यही आत्मा है।

अन्तर्यामीवाद : प्राचीन ब्रह्मवादियों का सिद्धान्त यह है कि सारे प्राणियों में 'अन्तर्यामी रूप में' अर्थात् अन्त:करण में प्रेरणादायक तत्त्व के रूप में अवस्थित परब्रह्म ही आत्मा है। वही अनादि अविद्या की वशिता से बहिरंग भेदरूप में प्रकाशमान है।

प्राणब्रह्मवाद : इन विचारकों की मान्यता के अनुसार सर्वसामान्य प्राणना (सूक्ष्म प्राणशक्ति) सर्वत्र व्यापक है अत: प्राण ही ब्रह्म या आत्मा है। जो सर्वत्र व्यापक हो वही ब्रह्म कहलाता है–'ब्रह्म बृहत्वाद् व्यापकत्वद्वा'। प्राण के साथ शब्दन का साक्षात् संबन्ध होने के कारण प्राणब्रह्म का दूसरा नाम शब्द ब्रह्म भी है। शब्द से यहां पर किसी ध्वनि विशेष का नहीं, प्रत्युत विमर्शमय शब्दन (शब्दनं विमर्श:) का अभिप्राय लेना चाहिए।

विराट-देहवाद : 'विराट' शब्द से असीम विश्वमय ब्रह्म का अभिप्राय है। वैदिक संप्रदाय के विचारकों के अनुसार 'विराट-देह' अर्थात् अखंड विश्वमय काया को धारण करनेवाला ईश्वर ही परब्रह्म या आत्मसत्ता है।

सामान्य (जातिरूप) महासत्तावाद : वैशेषिकों का कथन है विश्व के सारे (जड़-चेतन) पदार्थ युगपत् ही सामान्य और विशेष रूपवाले होते हैं। सामान्य से पदार्थों के जातिरूप का अभिप्राय है-जैसे घटत्व, पशुत्व इत्यादि। विशेष से पदार्थों के व्यष्टिरूप का अभिप्राय है-जैसे घट, पशु इत्यादि। विशेषरूप किसी भी पदार्थ के अनेकत्व और सामान्यरूप एकत्व के द्योतक हैं। अनेकत्व नश्वर और एकत्व अनश्वर होते हैं। फलत: विश्व के सारे पदार्थों का पार्यन्तिक सामान्यरूप एक एवं अविनाशी होने के कारण 'महासत्ता' अर्थात् नष्ट न होनेवाला सद्भाव है। स्पष्ट ही यही 'सामान्य महासत्ता' अविनश्वर-परमार्थसत् होने के कारण आत्मसत्ता है।

पिंडवाद : 'पिंड' स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर को कहते हैं। पुराने चार्वाक एवं दूसरे अनात्मवादी दार्शनिकों का मंतव्य यह है कि प्रत्यक्षरूप में स्थूल काया के अतिरिक्त और कोई आत्मा दिखाई नहीं देता है। जो पदार्थ बोधगम्य न हो उसके लिए माथापच्ची करने या ज़ोर-ज़बर्दस्ती उसका सद्भाव मानने का प्रयोजन ही क्या है? अतः प्रत्यक्षरूप में दिखाई देनेवाला शरीर ही आत्मा है। इसी को सुखी रखना मानवजीवन का प्रधान लक्ष्य है। खाओ, पियो और मौज करो–

यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?॥

उपक्रमणिका : 'तीर्थान्तरपरिकल्पितस्तु भेदः संवृत्यर्थम् अभ्युपगतोऽपि न सत्यभूमौ अवकल्पते'–इत्याह–

अनुवाद : 'शैवेतर धर्मोपदेशकों के द्वारा कपोलकल्पित भेदभाव को यदि 'संवृति' अर्थात् सांसारिक व्यावहारिकता, को निभाने के लिए स्वीकारा भी जाए, तो भी वह परमार्थ की भूमिका पर जम नहीं सकता'–इस विषय में कह रहा है–

मूलकारिका

विज्ञानान्तर्यामिप्राणविराड्देहजातिपिण्डान्ताः।
व्यवहारमात्रमेतत् परमार्थेन तु न सन्त्येव॥

अन्वय/पदच्छेद : विज्ञान-अन्तर्यामि-प्राण-विराड्देह-जाति-पिण्ड-अन्ताः परमार्थेन न सन्ति एव, एतत् व्यवहारमात्रम् (अस्ति)।

अनुवाद : विज्ञानवाद, अन्तर्यामिवाद, प्राणब्रह्मवाद, विराट्-देहवाद, जाति(सामान्य)वाद और पिंडवाद तक के इन सारे वादों का पारमार्थिक भूमिका पर सद्भाव नहीं है, यह (सारा बखेडा) तो व्यवहारमात्र है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : (१) 'विज्ञानम्-इति बोधमात्रं केवलम् अनुपाधि, नामरूपरहितम् अपि अनादि-वासना-प्रबोध-वैचित्र्य-सामर्थ्यान्-नील-सुखादि-रूपं, बाह्यरूपतया नाना प्रकाशते'–इति विज्ञानवादिनः।

अनुवाद : (१) 'विज्ञानवादी' बौद्ध दार्शनिकों की एक शाखा का नाम है। इन लोगों की मान्यता इस प्रकार है–

'विज्ञान' शब्द ऐसे 'बोध' अर्थात् ज्ञान का परिचायक है जो सर्वथा उपाधियों से रहित विशुद्ध बोधमात्र हो। यह ज्ञान (बौद्धों का क्षणिक ज्ञान) नाम-रूप की उपाधियों से रहित होने पर भी, अनादि वासना के द्वारा उजागर बनाये जाने से उत्पन्न विलक्षणताओं के बल से, 'नील' अर्थात् घट, पट इत्यादि ठोस प्रमेय पदार्थों और, 'सुख' अर्थात् सुख, दुःख, क्रोध इत्यादि भावनात्मक प्रमेय पदार्थों का रूप धारण करके, बहिरंग जगत् की नानारूपता में प्रकाशमान है।

संकेत *: शायद पाठक भूले न होंगे कि बौद्ध विचारक मन, बुद्धि और अहंकार के रूपवाले चित्त को ही ज्ञान कहते हैं। वह ज्ञान भी क्षणिक एवं अस्वतन्त्र। अस्वतन्त्र इसलिए कि इस पर अनादि वासना का अंकुश है। वासना ही इसको नील, सुख आदि वैचित्र्यों का रूप धारण करने पर मजबूर करती है। तो क्या वासना ही ज्ञान से प्रबल है? यह वासना कहां से आई?*

मूलग्रन्थ : (२) 'पुरुष एवेदं सर्वम्...........'।

'नेह नानास्ति किञ्चन.................'।

इति न्यायेन 'अन्तर्यामि सर्वस्य'-इति परं ब्रह्मैव अनादि-अविद्या-वशाद् भेदेन प्रकाशते, इति ब्रह्मवादिनः।

अनुवाद : (२) (प्राचीन) ब्रह्मवादी विचारकों का कथन इस प्रकार है–

यह सारा (विश्ववैचित्र्य) 'पुरुष' अर्थात् चेतन-तत्त्व, ही है'।

'इस जगत् में (दिखाई देनेवाली) अनेक प्रकारता कुछ भी नहीं है'। इस निर्णय के अनुसार 'अन्तर्यामि सर्वस्य'–इस शात्रोक्ति में परब्रह्म को ही सब का अंतर्यामी स्वीकारा गया है और, वही अनादि अविद्या की वशिता के कारण भेदभाव को अपनाकर प्रकाशमान है।

संकेत *: इन विचारकों ने अन्तर्यामी के रूप में परब्रह्म की सर्वव्यापिनी सत्ता को स्वीकारा तो है परन्तु स्वतः परब्रह्म को ही अस्वतन्त्र और विकल बनाकर रखा है। उस पर अनादि-अविद्या का अंकुश लगा कर रखा है। यह कहां से आई? क्या यह परब्रह्म से बढ़ कर और कोई स्वतन्त्र शक्ति है? यदि है तो इसके हटने का क्या उपाय है? योगराज ने भी इन बातों की ओर संकेत किया है–)*

मूलग्रन्थ : अत्र उभयत्रापि वेदनस्य स्वातन्त्र्यं जीवितभूतं विश्वनिर्माणहेतुर् इति न चेतितम्।

अनुवाद : इन दोनों प्रकार के मतावलंबियों को इतना भी नहीं सूझा है कि वास्तव में संवेदन का जीवनसार बना हुआ स्वातंत्र्य ही विश्वनिर्माण का (मुख्य) कारण है।

मूलग्रन्थ : (३) अन्ये प्राणब्रह्मवादिनस्तु-'यथा प्राणनम् एव विश्वम् आगूर्य वर्तते, न हि प्राणाद् ऋतेऽन्यत् किञ्चिद् ब्रह्मणो रूपम्-इति सविमर्शं शब्दब्रह्म'-इत्याहुः।

अनुवाद : (३) दूसरे प्राणब्रह्मवादी विचारक यह कहते हैं कि-

(प्रत्यक्षरूप में देखा जाता है कि- 'प्राणन' अर्थात् सर्वव्यापी, सूक्ष्म एवं सामान्य प्राणनरूपी जीवनतत्त्व, चारों ओर से सारे विश्व को अपने में समाकर, वर्तमान है। स्पष्ट ही प्राण को छोड़ परब्रह्म का और कोई रूप नहीं है। इसलिए विमर्शमय शब्दब्रह्म ही (आत्मा है।))।

*(**संकेत** : ऊपर कहा गया है कि प्राणब्रह्मवाद में शब्द या शब्दन अतिसूक्ष्म विमर्शमय अभिलापात्मकता का वाचक है। यह प्राण से जुड़ा हुआ है और समूचा विश्ववैचित्र्य इसी में गर्भित है।)*

मूलग्रन्थ : (४) अपरे प्रतिपन्ना यथा 'विराड्देह'-इति।
वैराजमपि ब्रह्मणः सत्यभूतम्' – इति।
यथोक्तम्-यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः॥ इत्येवमादि।

अनुवाद : (४) दसरे विचारकों की मान्यता इस प्रकार है-

'(विश्वमय) विराट् देह को धारण करनेवाला (तत्त्व ही आत्मा है)'

'वैराज' अर्थात् जाग्रत् अवस्थामय विश्व भी परब्रह्म का सच्चा रूप है'।

जैसा कि इस परिप्रेक्ष्य में-

'अग्नि जिसका मुंह, स्वर्ग मस्तक, आकाश नाभि, पृथिवी पैर, सूर्य आंखें और दिशाएं कान हैं, उस लोकात्मा को प्रणाम हो'।

इत्यादि बातों का उल्लेख किया गया है।

मूलग्रन्थ : (५) 'जातिः'-इति महासत्ता-सामान्य-लक्षणं सर्वगुणाश्रयं वस्तु परमार्थसद्-इति वैशेषिकादयो ब्रुवते।

अनुवाद : (५) वैशेषिक दर्शन के जानकार और उन्हीं के समकक्ष दूसरे विचारकों का मंतव्य इस प्रकार है–

'जाति' अर्थात् हरेक पदार्थ में पाया जानेवाला सामान्यरूप, सारे गुणों को धारण करनेवाला और 'महासत्ता' अर्थात् नित्यसत्ता के रूपवाला जो 'वस्तु' अर्थात् यथार्थ अस्तित्व (जैसा वृक्ष में वृक्षत्व, वानर में वानरत्व इत्यादि) है वही परमार्थसत् है'।

संकेत *: सर्वोत्कृष्ट एवं अविनाशी आत्मज्ञान को परमार्थसत् और, व्यावहारिक या औपचारिक (संसार में काम आनेवाला) ज्ञान को संवृतिसत् कहते हैं। वैशेषिक लोग अलग अलग व्यक्तिरूपता और कार्यद्रव्यों को संवृतिसत् और, हरेक पदार्थ में अवस्थित सामान्य-महासत्तारूपिणी जाति को एवं परमाणुरूप द्रव्य को परमार्थसत् मानते हैं, अत: उनके मतानुसार पदार्थों में वर्तमान जातिरूपता ही नित्य वस्तु अथवा आत्मा है।*

मूलग्रन्थ : (६) अन्ये 'पिडा:'–इति व्यक्तय एव परमार्थसत्यो, न हि सामान्यं नाम किञ्चिद् एकम् अनेकगुणाश्रयं प्रकाशते, नापि उपपद्यते वा, इति व्यक्तीनामेव व्यवहार: परिसमाप्त: (परमार्थ:), किं सामान्येन?-इति। नानावृत्तिविकल्पै: सामान्यं विवदमाना व्यक्तयो न अनुयान्ति, अन्यद् अनुयायि न भासते-इत्येवमादि बहु ब्रुवन्तो 'जातिर्न परमार्थ:'–इति प्रतिपन्ना:।

अनुवाद : (६) दूसरे (पिंडात्मवादी चार्वाक इत्यादि) यह मानते हैं–

'पिंड अर्थात् अलग अलग देहधारी (व्यक्तिरूपता) ही परमार्थसत्य है। 'सामान्य' नामवाला (स्वत:) एक और अनेक गुणों का आश्रय बना हुआ कोई भी पदार्थ, निश्चय से, प्रकाशमान नहीं है, और न (अटकलबाजियों से) सिद्ध ही हो सकता है। इसलिए सारा दुनियाई लेन-देन व्यक्तियों से ही सम्भव हो जाता है। (व्यक्तियों का व्यवहार ही परमार्थसत् है। सामान्य को स्वीकारने का लाभ ही क्या है? भिन्न भिन्न व्याख्याओं या कपोल कल्पनाओं के द्वारा सामान्य के विषय में सिर खाली करने वाले व्यक्ति तो उसकी पिछलगी नहीं करते हैं, और न दूसरा अर्थात् सामान्य ही उनका अनुगमन करता है।

ऐसी बहुत-सी बातों को तूल देते हुए वे लोग यह मानते हैं कि जाति (महासामान्य सत्ता) परमार्थसत् नहीं है।

मूलग्रन्थ : इत्येव विज्ञानादि: पिण्डोऽन्ते येषां भेदानां ते तथोक्ता: व्यवहारमात्रम् एतद्-इति। अस्मिन् स्वातन्त्र्य वादे प्रकाशमानस्य वस्तुन

अनपह्नवनीयत्वाद् एते भेदाः संवृतिसत्यत्वेन प्रकाशन्ते, परमार्थेन तु न सन्त्येव–इति। न पुनः सतत्त्वतया एते भेदास् तीर्थान्तर-परिकल्पित- भेदा अविद्यमाना एव।

अनुवाद : यही हैं उन वादों के भेद जिनमें विज्ञानवाद पहला और पिंडवाद अन्तिम है। यह सारा झमेला तो केवल उपचारमात्र है। (शैवसम्मत) स्वातन्त्र्यवाद में तो वह स्वयं-प्रकाशमान 'वस्तु' अर्थात् यथार्थ अस्तित्व झुठलाया नहीं जा सकता है। अतः ये सारे वादों के भेद संवृतिसत्य के रूप में प्रकाशमान हैं। पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर इनका कहीं सद्भाव ही नहीं है। फिर तो दूसरे धर्मोपदेशकों के द्वारा कपोलकल्पित ये सारे वाद भेद न केवल सारवत्ता की दृष्टि से रिक्त हैं, प्रत्युत (परमार्थ की दृष्टि से) इनका कहीं सद्भाव ही नहीं है।

मूलग्रन्थ : तस्माद् एक एव परमप्रकाशपरमार्थः, स्वतन्त्रश्, चैतन्यमहेश्वर इत्यम् इत्थं चकास्ति, यतोऽन्यस्य एतद् व्यतिरिक्तस्य अप्रकाशरूपस्य प्रकाशमानता-अभावात् । यदुक्तम्–

'तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि-
रुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद्यद् अमी वदन्ति।
तत् तत्त्वमेव भवतोऽस्ति न किञ्चिदन्यत्
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः॥'

अनुवाद : अतः स्पष्ट है कि लाकोत्तर प्रकाशमानता के परमार्थ से ओतप्रोत, स्वतंत्र एवं एकला (अभेदमय) चैतन्य-महेश्वर ही भिन्न भिन्न रूपों में प्रकाशमान है-क्योंकि इससे अतिरिक्त और किसी अप्रकाशरूपी पदार्थ में स्वयंप्रकाशमानता के स्वभाव का अभाव होता है। जैसा कहा गया है–

'(हे भगवन्!) 'तीर्थक्रियाव्यसनी' अर्थात् दूसरों को धर्मोपदेश देते रहने की लत वाले, ये विचारक लोग, अक्ल के घोड़े दौड़ाने से निर्धारित की गई संभावनाओं के द्वारा, जिस पदार्थ को परतत्त्व का नाम देते हैं, वे सारे आपके ही स्वरूप हैं-आपसे भिन्न और कुछ नहीं है, अतः विद्वान् लोग केवल संज्ञाओं को लेकर सिर खपाते रहते हैं।

कारिका-२८

ध्यानाकर्षण : प्रस्तुत कारिका से संबंधित कुछ शास्त्रीय शब्दों के अभिप्राय इस प्रकार हैं–

भ्रान्ति=भ्रम, मिथ्याभास, च=किन्तु, नाम=निश्चय से, अताद्रूप्यप्रतिभासन =किसी पदार्थ के ऐसे रूप का भास करा देना जो उसके असली रूप से बिल्कुल मेल नहीं खाता हो, वस्तुवृत्त=किसी पदार्थ को देखने की वेला पर उसकी आकार-प्रकारात्मक अवस्था, अध्यवसाता=किसी पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करनेवाला प्रमाता, असदर्थप्रतिभास=किसी पदार्थ के ऐसे रूप का भ्रम होना जो असत् हो, अध्यवसाय=निश्चयात्मक प्रतीति, सदर्थ प्रतिभास=भ्रान्ति के बल से किसी पदार्थ के असत् रूप पर ही उसका सत् रूप होने की मिथ्या प्रतीति। उल्लेख=मन में निरन्तर चिन्तन, विभ्रम=विशेष प्रकार का भ्रम, वास्तविक आत्मा पर अनात्म-आभास।

उपक्रमणिका : इदानीं भ्रान्तेर् असदर्थप्रतिपादनसामर्थ्ये निदर्शनम् आह–

अनुवाद : अब भ्रान्ति में किसी पदार्थ के अवास्तविक रूप को ही सिद्ध ठहराने की क्षमता के बारे में दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

रज्ज्वां नास्ति भुजङ्गस्त्रासं कुरुते च मृत्युपर्यन्तम्।
भ्रान्तेर्महती शक्तिर्न विवेक्तुं शक्यते नाम॥

अन्वय/पदच्छेद : रज्ज्वां भुजङ्गः न अस्ति, न मृत्युपर्यन्तं त्रासं कुरुते, नाम भ्रान्तेः महती शक्तिः विवेक्तुं न शक्यते।

अनुवाद : (वायु के आघात से सांप की तरह बल खाती हुई) रस्सी में वास्तविक सांप की आशङ्का नहीं होती है, परन्तु वह निश्चित मरण का जैसा भय उपजाती है, निश्चित रूप में भ्रान्ति की महान शक्ति को आंका नहीं जा सकता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : भ्रान्ते पूर्णत्व-अख्याति-रूपाया अताद्रूप्य-प्रतिभासने महती शक्तिः उत्तमं सामर्थ्यं न केनचिद् विवेक्तुं शक्यते न केनचिद् विचारयितुं पार्यते–इति यावत्।

अनुवाद : (कारिका का) संक्षिप्त आशय यह है कि (आत्मा की वास्तविक) परिपूर्णता का अज्ञान अथवा विस्मरण ही भ्रान्ति का रूप है। इसमें वर्तमान पदार्थ के अवास्तविक रूप की निश्चित प्रतीति करवाने के रूपवाली अपार क्षमता को कोई भी पुरुष आँक नहीं सकता है।

मूलग्रन्थ : यथा वस्तुवृत्तेन रज्जुः परिदृश्यमाना, दीर्घत्व-कुण्डलिनीरूपत्वभ्रमात् 'सर्पोऽयम्'-इति अध्यवसातॄणां रज्जुद्रव्येऽपि असदर्थप्रतिभासोऽयं सर्पाध्यवसायः, सदर्थप्रतिभासाद् भयं मरणावसायं विदधाति।

अनुवाद : जिस प्रकार 'वस्तुवृत्त' अर्थात् देखने के समय वायु के द्वारा हिलाये जाने के कारण सांप की तरह बल खाती हुई अवस्था में देखी जाती हुई रस्सी, लंबोतरी होने या कुंडली मारने की जैसी चेष्टाओं के द्वारा, अध्यवसाताओं के मन में यह सांप है'–ऐसी भ्रान्ति उपजा देती है। यह 'असदर्थप्रतिभास' अर्थात् रस्सीरूपी द्रव्य पर भी (सर्परूपी) असत् अर्थ का आभास, दूसरे शब्दों में भ्रान्ति होना ही सांप होने की निश्चित प्रतीति है। फलत: यह भ्रान्ति, 'सदर्थप्रतिभास' अर्थात् असत् सांप पर भी सत् सांप की प्रतीति, होने के कारण, निश्चित मरण का जैसा त्रास उत्पन्न कर देती है।

मूलग्रन्थ : अनुभवसिद्धम् अपि एतत्–'स्थाणुं भूतम् इति मत्वा, स्वयं भीषणीयं वा आकारं समुल्लिख्य भ्रान्ताः सन्तो हृद्-भङ्ग-नाशं के नाम न याताः? इति विभ्रम एव अपूर्णत्वप्रथने हेतुर्–इति॥

अनुवाद : अनुभव भी इस बात को सिद्ध कर देता है। (अंधेरे में) खंभे को देखकर भूत के भ्रम में पड़ने अथवा मन में किसी भयावह आकार का गहरा चिन्तन करने से घबराहट में पड़े हुए कितने ही लोग हृद्गति बंद होने के कारण मरे नहीं क्या? अत: 'विभ्रम' अर्थात् भगवान शिव की इच्छा से ही उत्पन्न विशेष प्रकार का भ्रम ही आत्मिक अपूर्णता का आभास करा देने का मूल कारण है।

कारिका-२९

उपक्रमणिका : एतत् प्रकृते समर्थयते–

अनुवाद : इस (रज्जु सर्प के) दृष्टान्त की, चालू संदर्भ में, पुष्टि कर रहा है–

मूलकारिका

तद्वद् धर्माधर्मस्वर्निरयोत्पत्तिमरणसुखदु:खम्।
वर्णाश्रमादि चात्मन्यसदपि विभ्रमबलाद् भवति॥

अन्वय/पदच्छेद : तद्वत् धर्म-अधर्म-स्वः-निरय-उत्पत्ति-मरण-सुख-दुखं वर्ण-आश्रम-आदि आत्मनि असत् अपि विभ्रम-बलात् भवति।

अनुवाद : उसी प्रकार धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक, जन्म, मरण, सुख, दु:ख, वर्णव्यवस्था, आश्रम और अन्यान्य शास्त्रीय विधान—ये सारे आत्मा के धर्म न होते हुए भी, अथवा अपने आप में असत् होते हुए भी, अख्याति के बल से सत्ता पाते हैं।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : एवं रज्जुः परमार्थसती भ्रान्त्या सर्पतया विमृष्टापि सर्पगताम् अर्थक्रियां करोति, तथैव देहात्ममानिनां चेतसि धर्मादि असद् अपि तत्त्वत अविद्यमानं विभ्रमवशात् माया-व्यामोह-सामर्थ्याद् एव भवति—एतद् एव तत्त्वम् इति भ्रान्त्या सत्तां लभते।

अनुवाद : जिस प्रकार रस्सी, जो कि असल में परमार्थसत् पदार्थ है, भ्रान्ति के प्रभाव से सांप समझकर विमर्श का विषय बनाई जाने पर, सांप की ही स्वाभाविक अर्थक्रिया करती हुई दिखाई देती है, उसी प्रकार (भौतिक) काया पर ही आत्म-अभिमान रखनेवालों के अंतस् में धर्म आदि, वस्तुतः असत् होते हुए भी, 'विभ्रम' अर्थात् माया से उत्पादित मोह के बल से ही सत्ता पा लेते हैं—अर्थात् 'ये धर्म आदि ही यथार्थ हैं' इस भ्रान्ति के सहारे से जीवन पाते हैं।

मूलग्रन्थ : धर्म अश्वमेधादिः, अधर्मो ब्रह्महननादिः, स्वः निरतिशया प्रीतिः, निरयो यातना, उत्पत्तिर्जन्म, मरणं जन्माभावः, सुखम् आह्लादः, दु:खं राजसः क्षोभः, तथा वर्णो ब्राह्मणोऽस्मि इत्यादि, आश्रमो ब्रह्मचारीत्यादि, आदिग्रहणात् तपः-पूजा-व्रतानि—इति सर्वं कल्पनामात्रसारं विभ्रमविजृम्भितम् एव, मायाशक्त्या देहादि आत्मतया अभिमन्यते।

अनुवाद : धर्म से अश्वमेध इत्यादि (वैदिक) अनुष्ठानों का, अधर्म से ब्रह्महत्या इत्यादि का, स्वः (स्वर्ग) से अत्यधिक 'प्रीति' अर्थात् रुचिवर्धक सुखभोग का, निरय (नरक) से 'यातना' अर्थात् यमलोक की

पीड़ा का, उत्पत्ति से जन्म लेने का, मरण से जन्म के अभाव का, सुख से मानसिक आह्लाद का, दु:ख से रजोगुण से जनित व्याकुलता का, और वर्ण से 'मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि विचारों का, आश्रम से ब्रह्मचारी इत्यादि का, 'आदि शब्द से तपस्या, अर्चना, व्रत इत्यादि (शास्त्रीय विधिविधान) का अभिप्राय है। इतने सारे जंजाल में केवल कपोल कल्पना का सार भरा है अत: यह और कुछ नहीं, बल्कि मात्र विभ्रम की जंभाई है। माया शक्ति के प्रभाव से (भौतिक) काया इत्यादि पर आत्माभिमान किया जाता है।

मूलग्रन्थ : एतत् सर्वं भ्रान्तेः प्रभवति यया अनवरतं स्वर्ग-नरक-जन्म-मरण-प्रबन्ध-भाजः पशवः, न पुनः परमार्थतः स्वात्मन अनवच्छिन्न-चिदानन्द-एकघनस्य धर्माधर्मादिकं किञ्चिद् विद्यते-इति।

अनुवाद : यह सारी दुर्दशा उसी भ्रान्ति से बल पाती है जिसके प्रभाव से पशुजन स्वर्ग-नरक-जीवन-मरण के सिलसिले को भोगते रहते हैं, नहीं तो परमार्थ की दृष्टि से विचारने पर मात्र अखंड चिदानन्दभाव से गठित स्वात्मदेव के लिए धर्म, अधर्म इत्यादि के घोटाले का कोई अर्थ नहीं है।

***संकेत** : कारिका में कहा गया है कि पारमार्थिक दृष्टि में धर्म, अधर्म इत्यादि का सद्भाव नहीं है। तात्त्विक दृष्टि रखनेवाले सिद्धजन इस कथन का तात्पर्य कुछ इस प्रकार लेते हैं। शैवमान्यता के अनुसार असत् शब्द से किसी ऐसे पदार्थ का अभिप्राय नहीं जिसकी काल्पनिक सत्ता भी न हो। असत् भी स्वत: एक प्रकार का सत् है। शशिशृंग, आकाशकुसुम इत्यादि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। इनकी भी काल्पनिक सत्ता है। धर्म, अधर्म इत्यादि यहां तक कि स्वयं भ्रान्ति भी पारमेश्वर-प्रकाश के ही प्रतिबिम्ब हैं। इनका नितांत अभाव सोचा भी नहीं जा सकता। ये असत् रूप में ही सत् हैं- विद्यमान हैं-प्रकाशमान हैं-कसमें खाकर झुठलाए नहीं जा सकते। फलत: कारिका का संदेश यह है कि जो वीर पुङ्गव व्यक्ति आत्मभाव की निर्मलता के बारे सचेत हों उन पर ये धर्मादि प्रभावी नहीं बन सकते, अत: ये उनके लिए सत् होते हुए भी असत् हैं। इसके विपरीत जो पशुजन घोरतरी-शक्ति के प्रभाव से इनके दलदल में दिनरात नीचे ही नीचे धंसते जा रहे हों, उनके लिए ये प्रतिक्षण सत् हैं।*

कारिका-३०

उपक्रमणिका : एवम् असद्-अर्थ-प्रतिभासने भ्रान्तेः सामर्थ्यं विचार्य तद् उत्पत्तिम् आह–

अनुवाद : इस प्रकार असत् पदार्थों को (सत् लगने वाले रूप में) अवभासित करने की दिशा में भ्रान्ति की क्षमता का परीक्षण करने के उपरान्त (अब) उसकी उत्पत्ति के बारे में कहता है–

मूलकारिका

एतत्तदन्धकारं यद् भावेषु प्रकाशमानतया।
आत्मानतिरिक्तेष्वपि भवत्यनात्माभिमानोऽयम्॥

अन्वय/पदच्छेदः प्रकाशमानतया आत्मा-अनतिरिक्तेषु अपि भावेषु (सत्सु) यत् अयम् अनात्मा-अभिमानः भवति, तत् अन्धकारम् एतत् (अस्ति)।

अनुवाद : प्रकाशमान होने के कारण (अर्थात् ज्ञान में अवस्थित होने के कारण) सारे भावों के, आत्मा से 'अनतिरिक्त' अर्थात् अनधिक और अपृथक्, होने पर भी, उनको 'अनात्मा' अर्थात् स्वात्मा से भिन्न, समझे जाने का जो अभिमान उत्पन्न हो जाता है, वह अंधकार ही भ्रान्ति है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : एतत् तद् अन्धकारम्-इत्येषा सा समनन्तर प्रतिपादिता विश्वमोहिनी पूर्णत्व-अख्यातिरूपा भ्रान्तिर् यद् भावेषु प्रामतृ-प्रमेय-रूपेषु विश्ववर्तिषु पदार्थेषु, प्रकाशमानतया-इति।

'.........................ना प्रकाशः प्रकाशते'।

इति प्रकाशमानता-अन्यथा-अनुपपत्त्या प्रकाशशरीरीभूतेषु, आत्मनश् चैतन्य-महेश्वराद् अपृथग्भूतेषु सत्स्वपि य अयम् 'अतिरेकेण अमी भावा ग्राह्या, बाह्या, मत्तो भिन्नाश्च'-इति अनात्माभिमानो वास्तव-चिद्रूपता-अपहस्तनेन यत् तेषु अवास्तवं जडत्व-आपादनम्।

अनुवाद : 'एतत् तद् अन्धकारम्'–इस कारिकांश का आशय यह है कि भ्रान्ति, जिसको पहले निर्धारित किया गया है; जो सारे विश्व को मोहित करनेवाली है और जिसका रूप स्वात्मा में पूर्णता का अज्ञान है, वह अंधकार है जो विश्व के अंतर्वर्ती प्रमातृरूप एवं प्रमेयरूप पदार्थों

के प्रति अनात्मत्व-अभिमान को उपजा देता है। 'प्रकाशमानतया' इस कारिकांश का तात्पर्य इस प्रकार है–

'अप्रकाशरूप (अर्थात् ज्ञान में न ठहरा हुआ) पदार्थ प्रकाशमान नहीं होता है'।

इस शास्त्र कथन के अनुसार प्रकाशमान न होने की दशा में किसी भी पदार्थ का स्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकता है फिर तो सारे विश्ववर्ती प्रमाता एवं प्रमेयों के रूपों वाले (स्वरूपतः सिद्ध) पदार्थों के प्रकाशमान होने, और इसी कारण से, 'चैतन्य-महेश्वर' अर्थात् चित्-प्रकाशमय आत्मदेव के साथ (निश्चित रूप में) अपृथक् होने पर भी जो यह–'ये सारे 'भाव' अर्थात् सत्ता वाले पदार्थ (चित्-प्रकाश से) अतिरिक्त रूप में ग्राह्य, बाहरी और मेरे से (सर्वथा) भिन्न हैं'-इस प्रकार का 'अनात्म-अभिमान' अर्थात् उनकी वास्तविक चित्-रूपता का अपलाप करके उन पर तथाकथित जडभाव को थोंप देना है (वही भ्रान्ति का अंधकार है)।

मूलग्रन्थ : अयम् आशयः–

'भावप्रकाशने अन्यस्य अप्रकाशरूपस्य बाह्य-वासनादेर् हेतोर् अनुपपद्यमानत्वात् स्वात्मप्रकाश एव स्वतन्त्रः-अर्थात् नील-सुखादिना प्रकाशते।'

अतः-'प्रमातृ-प्रमेय-रूपतया चित्स्वरूप अहम् एव प्रकाशे'–इति यद् वास्तवं रूपं तन्न प्रकाशते, केवलम् अवास्तवो भेदः प्रथते'–इति तात्त्विक-प्रथन-अभावाद् भ्रान्तेर् अन्धकारेण रूपणम्–इति।

अनुवाद : आशय इस प्रकार है–

'(वादियों के द्वारा प्रस्तुत) अनादि-वासना या अनादि-अविद्या के रूपवाले कारण तो स्वयं ही अप्रकाशमान हैं, अतः किसी दूसरे भाव को प्रकाशित करने में सक्षम सिद्ध नहीं हो सकते। इस कारण स्वात्मप्रकाश ही इस दिशा में 'स्वतन्त्र है' अर्थात् (किसी बाहरी कारण पर निर्भर रहने के विना स्वतंत्र इच्छामात्र से) नील एवं सुखरूपी प्रमेय पदार्थों के रूप में (स्वयं) प्रकाशमान है।'

फलतः (परिस्थिति यह है कि) 'प्रमातृभाव और प्रमेयभाव दोनों रूपों में मात्र चित्-स्वरूप 'अहम्=मैं' ही प्रकाशमान हूँ'-ऐसी जो वास्तविकता है वह (पशुओं के अंतस् में) प्रकाशमान नहीं है, उल्टे में केवल अयथार्थ भेदभाव ही (सर्वत्र) आभासमान है। इस प्रकार तात्त्विक जानकारी का

अभाव होने के कारण (कारिका में) भ्रान्ति का निरूपण अंधकार के रूप में किया गया है।

कारिका-३१

उपक्रमणिका : 'आत्मनि अनात्माभिमानपूर्वः, अनात्मनि आत्माभिमानो भवति'–इति प्रतिपादयन् भ्रान्ते सुतरां मोहरूपताम् आह–

अनुवाद : 'पहले आत्मा पर अनात्मता की मानिता होने के उपरांत अनात्मा पर आत्मता का अभिमान उद्भूत हो जाता है'–इसकी पुष्टि करने के साथ साथ भ्रान्ति की अत्यधिक मोहात्मकता का वर्णन कर रहा है–

मूलकारिका

तिमिरादपि तिमिरमिदं गण्डस्योपरि महानयं स्फोटः।
यदनात्मन्यपि देहप्राणादावात्ममानित्वम्॥

अन्वय/पदच्छेदः यत् अनात्मनि अपि देह-प्राण-आदौ आत्म-मानित्वम् इदं तिमिरात् अपि तिमिरम्, अयं गण्डस्य उपरि महान् स्फोटः (संवृत्तः)।

अनुवाद : जो काया, प्राण इत्यादि अनात्मा पदार्थों पर भी आत्म-मानिता रखने की लत है, यह मानो अंधेरे से भी बढ़कर अंधतमस छाया है, या गाल पर विशाल फोड़ा निकला है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : आदौ तावद् एकसंवित्-सतत्त्वेषु अपि भावेषु भेदमय-जाड्य-आपादनम् अख्यातितिमिरेण कृतं यत् स्वात्मन अभिन्नानां भावानां ततो भेदेन प्रथनम्, अत एव तिमिरमिव तिमिरम् अख्यातिः। यथा एकोऽपि चन्द्रश्चक्षुस्थेन रेखातिमिरेण द्विधा भास्यते द्वौ चन्द्राविति, तथैव अख्यातितिमिरम् एकम् अपि सर्वं स्वात्मस्वरूपं वस्तु भेदेन अनात्मरूपं प्रकाशितवत्।

अनुवाद : सबसे पहले अख्याति के अंधेरे ने इस स्थिति को उपजाया कि मात्र संवित् के सारवाले पदार्थों पर जडता का भाव थोप दिया। इसके फलस्वरूप स्वात्मा से बिल्कुल अभिन्न पदार्थ भी एकदम उससे भिन्न जान पड़ने लगे। इसलिए अख्याति का अंधेरा ठीक तिमिर रोग

(धुंधुरी) जैसा है। जिस प्रकार आंखों में वर्तमान रेखातिमिर (धुंधुरी रोग), चांद के वस्तुतः एक ही होने पर भी, उसको दोहरे रूप में भासमान बना देता है, उसी प्रकार अख्याति का तिमिर, सारे पदार्थों के, स्वात्मरूप होने के कारण, एकरूप होने पर भी, उनको अलग अलग अनात्म रूपों में प्रकाशित कर देता है।

मूलग्रन्थ : **एवम् अवस्थिते तिमिरम् अपरम् आयातम्-मोहान्मोह अयम् आपतितः-गण्डस्योपरि पिटक-उद्भवश्च, यद् अख्याति-अपहस्तित-चित्स्वरूपेषु अपि विश्ववर्तिषु पदार्थेषु जाड्यम् आपादितेषु मध्याद् उद्धृते व्यतिरिक्ते जडे देहप्राणादौ वेद्यखण्डे-'कृशोऽहम्, स्थूलोऽहम्, क्षुधितोऽहम्, सुखी अस्मि, न किञ्चिद् अहम्'-इति प्रमातृतया अनात्मभूते आत्ममानित्वम्-अताद्रूप्ये ताद्रूप्य-प्रतिपत्तिर्,-इति अतिवैशसम्।**

अनुवाद : ऐसी स्थिति में यह दूसरा तिमिर छा गया-मोह से दूसरा मोह उमड़ पड़ा-गाल पर फोड़े का उद्भव हो गया कि अख्याति के द्वारा चित्-स्वरूपता का ह्रास किए जाने से जडभाव पर पहुंचाए गए, विश्ववर्ती पदार्थों में से चुने हुए शरीर, प्राण इत्यादि के रूपवाले, आत्मा से भिन्न एवं जड वेद्यखंडों पर-'मैं (शरीर की ओर संकेत) कमज़ोर हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं भूखा हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं कुछ नहीं हूँ'-ऐसे प्रमातृभाव के द्वारा 'आत्म-मानिता' अर्थात् अतत्स्वरूपता पर तत्स्वरूपता का विश्वास किया जा रहा है। यह अतिविकट स्थिति है।

मूलग्रन्थ : **यदि तावद् आत्माभिमाने न विना वैशसम् अस्ति, तन् नील-सुखादिषु अपि अस्तु, मा वा कुत्रापि भूत्, यत् पुनः कतिपये जडे देहादौ लोष्टप्राये आत्मतया अहन्तारसाभिषेकः, अन्यत्र नील-सुखादौ इदन्तया अनात्मप्रतिपादनम्, एष एव पूर्णः संसारः शोचनीयो यद् अभिमानोपनतो द्वन्द्वाभिघातः कर्षति पशून् इति। यदुक्तं मार्कण्डेयपुराणे योगिन्या मदालसया-**

'यानं क्षितौ यानगतश्च देहो देहेऽपि चान्यः पुरुषो निविष्टः।
ममत्वमुर्व्यां न तथा यथा स्वे देहेऽतिमात्रं च विमूढतैषा॥ इति।

अनुवाद : यदि इस (थोथी) आत्म-अभिमानिता को छोड़ और कोई विकटता है तो वह सारे नील-सुखरूपी पदार्थों पर छाई हो या किसी भी पदार्थ पर छाई न हो, परन्तु यह जो केवल देह, प्राण आदि कई चुने हुए मिट्टी जैसे जड पदार्थों पर आत्मभावना रखकर उनको अहंता के रस से अभिषेक किया जाता है, और इतर नील-सुखादि पदार्थों को इदन्ता का

नाम देकर अनात्मरूप (जड) माना जाता है (विकटता पर भी अतिविकटता की स्थिति है)। यही तो शोचनीय संसारभाव की चरम-सीभा है कि (अनात्मा पदार्थों पर) आत्म-अभिमान रखने से जनित द्वन्द्वों की मार पशुओं को घसीटती जा रही है, जैसा कि योगिनी मदालसा ने मार्कण्डेय पुराण में कहा है–

'वाहन धरती पर है, और वाहन पर शरीर सवार है,
शरीर में भी कोई दूसरा पुरुष बैठा है,
ममता धरती के प्रति वैसी नहीं है जैसी अपने शरीर के प्रति है,
(हालांकि धरती ही इन सबों का आधार है)
यही तो मूढ़ता की अति है।

कारिका-३२

उपक्रमणिका : 'एवम् अख्यातिवशान् मिथ्याविकल्पैर् इत्थम् आत्मानं बध्नाति'-इति अह–

अनुवाद : (प्रस्तुत कारिका में ग्रंथकार) यह कहता है कि (परमशिव स्वयं संसारी प्रमाता के रूप में) पूर्वोक्त प्रकार से अख्याति के वश में पड़कर, मनगढंत विकल्पों के द्वारा, अपने आपको, इस प्रकार बंधन में डाल देता है–

मूलकारिका

देह-प्राणविमर्शन, धीज्ञान, नभः-प्रपञ्च, योगेन।
आत्मानं वेष्टयते चित्रं जालेन जालकार इव॥

अन्वय/पदच्छेद : चित्रं, जालकारः जालेन इव (प्रमाता) देह-प्राण-विमर्शन, धी-ज्ञान, नभः-प्रपञ्च, योगेन आत्मानं वेष्टयते।

अनुवाद : अचरज तो यह है कि जिस प्रकार मकड़ा (अपने ही मुख की लार से बुने हुए) जाल से स्वयं अपने को ही लपेटता है, उसी प्रकार (पशुप्रमाता) शरीर एवं प्राण की समीक्षा, बुद्धि के द्वारा निर्धारित निश्चय और शून्य एवं उसके विस्तार का गोरखधंधा–इन (विकल्पों) के संयोग से अपने आपको उद्वेष्टित कर लेता है।

संकेत *: इस कारिका में प्रयुक्त देह शब्द से जाग्रत् तथा देहात्माभिमानी, प्राण शब्द से सुषप्ति और प्राणात्माभिमानी, धी से स्वप्न*

एवं बुद्धयात्माभिमानी और नभ-प्रपञ्च से शून्यात्माभिमानी द्योतित होते हैं। इनके विषय में आगे कारिकाङ्क ३५ में चर्चा होगी।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : अख्याति-अपहस्तित-चैतन्यः सर्वः प्रमाता स्वोत्थैर् विकल्प-नि गडैर् व्यापकम् अपि आत्मानं वेष्टयते। कथम्? इत्याह देह-इत्यादि। देह-प्राणयोर् विमर्शनं, धियो ज्ञानं निश्चयः, नभसां प्रपञ्चो विस्तारः तत् योगेन देहादिविकल्पसंबन्धेन। यथा–

अनुवाद : सारे (पशु) प्रमाता, अख्याति के द्वारा जिनकी (मौलिक) चेतना का ह्रास हुआ होता है, अपने अंतस् में उठने वाले विकल्पों की बेडियों से स्वात्मा को, सर्वव्यापक होने पर भी, उद्वेष्टित करते हैं। किस प्रकार से? इस संदर्भ में 'देह' इत्यादि (कारिकांश) प्रस्तुत करता है। काया और प्राण की मीमांसा, बुद्धि से उत्पादित निश्चय और शून्य का प्रपञ्च इनके योग से अर्थात् शरीर ही आत्मा है इंत्यादि प्रकार के विकल्पों के साथ सम्बन्ध हो जाने से। जैसा कि उदाहरणार्थ–

मूलग्रन्थ : (क) कृशः, स्थूलो, रूपवान्, पण्डितश्च अस्मि-इति बाल-अङ्गनापामर-कार्षिका इत्थं स्वविकल्पेन देहम् एव आत्मत्वेन प्रतिपन्नाः।

अनुवाद : (क) बालक अपने दुबलापन, स्त्रियां अपनी मुटाई, छिछोरे लोग अपनी रूपवत्ता और खेतिहर अपनी पंडिताई के जैसे विकल्पों में डूबकर काया को ही आत्मा के रूप में स्वीकारते हैं।

मूलग्रन्थ : (ख) किञ्चिद् विवेचकंमन्याः–देहस् तावद् इहैव प्रलीयते, कुत अस्य आत्मत्वम्? अतो यः क्षुधितः, पिपासितः सोऽहम्–इति प्राणात्ममानिनश्च विवेचकंमन्यतराः।

अनुवाद : (ख) अपने आपको कुछ मात्रा तक विवेचक समझने वाले लोगों का मानना है कि–शरीर तो इस दुनिया में ही समा जाता है, इसमें आत्मभाव कहां से आ गया?

इन्हीं में से कई अपने को अपेक्षाकृत आगे बढ़े हुए विचारक समझने वाले प्राणात्माभिमानी लोग (इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए) कहते हैं कि–इसलिए (काया के अंदर ही) जिस तत्त्व को भूख या प्यास लगती है, वही (प्राण) 'अहम्=मैं' है।

मूलग्रन्थ : (ग) देह-प्राणौ जडौ लोष्टादिवत्, कुत अनयोर् आत्मभावः? ततः सुखी अहं, दुःखी अहम्–इति यः सुख-दुःखादि चेतते, स आत्मा–इति पुर्यष्टकाभिमानिनो मीमांसकादयोऽपि विवेचकतमाश्च।

अनुवाद : (ग) 'पुर्यष्टक' अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों और तीन अंत:करणों की सूक्ष्म काया, पर आत्माभिमान रखने वाले और अपने को सबसे उत्कृष्ट कोटि के विचारक समझने वाले मीमांसक इत्यादि लोग भी यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि–शरीर और प्राण दोनों मिट्टी इत्यादि की तरह जड हैं, अतः इन दोनों ही में आत्मभाव कहां से आ गया? फलतः-मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ–इस प्रकार (मैं-प्रतीति के द्वारा) सुख, दु:ख आदि को चेतने वाला तत्त्व ही (अर्थात् मैं-प्रतीति से अनुमेय और सुखिता इत्यादि उपाधियों से विशिष्ट तत्त्व) आत्मा है।

संकेत : *इस 'ग' अवतरण में मीमांसकों के साथ प्रयुक्त 'आदि' शब्द से बौद्ध दार्शनिकों की माध्यमिक (योगाचार) शाखा का अभिप्राय है।*

मूलग्रन्थ : (घ) एतत् सुख-दुःखाद्यपि बुद्धिधर्मः कथम् आत्मतया वक्तुं शक्यः? ततो देह-प्राण-धी-विकल्पनां यत्र अभावः स आत्मा–इति शून्याभिमानिनः। एवं यत् किञ्चिद् इदं भाति तन् न अहम् इति अप्रथारूपं शून्यम् एव सर्व-अपोहन-स्वभावम् आत्मा-इति नभः शब्देन उक्तः॥

अनुवाद : (घ) 'शून्य' अर्थात् सर्वाभाव या सर्वविनाश की अवस्था, को ही आत्मा मानने वाले शून्यात्मवादी बौद्धों का मंतव्य यह है कि–यह सुख, दु:ख आदि भी बुद्धि का धर्म है, अतः इसको भी आत्मा का नाम देना कहां तक सार्थक है? अतः जहां कहीं शरीर, प्राण और बौद्ध विकल्पों का पूरा अभाव हो वह (सर्वशून्य अथवा सर्ववैनाशिक) अवस्था ही आत्मा है।

इस प्रकार (कारिका में प्रयुक्त) 'नभः' शब्द से इस भाव को अभिव्यक्त किया गया है कि–'जो कुछ इदं रूप में भासमान है वह अहम् नहीं है, अतः पूर्ण ज्ञानाभाव के रूपवाला शून्य ही हरेक भासमान भाव का 'अपोहन' अर्थात् गोपन करने के स्वभाव वाला आत्मा है।

मूलग्रन्थ : तदपि शून्यं यदा समाधानावसरे वेधीकुर्वते–एतदपि शून्यं वयं न भवामः, तदा शून्यान्तरम् आत्मत्वेन विदधानाः 'न इति, न

इति'–इति ब्रह्मवादि-अभ्युपगत-तत्तत्-शून्य-परित्यागेन तां तां शून्यात्मतां परिगृह्णन्ति इति नभः प्रपञ्चः कारिकायां निरूपितः।

इत्थं संवित्-स्वरूप-अपर्यवसानात् शून्यात्ममानिनो योगिनः सुषुप्त-गुहा-निमग्ना जडात्मानो भ्रान्ता एव आत्मानं संवित्-स्वरूपम् अपि जाड्येन अनुबध्नन्ति।

अनुवाद : समाधि लगाने के अवसर पर जब उस शून्य को 'वेद्य' अर्थात् अनुभव के द्वारा ग्राह्य, विषय बनाया जाता है, तब (वेदकसत्ता के अवशिष्ट रहने के कारण सर्वाभाव न होने की दशा में) यह प्रतीति हो जाती है कि-'यह शून्य भी हमारा स्वरूप नहीं है'। ऐसी परिस्थिति में किसी दूसरे (सर्वाभावरूपी) शून्य को आत्मरूप में स्वीकारते हुए, ब्रह्मवादियों के द्वारा स्वीकृत, नेति नेति के द्वारा (वेद्य विषय बनते जाते) शून्यों को छोड़ते हुए, नई नई शून्यात्मकता का ग्रहण करते रहते हैं- (लेकिन यह अनवस्था समाप्त नहीं होती है।) कारिका में 'नभः प्रपञ्चः' इस इकट्ठे शब्द से यह उल्लिखित भाव अभिव्यक्त किया गया है।

इस प्रकार शून्य पर आत्ममानिता रखने के चक्कर में पड़े हुए जड आत्मा वाले योगी (अभावादी योगी), चित्-सत्ता के रूपवाली अन्तिम विश्रान्ति की भूमिका पर न पहुंच पाने के कारण, प्रगाढ़ निद्रा के अंधगह्वर में डूबकर और सही दिशा खोकर, संविन्मय आत्मा को भी जडभाव की ज़ंजीर से बांध देते हैं।

मूलग्रन्थ : चित्रम् इति आश्चर्यम् एतद् यदुत वैशसं, न एतत् स्वयं कर्तुं पार्यते–इति। अत्र दृष्टान्तम् आह–

यथा जालकारः कश्चित् कृमिर्वा स्वनिर्मितेन फेनेन जालम् आवरणं निर्माय सर्वतोगतम् आत्मानं वेष्टयते-स्वं स्वात्मनिधनाय बध्नाति, येन उत्तरत्र तत्रैव निधनं याति, तथा देहादि-आत्मानी तु स्वविकल्पकल्पितैः-'अहं, मम' इति विकल्पैः स्वात्मानम् एव बध्नाति। तथा च बौद्धाः–

'सत्यात्मनि परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रह-द्वेषौ।

अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥' इत्याहुः।

अनुवाद : 'चित्रम्' शब्द से यह भाव झलकता है कि यह सारा झमेला या तो कोई अचंभा या विकट उत्पात है, नहीं तो स्वयं अपनी ऐसी गति नहीं बनाई जा सकती। इस विषय में-'जालेन' इत्यादि (कारिकांश) में दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहा है–

जिस प्रकार मकड़ा या और कोई कृमि विशेष अपने ही मुख की लार से आवरण बनाकर चारों ओर से अपने को लपेटता है-अर्थात् (स्वयं) अपने आप को निश्चित मरण के लिए बंधन में डाल देता है-जिसके कारण आगे चलकर उसी में वह मर जाता है, उसी प्रकार शरीर इत्यादि पर आत्माभिमान रखने वाला व्यक्ति-'मैं, मेरा' ऐसे विकल्पों के द्वारा अपने को ही बंधन में फंसा रहा है। बौद्ध आचार्यों का कथन भी इस प्रकार है-

'किसी (मनगढंत) सत्य आत्मा को 'पर' की संज्ञा दी जाती है, अपना और पराया इस बटवारे से अनुग्रह या द्वेष जन्म लेते हैं, फिर तो इन दोनों के साथ संबंधित अन्य सारे दोष भी उपजते हैं?

संकेत *: इस कारिका में भगवान परमशिव की तिरोधानलीला का भाव संकेतरूप में अभिव्यक्त किया गया है। भगवान के पांच पारमेश्वर कृत्यों में तिरोधान भी एक है। तिरोधान शब्द से, निजी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा, स्वरूप के गोपन का अभिप्राय व्यक्त होता है। इसका दूसरा नाम पिधान-कृत्य भी है। तात्पर्य यह कि वस्तुतः परमपुरुष स्वयं स्वरूप गोपन करके और अणुभूमिका पर उतरकर, संसार के अनगिणत भावों के रूप में, स्वरूप की ही बन्धनलीला का अभिनय करता रहता है। अपनी ही स्वातन्त्र्यशक्ति को माया का रूप देकर स्वरूप को ही उद्भ्रान्त बना देता है। यही तो परमेश्वर के निग्रह की लीला का अद्भुत विस्तार है।*

कारिका-३३

उपक्रमणिका : कथन एष दुर्निवारो महामोहो देहादि-प्रमातृता-समुत्थः प्रलीयते? इति, भगवत्-स्वातन्त्र्यम् एव अत्र हेतुः-इति आह-

अनुवाद : शंका यह है कि काया इत्यादि पर प्रमातृबुद्धि रखने से उभरने वाला यह महान भ्रान्ति का अंधकार, जो सहज ही में हटनेवाला नहीं दिखता, किस प्रकार निलीन हो सकेगा? समाधान में- 'इसमें केवल परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा ही कारण बन सकती है'-यह उपदेश दे रहा है-

मूलकारिका

स्वज्ञानविभवभासनयोगेनोद्वेष्टयेन्निजात्मानम्।
इति बन्ध-मोक्ष-चित्रां क्रीडां प्रतनोति परमशिवः॥

अन्वय/पदच्छेद : निज आत्मानं स्व-ज्ञान-विभव-भासन-योगेन उद्वेष्टयेत्, परमशिवः, इति बन्ध-मोक्ष-चित्रां क्रीडां प्रतनोति।

अनुवाद : (पशु प्रमाता के रूप में अवस्थित परमशिव स्वयं) अपने चिन्मय आत्मभाव के स्वातन्त्र्य की अनुभूति के 'वैभव' अर्थात् निर्बाध प्रकाशमानता को (अंतस् में) निखारने की युक्ति के द्वारा अपने आपके बंधनों को खोलकर मुक्त कर देता है, परमशिव ऐसी ही बंधन में डालने और मुक्त करने की (तिरोधान एवं अनुग्रहमयी) अति अद्भुत क्रीडा का विस्तार करता है।

योगराजीय व्याख्या

(प्रस्तुत कारिका की टीका में आचार्य जी ने पहले कारिका के पूर्वार्ध में प्रयुक्त शास्त्रीय शब्दों का अलग अलग विश्लेषण इस प्रकार प्रस्तुत किया है–)

मूलग्रन्थ : स्वस्य आत्मनश् चैतन्य-लक्षणस्य, यद् ज्ञानं स्व-स्वातन्त्र्य-अवगमः, तस्य विभवो देहादि-अभिमान-गलनेन यच्चित्स्वरूपे पराहन्ता-चमत्काररूपस्य स्वस्वातंत्र्यस्य स्फीतत्वं-'चिदानन्द-एकघनः स्वतन्त्र अस्मि' -इति, तस्य बोध-स्वातन्त्र्य-स्वरूपस्य विभवस्य, भासनं प्रकाशः-'सर्वो मम अयं विभवः' इति बाह्यतया अभिमतस्य सर्वस्य स्वात्मनि एव स्वीकारः, तस्य योगः एवं परिशीलनक्रमेण आत्मनि यद् विमर्श-दाढ्यम्, एवम् एतेन स्वज्ञान-विभव-भासन-योगेन निजम् आत्मानं, न अन्यत उपनतं, चैतन्य-स्वभावम्, उद्वेष्टयते देह-प्राण-पुर्यष्टक-शून्य-परामर्शन-निगडैर् यो वेष्टित आसीत् तम् एव-'चैतन्यस्वरूपः स्वतन्त्र अस्मि'–इति विमर्शनेन पुनर् अपि भगवान् एव उद्वेष्टनं विगतवेष्टनं कुरुते–इति।

अनुवाद : 'चैतन्य' अर्थात् पारमेश्वर बोध एवं क्रिया के अविराम एवं शाश्वत स्पन्दन की पहचान वाले आत्मा, के 'ज्ञान' अर्थात् सहसिद्ध स्वतन्त्रता की निश्चयात्मक प्रतीति, के 'विभव' अर्थात् शरीर इत्यादि पर आत्ममानिता रखने का अंधकार छितर जाने पर उस चिन्मय आत्मभाव में उभरने वाले पर-अहंभाव की रसवत्ता के रूपवाले स्वभावसिद्ध स्वातन्त्र्य, की 'स्फीतता' अर्थात् 'मात्र चिदानन्दभाव की घनता के सारवाला मैं स्वतन्त्र हूँ' ऐसा अनूठा निखार, उसका (निखार का) 'भासन' अर्थात् 'यह सारा विश्वविस्तार मेरी ही विभूति है'- इस प्रकार बाहरी समझे जाने

वाले अशेष विश्व-विस्तार को निज आत्मभाव के साथ एकाकारता के रूप में अंगीकार,

ऐसे रूपवाले 'योग' अर्थात् एकाग्र एवं अखंड अनुसंधान से जनित दृढ़विमर्श के द्वारा अपने, किसी दूसरे से मांग कर न लाए हुए, आत्मा को (स्वयं) उद्वेष्टित करता है। उद्वेष्टित करने का तात्पर्य यह कि जो आत्मा शरीर, प्राण, पुर्यष्टक एवं शून्य को अपना वास्तविक रूप समझने की (भ्रान्ति रूपी) ज़ंजीरों से वेष्टित था, उसके वेष्टनों को-'मैं स्वतन्त्र चिन्मय आत्मा हूँ' इस प्रकार के (पर) अहंविमर्श के द्वारा वह परमेश्वर स्वयं ही (धीरे धीरे) खोल देता है।

मूलग्रन्थ : एवम् 'अख्यातिबलाद् आगंत स्वात्मनो देहादि आवरणम्, तत् पुनर् अपि ख्यातिबलाद् विनश्यति-इति स्वविकल्पकल्पित इयान् दोषः'-इति ग्रंथकृता तन्त्रसारे निरूपितम्–

'यो निश्चयः पशुजनस्य जडोऽस्मि कर्म संपाशितोऽस्मि मलिनोऽस्मि परेरितोऽस्मि।
इत्येतदन्यदृढनिश्चयलाभयुक्त्या सद्यः पतिर्भवति विश्वपुश्चिदात्मा॥ इति।

अनुवाद : 'इस प्रकार स्वात्मविस्मरण (अख्याति, भ्रान्ति) के प्रभाव से जो देह इत्यादि का आवरण आत्मभाव पर छा गया था, वह फिर भी 'ख्याति' अर्थात् स्वरूप परिचय (प्रत्यभिज्ञा) के सामर्थ्य से पूर्णरूप से गल जाता है, अतः यह दोष (स्वाभाविक नहीं प्रत्युत) विकल्पों की ही देन है'-इस तथ्य का निरूपण श्रीमान् ग्रंथकार ने तंत्रसार में इस प्रकार किया है–

'पशुजन के अंतस् में जो यह निश्चित अवधारणा बनी होती है कि-'मैं जड हूँ, कर्मफलों के जाल में फंसा हूँ, मैले स्वभाव वाला हूँ और अपने से भिन्न और किसी माया इत्यादि के द्वारा प्रेरित हूँ' इसके बिल्कुल उल्टे 'दृढ़निश्चय' अर्थात् 'मैं मलिन नहीं हूँ'-इत्यादि प्रकार की निश्चित प्रतीति को अपने अंदर अनुभव करने की युक्ति से तत्काल (वह पशुजन) पतिप्रमाता बनकर विश्वमय शरीर को धारण करने वाले चिन्मय आत्मभाव पर आरूढ हो जाता है।।'

मूलग्रन्थ : किमिति बध्नाति मुञ्चति च भगवान्? इत्याह-'इति बन्ध' इत्यादि।

इति प्राक् प्रतिपादितेन क्रमेण भगवान स्वतन्त्रः परमशिवः

पूर्ण-चिदानन्द-एकघन-लक्षणः स्वरूपगोपन-सतत्त्व-क्रीडाशीलत्वाद् अख्याति-अवभासन-पूर्वं स्वात्मानम् एव देहादि-प्रमातृता-आपन्नं विधाय स्वरूपं प्रच्छाद्य च बन्धं विदधाति, तथैव पुनः स्वेच्छातः स्वात्म-ज्ञान-प्रकाश-क्रमेण देहादि-प्रमातृता-बन्धं निवार्य स एव तं स्वात्मानं मोचयति-इति उभयथा बन्धमोक्ष-चित्रां संसार-अपवर्ग-स्वरूप-आश्चर्यमयीं क्रीडां खेलां प्रतनोति विस्तारयति।

अनुवाद : भगवान क्यों बन्धन में डालने (तिरोधान), और बन्धन से मुक्त करने (अनुग्रह) की क्रीडा करता है? इसका समाधान करने के हेतु **'इति बन्ध'** इत्यादि (कारिकांश) प्रस्तुत करता है–

'इस प्रकार पूर्वोक्त क्रम के अनुसार सारी विभूतियों से भरित परमशिव, परिपूर्ण चिदानन्दभाव की सघनता ही जिसकी मात्र पहचान है, एकल स्वतन्त्र अस्तित्व है। (संसारभाव को आभासमान बनाने की स्वयंसिद्ध रसिकता से) निजी चित्-स्वरूप का गोपन (तिरोधान) करने के सार वाली लीला का विस्तार करना उसका अकाट्य स्वभाव है–(रूप विस्तार का स्वभाव ही चैतन्य, और चैतन्य ही रूपविस्तार है। यदि ऐसी बात न हो तो चैतन्य ही काहे का? स्वभाव निरा स्वभाव है, इसमें क्यों और कैसे का कोई प्रश्न ही नहीं उठता)। इस कारण से वह (स्वात्म विस्मरण रूपी) अख्याति का अवभासन करके, स्वरूप को ही, शरीर इत्यादि पर आत्माभिमान रखने वाले प्रमातृभाव का भागी बनाकर, और (परिणामतः) स्वरूप का पूरा गोपन करके, बंधन को उपजाता है–(तिरोधान लीला)।

इसी ढंग पर फिर भी वह अपनी ही इच्छाशक्ति के सामर्थ्य से सर्वस्वतंत्र आत्मभाव की जानकारी को अनावृत करने के तार को पकड़कर, शरीर इत्यादि पर आत्ममानिता रखने के रूपवाले बंधन का निवारण करके, स्वयं को बंधनमुक्त बना देता है। इसी प्रकार संसार भावरूपी बंधन और अपवर्गरूपी मोचन के दो पार्श्वों वाली दैवी लीला का विस्तार करता है–(अनुग्रह)।

मूलग्रन्थ : 'एकाकी न रमाम्यहम्'–इति स्वभाव एव एष देवस्य यत् तां ताम् अपि अवस्थाम् आपन्नः, स्वस्वरूपरूपः सन्, सर्वत्र अनुभवितृतया प्रथते–इति एतद् एव स्वातन्त्र्यम्।

अनुवाद : 'मैं अकेला रममाण नहीं हूँ'–इस ईश्वरीय विमर्श के अनुसार क्रीडाशील चैतन्य-महेश्वर का यही (सहसिद्ध) स्वभाव है कि वह विविध अवस्था विशेषों में बैठता हुआ भी, केवल स्वरूपरूप पर प्रतिष्ठित रहकर, हरेक दिशा में, मात्र अनुभावी-सत्ता के रूप में (स्वयं) प्रकाशमान है।

यही (पारमेश्वर) स्वातंत्र्य की परिभाषा है।

संकेत : *प्रस्तुत कारिका में परमेश्वर की अनुग्रहक्रीडा का दिग्दर्शन कराया गया है। अनुग्रहक्रीडा की रममाणता में परमेश्वर कभी किसी विरले और शक्तिपात से पवित्रित भक्तजन के अंतस् में अकस्मात् ईश्वरीय वैभव को अनावृत कर देता है। वह भाग्यशाली व्यक्ति अपने को साक्षात् परमेश्वर रूप में और शेष विश्व को अपनी ही शक्तियों के विस्तार के रूप में अनुभव करने लगता है। यह रहस्य केवल और केवल स्वसंवेद्य है, परसंवेद्य नहीं। विवेकानन्द जैसे सिद्ध पुरुष की अनुभूति सबों की अनुभूति नहीं हो सकती, हां प्रचार माध्यमों का आश्रय लेकर लोगों को उपदेश देते रहने में भी कोई हर्ज नहीं है।*

कारिका-३४

प्रस्तुत कारिका में स्वात्म-महेश्वर की अपनी ही शक्तिमयी विलसमानता के आकारवाली, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के अंतरतम में समभाव से व्याप्त रहकर इनमें जीवन का संचार करने वाली एवं नित्य प्रकाशमयी तुरीया-शक्ति का वर्णन किया जा रहा है।

उपक्रमणिका : 'न केवलम् एतद्, यावद् अपरः कश्चिद् अवस्थाविशेष स्वस्मिन् रूपे विश्रान्तः एव अवभास्यते भगवता'-इत्याह–

अनुवाद : केवल इतना ही नहीं, प्रत्युत परमेश्वर (जाग्रत् आदि अवस्थाओं के अतिरिक्त), हमेशा 'स्वरूप' अर्थात् अंतर्मुखीन शक्तिरूप पर 'विश्रान्त' अर्थात् पूर्णरूप से स्थिर रहनेवाली, 'किसी दूसरी' अर्थात् नाम-रूप से अतिगत विशेष प्रकार की अवस्था का प्रकाशन भी करता है'- इस विचार को (अगली कारिका में) प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

सृष्टि-स्थिति-संहारा जाग्रत्स्वप्नौ सुषुप्तमिति तस्मिन्।
भान्ति तुरीये धामनि तथापि तैर्नावृतं भाति।।

अन्वय/पदच्छेद : सृष्टि: स्थिति:, संहार:, जाग्रत्, स्वप्न:, सुषुप्तम् इति तस्मिन् तुरीये धामनि भान्ति, तथा अपि तै: आवृतं न भाति।

अनुवाद : सृष्टि, स्थिति, संहार, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति–ये सारी (बहिरंग जागतिक) अवस्थाएँ मात्र उस (नाम-रूप से वर्जित) तुरीया धाम के आधार पर प्रकाशमान रहती हैं, परन्तु ऐसा होने पर भी वह (स्वप्रकाशमय तुरीयाधाम) उनसे ओझल होकर आभासमान नहीं होता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : विश्व अपेक्षया ये सर्गादयो, मायाप्रमातृगताश् च ये जाग्रद्-आदय अवस्थाविशेषास् त उभयथा एतस्मिन् भगवति आनन्दघने तुरीये धामनि चतुर्थे पूर्ण-अहन्तामये पदे, भान्ति-तद्विश्रान्ता: स्वरूपसत्तां कल्पित-प्रमातृ-अपेक्षया बाह्यतया लभन्ते।

अनुवाद : समूचे जगत्-भाव की अपेक्षाओं के अनुसार उभरने वाली सृष्टि इत्यादि, और हरेक पशुप्रमाता के साथ संबन्धित जाग्रत् इत्यादि अवस्थाओं के भेद, इस दिव्य विभूतियों से पूरिपूर्ण और आनन्द की सघनता से युक्त तुरीया-भूमिका, जो जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति की अपेक्षा से चौथी और परिपूर्ण-अहंभाव की उच्चतर पदवी है, के आधार पर प्रकाशमान रहते हैं। तात्पर्य यह कि इस अवस्था पर टिके रहने से ही वे बहिरंग रूप में पशुप्रमाताओं की आवश्यकताओं के अनुसार स्वरूपसत्ता प्राप्त कर लेते हैं।

मूलग्रन्थ : परमेश्वरभित्तौ यत् न प्रकाशते तद् बाह्यतया अपि न प्रकाशते। अत:–

'त्रिषु चतुर्थं तैलवद् आसेच्यम्' (शि०सू० ३, १०)

इति सर्वासु अवस्थासु तुरीयं रूपम्, अनुस्यूतत्वेन स्थितम्-इति परमार्थ:।

अनुवाद : 'परमेश्वर-रूपी चित्रपट अर्थात् सर्वात्मक संविद्-भाव में जिस किसी पदार्थ की विमर्शमयी प्रकाशमानता न हो उसका बाहरी जगत्भाव में भी प्रकाशन नहीं होता है। इसी कारण से–

'(जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन) तीनों अवस्थाओं में 'चौथी' अर्थात् तुरीया-अवस्था का अभिषेक (कपड़े के तार तार में फैलनेवाले) तेल की तरह करते रहना चाहिए'। (शि०सू०३, १०)

इस (भगवान शिव के द्वारा उपदिष्ट) सूत्र के अनुसार सारी (जाग्रत् आदि) अवस्थाओं में 'तुरीया का रूप' अर्थात् चिदानन्दभाव स्वत: सिद्धरूप में अनुस्यूत होकर वर्तमान रहता है-यही परमार्थ है।

मूलग्रन्थ : एतावता तत्र तैः स्वरूपम् आच्छादितं स्यान् न वा? इत्याह-'तथापि तैर् न आवृतं भाति', इति।

इत्थम् अपि तैः स्वरूपसत्तार्थम् आवृतम् अपि तेभ्यः समुत्तीर्णतया, सर्व-अनुभवितृतया सर्वत्र अवभासत एव। न पुनः तद्-आवरणेन पूर्णस्वरूपतां तत्र त्तिरोधत्त–इति शिवधाम सर्वासु अवस्थासु अपि सदैव परिपूर्णम्।

अनुवाद : 'इतनी ढेर सारी अवस्थाओं के उस पर आधारित होने के फलस्वरूप क्या उसका अपना ही स्वरूप ओझल नहीं होता होगा अथवा वैसा कुछ नहीं है?-इस शंका का शमन करने के हेतु 'तथापि तैर् न आवृतं भाति' इस कारिकांश को प्रस्तुत कर रहा है–

ऐसी स्थिति में भी अर्थात् अपने अपने रूप में सत्ता पाने के लिए उन अवस्थाओं के द्वारा आवृत होने पर भी, हरेक दिशा में वह तुरीया-चेतना उन अवस्थाओं से अतिक्रान्त और सब कुछ अनुभव करने वाली चेतना के रूप में अवश्य प्रकाशमान रहती है। ऐसी कोई आशंका नहीं कि किसी भी इतर अवस्था की आड से उसका निजी परिपूर्ण स्वरूप तिरोहित होता हो। फलत: वह 'शिवधाम' अर्थात् तुरीयारूप शिवचेतना सारी अवस्थाओं में भी हमेशा अपने परिपूर्ण रूप में रममाण रहती है।

संकेत *: पाठक शायद पहले समझाए गए प्रतिबिंबवाद के सिद्धान्त को अभी तक भूले न होंगे। प्रतिबिंबग्राही दर्पण अपने में अनगिनत प्रतिबिंबों के अंकित होने पर भी निजी दर्पणत्व को गंवा नहीं बैठता है। प्रतिबिंबों को प्रकाशित करने के साथ साथ अपने स्वाभाविक दर्पण रूप में भी आभासमान रहता है। तुरीया नामवाली शाक्त-चेतना निजी प्रकाशमय स्वरूप में विश्वभर की अगणित अवस्थाओं के प्रतिबिंबों को युगपत् वहन करती और अपने अपने रूप में प्रकाशित करती हुई सदा स्वरूप में भी स्पष्टरूप में प्रकाशमान रहती है। हाँ केवल अनूभूति के नेत्र खुले होने चाहिएं।*

कारिका-३५

उपक्रमणिका : वेदान्तभाषाभिः जाग्रद्-आदीनां त्रयाणां स्वरूपं व्यवहरन्, तद् अनुस्यूतम् अपि ततः परं, तुर्यम् आवेदयति–

अनुवाद : (अब अगली कारिका में) वेदान्त-दर्शन की परिभाषाओं में जाग्रत् इत्यादि तीन अवस्थाओं का स्वरूप-निर्धारण करने के साथ साथ इस तथ्य की जानकारी प्रस्तुत कर रहा है कि यद्यपि तुर्य-अवस्था इन तीनों में 'अनुस्यूत' अर्थात् कुसुम-बास की भाँति कण कण में पिरोई हुई है, तो भी वह (स्वरूपतः स्वच्छ संविन्मयी होने के कारण) तीनों से 'पर' अर्थात् अतिक्रान्त अवस्था है–

मूलकारिका

जाग्रद्विश्वं भेदात् स्वप्नस्तेजः प्रकाशमाहात्म्यात्।
प्राज्ञः सुप्तावस्था ज्ञानघनत्वात् ततः परं तुर्यम्॥

अन्वय/पदच्छेद : भेदात् जाग्रत् विश्वं, प्रकाशमाहात्म्यात् स्वप्नः तेजः, सुप्त–अवस्था प्राज्ञः, ज्ञानघनत्वात् तुर्यं ततः परम् अस्ति।

अनुवाद : जाग्रत् अवस्था ही (परब्रह्म की) विश्व-अवस्था है क्योंकि इसमें (सारे प्रमेय-विषयों में पारस्परिक) भिन्नता का साक्षात्कार हो जाता है, स्वप्न अवस्था ही (परब्रह्म की) तेज-अवस्था है क्योंकि इसमें 'प्रकाश' अर्थात् विकल्पमय विषय-प्रकाशन की महिमा होती है, सुषुप्ति-अवस्था ही (परब्रह्म की) प्राज्ञ अवस्था है क्योंकि यह 'ज्ञानघनत्व' अर्थात् (प्रमेयता के अवसुप्त संस्कारों से धुंधले) स्वरूपज्ञान की अवस्था होती है और इन तीनों से 'पर' अर्थात् अतिक्रान्त अवर्णनीय अवस्था (परब्रह्म की) 'तुर्य-अवस्था' अर्थात् आनन्द की रसवत्ता से सराबोर और प्रमेयता के लेशमात्र संस्कारों से भी रहित चौथी शुद्ध आत्मप्रकाश की अवस्था होती है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : जाग्रद्-अवस्था एव विश्वं-ब्रह्मणो वैराजं स्वरूपम्। कुतः? भेदात् शब्दादिविषयपञ्चकस्य, बाह्यतया परमेश्वरसृष्टस्य एव, सर्वप्रमातृणां चक्षुर्-आदि-इन्द्रिय प्रवृत्तेः–इति एकस्य एव ब्रह्मणो विषय-विषयि-भावेन स्थितस्य नाना-इन्द्रियज्ञान-वैचित्र्यम्।

अनुवाद : (सर्वसाधारण प्रमाताओं की) जाग्रत्-अवस्था ही विश्व-अवस्था है–अर्थात् यही परब्रह्म का 'वैराज' अर्थात् विराट् विश्वमय रूप है। (शंका) ऐसा क्यों है? (समाधान) क्योंकि इसमें चतुर्दिक् भेदभाव की व्यापकता होती है। भाव यह कि (इस अवस्था में) परमेश्वर के ही द्वारा उत्पादित शब्द इत्यादि पांच प्रमेयविषयों में भासित होनेवाले भेदभाव के ही अनुसार सारे प्रमाताओं की नेत्र इत्यादि पांच ज्ञानेन्द्रियां भिन्न भिन्न ज्ञेय पदार्थों की जानकारी प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त हो जाती हैं। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि परब्रह्म, वस्तुतः एक ही अस्तित्व होने पर भी, स्वयं ही, 'विषय' अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध, और 'विषयी' अर्थात् उन पांच विषयों का ज्ञान कराने वाले कान, त्वचा, नेत्र, रसना एवं घ्राण–इन दोनों पर आधारित विषय-विषयी-भाव संबन्ध में अवस्थित है, और उसकी यही स्थिति नाना प्रकार के इन्द्रियबोध की 'विचित्रता' अर्थात् अनगिणत विलक्षणताओं का विश्व कहा जाता है।

मूलग्रन्थ : अत एव शिवसूत्रेषु–

'ज्ञानं जाग्रत्' (शि०सू० १, ८)

इति। एषा ब्रह्मणो विराट्-अवस्था गीयते। यच् श्रुतिः–

'(यो) विश्वचक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो हस्त उत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां नमते संयजत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन्देव एकः॥

(योगराजसंमतः पाठः)

(ऋ०सं० १० मं० ६ अ० ८१ सू० ३ मंत्र) इति।

अनुवाद : इसी कारण से शिवसूत्र में–

'ज्ञानं जाग्रत्' (शि०सू० १, ८)

'ज्ञानं' अर्थात् भिन्न भिन्न ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त किया जाने वाला भिन्न भिन्न ज्ञेय-विषयों का ज्ञान ही जाग्रत्-अवस्था है– ऐसा कहा गया है। इस अवस्था को परब्रह्म की विराट्-अवस्था कहा जाता है जैसा कि इस वेदमंत्र से स्पष्ट होता है–

'(जो परब्रह्म) विश्व भर की आंखों से युक्त, विश्व भर के मुखों को धारण करनेवाला, विश्वभर में फैलाए हुए हाथों वाला और विश्व भर के चरणों से गतिशील है, वह स्वयं यज्ञीय अनुष्ठानों को संपन्न करनेवाले रूपों के दोनों भुजाओं के द्वारा अपनी वन्दना कर रहा है, और अकेला ही

(=किसी सहायक सामग्री के विना) स्वर्गलोक और पृथिवीलोक की रचना कर देता है।

(ऋ०सं०मं० १० अ० ६ सू० ८१ मंत्र ३ योगराजसंमत पाठ)

संकेत *: शाखाभेद के अनुसार वेदमंत्रों में पाठभेद पाए जाते हैं। तात्पर्य में कोई भिन्नता नहीं होती है। इस उल्लिखित वेदमंत्र का कश्मीरसंमत पाठ भिन्न है। प्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य को भी वही पाठ समंत है। अत: पाठकों की सुविधा के लिए कश्मीरसंमत पाठ रूपान्तरणसहित नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है–*

मूलपाठ: (यो) विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहरुतविश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एक:।।

रूपान्तरण : (जो परब्रह्म) चारों ओर खुली हुई आंखों वाला, विश्व भर के मुखों वाला, सारे विश्व में फैली हुई भुजाओं से युक्त और चारों ओर गतिशील चरणों से युक्त है, वही परमेश्वर अपनी भुजाओं से स्वर्गलोक में, और गतिशील चरणों से पृथिवीलोक में भली-भाँति जीवन डाल देता है। इस प्रकार दोनों लोकों की रचना करता हुआ वह स्वयंप्रकाश परमेश्वर किसी भी सहायक-सामग्री पर निर्भर न होने के कारण बिल्कुल एक ही है।

(ऋ०सं० सायणभाष्य, वैदिक संशोधन मंडल, तिलक मेमोरियल, पूना २, १९४६ संस्करण, पृष्ठ ५६३)

मूलग्रन्थ : **तथा स्वप्न: तेजोऽवस्था ब्राह्मण:। कुत:? इत्याह– 'प्रकाशमाहात्म्यात्' इति।**

स्वप्ने बहिष्-करणानि शब्दादौ विषये तावन् न प्रगल्भन्ते, नापि तत्र शब्दादिकं नाम किञ्चित् परमार्थसत् विद्यते, नापि बाह्यतया अध्यवसायस्य अविद्यादि किञ्चित् भिन्नम्, अभिन्नं वा, कारणान्तरम् उपलभ्यते-युक्त्या विचार्यमाणं वा उपपद्यते।

अनुवाद : उसी प्रकार (सर्वसाधारण प्राणियों की) स्वप्न-अवस्था (परब्रह्म की 'तेज-अवस्था' अर्थात् स्वात्म-प्रकाशन की अवस्थ है। ऐसा क्यों है? इसका समाधान करने के अभिप्राय से 'प्रकाशमाहात्म्यात्'-यह पद्यभाग प्रस्तुत कर रहा है–

यह तो सिद्ध बात है कि स्वप्न-अवस्था में बाहरी (स्थूल) ज्ञानेन्द्रियां शब्द आदि प्रमेय पदार्थों का साक्षात्कार करने के लिए सक्षम

नहीं होती हैं और न उस अवधि में (अनुभव किए जाने वाले) शब्द आदि विषयों में से किसी का भी पारमार्थिक (वास्तविक) सद्भाव ही वहां होता है। दूसरी ओर तार्किक युक्तियों के बल पर गहरा मनन करने पर भी (उस स्वप्नकाल में) 'बाह्यरूप' अर्थात् जाग्रत-अवस्था की ही भाँति उत्पन्न होनेवाले 'अध्यवसाय' अर्थात् निश्चयात्मक प्रतीति का कोई, संबद्ध या असंबद्ध, अविद्या इत्यादि रूपों वाला इतर कारण भी कहीं उपलब्ध नहीं होता है।

मूलग्रन्थ : अथ च स्वप्ने सर्वं प्रकाशते। अत इदम् अर्थबलाद् आयातं यत्–

स एव भगवान् स्वस्वभावो देवः, तत् तत् प्रमातृतां समाविष्टः स्वप्नायमानः, स्वात्मानम् एव प्रकाशस्वातन्त्र्याद् गृह-नगर-अट्टाल-आदि-अनेक-प्रमेय-वैचित्र्य-रूपतया प्रविभज्य प्रतिप्रमातृ स्वप्ने असाधारणम् एव विश्वं प्रकाशयति एव–इति ब्रह्मणः स्वातन्त्र्यं स्वप्न एव ब्रह्मवादिभिर् अभ्युपगतम्। यतो वेदोन्तेषु इदम् उक्तम्–

'प्रविभज्यात्मनात्मानं सृष्ट्वा भावान् पृथग्विधान्।
सर्वेश्वरः सर्वमयः स्वप्ने भोक्ता प्रकाशते।।

इति। प्रकाशमाहात्म्यम् एव अत्र हेतुः। अतः स्वप्नो ब्रह्मणस् तेजोऽवस्था–इति।

अनुवाद : लेकिन, ऐसा होते हुए भी, स्वप्न-अवस्था में (जाग्रत की ही भाँति) सारे (शब्द इत्यादि) प्रमेय-विषय प्रकाशित हो जाते हैं। अतः अर्थबल से यह बात समझ में आती है कि–

वही ऐश्वर्यशाली और सर्वस्वतन्त्र स्वभाववाला चित्-देव, आत्म-प्रकाशन की स्वतन्त्रता के कारण, स्वप्न-अवस्था में स्वयं भिन्न भिन्न प्रकारों के प्रमाताओं के रूपों में समाविष्ट होकर (आत्मरूप में समाकर), और स्वरूप का ही घर, नगर, अटारी इत्यादि अनेकानेक विलक्षण प्रमेय पदार्थों के रूपों में विभाग करके, हरेक स्वप्न-प्रमाता की स्वप्न-अवस्था में बिल्कुल 'असाधारण' अर्थात् जिसको उस स्वप्न-प्रमाता के अतिरिक्त कोई दूसरा न देख सकता हो, विश्व को अवश्य प्रकाशित कर देता है। इसी कारण से ब्रह्मवादियों (वेदान्तियों) का मानना यह है कि केवल स्वप्न-अवस्था में परब्रह्म के स्वातन्त्र्य की अनुभूति हो जाती है, क्योंकि वेदान्त में इस प्रकार कहा गया है–

'सबों का नियामक और सर्वमय (परब्रह्म), स्वयं ही स्वरूप का विभाग करके नाना प्रकार के प्रमेय-विषयों को उपजाकर, स्वप्न-अवस्था में, स्वयं ही उन विषयों के उपभोक्ता के रूप में प्रकाशमान रहता है।'

इस कथन के अनुसार केवल (आत्म) प्रकाश की महिमा इस सारे स्वप्न-प्रपंच का मात्र कारण है अतः स्वप्न-अवस्था परब्रह्म की तेजोमयी-अवस्था मानी जाती है।

मूलग्रन्थ : तथा 'प्राज्ञः सुप्तावस्था'-इति। सर्वप्रमातॄणां या सुप्त-अवस्था सुषुप्तं सा प्राज्ञः इति ब्रह्मणः प्राज्ञावस्था, इति। यतः सर्वप्रमातॄणां ग्राह्य-ग्राहक-प्रपञ्च-विलयात् महाशून्यत्वरूपे ग्राह्यादिविलये संस्कारशेषे सुषुप्ते, विश्वस्य बीजभूतस्य ब्राह्मण एव प्रज्ञा-ब्रह्म प्रज्ञातृतया अन्तरतमम् अवशिष्यत्–इति यावत्। सर्वस्य प्रमातुः नील-सुखादि-विश्ववैचित्र्य-प्रथायाः सा एषा संस्कारभूमिः–ततः प्रबुद्धस्य प्राग् अनुभूतवद् व्यवहारदर्शनात्।

अनुवादः उसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्था (परब्रह्म की) प्राज्ञ-अवस्था मानी जाती है। तात्पर्य यह कि सर्वसाधारण प्रमाताओं के लिए जो 'सुषुप्ति' अर्थात् गहरे स्वाप की अवस्था है उसी को परब्रह्म की प्राज्ञ-अवस्था माना जाता है। कारण यह है–

'सुषुप्ति' अर्थात् गहरे स्वाप की अवस्था में सर्वसाधारण प्रमाताओं का सारा प्रमेय-भाव एवं प्रमातृभाव का प्रपंच विलीन हो जाता है। इसके फलस्वरूप (हरेक प्रमाता के) बहिरंग प्रमेय-विषयों का उस असीम शून्यत्व रूपी स्वाप में लयीभाव हो जाता है अर्थात् (वे नष्ट नहीं हो जाते हैं प्रत्युत संस्कार बनकर अन्तःकरणों में अवसुप्त अवस्था में पड़े रहते हैं। ऐसी दशा में (उन सुषुप्ति में पड़े हुए प्रमाताओं के) अंतस् में केवल, समूचे विश्व का बीज बने हुए, परब्रह्म की 'प्रज्ञा' अर्थात् आत्मचेना अवशिष्ट रह जाती है। स्पष्ट ही सुषुप्ति-अवस्था सारे प्रमाताओं के लिए नील एवं सुखरूपी विश्ववैचित्र्य के अवबोध के संस्कारों की भूमि होती है क्योंकि हरेक प्रमाता सुषुप्ति से उठने के उपरान्त फिर भी पूर्व अनुभवों के अनुकूल आदान-प्रदान करने लगता है।

मूलग्रन्थ : अन्यथा यदि अस्यां भूमो स्थिरं प्रज्ञातृस्वभावं सर्वक्रोडीकारेण ब्रह्म न प्रकाशिष्यत, कुतः तद-उत्थितस्य प्रमातुः प्राग् अनुभूतवस्तुनः 'तथैव एतत्'–इति अनुभूतचरत्वेन स्मृतिर् उदपत्स्यत? नापि 'सुखम् अहम् अस्वाप्सम्, दुःखम् अहम् अस्वाप्सम्, गाढमूढ अहम्

आसम्'–इति अनुभवः प्रादुरभविष्यत्, इति। तथा च भट्टदिवाकर- वत्सः–

'सर्वेऽनुभूता यदि नान्तरर्थास्त्वदात्मसात्कारसुरक्षिताः स्युः।

विज्ञातवस्त्वप्रतिमोषरूपा काचित् स्मृतिर्नाम न संभवेत् तत्॥' इति।

अनुवाद : इसके उल्टे में यदि इस सुषुप्ति भूमि में प्रज्ञातृभाव के कूटस्थ स्वभाव वाला परब्रह्म, सब कुछ स्वरूप में संमाकर, निरन्तर रूप में प्रकाशमान न होता तो उससे (सुषुप्ति से) उठे हुए प्रमाता के अंतस् में पहले के अनुभव किए हुए पदार्थों की–'हां यह पदार्थ वैसा ही है' ऐसे पूर्व अनुभव के आकारवाली स्मृति का अभ्युत्थान ही कहां से होता? साथ ही वैसे प्रमाता में-'मैं आराम से सोया था, मैं बेचैनी में सोया था, मैं गहरी बेसुधी में पड़ा था' ऐसे ऐसे (स्वापकालीन) अनुभवों का आविर्भाव भी कभी नहीं होता। भट्टदिवाकरवत्स ने भी कहा है–

'(हे परमपुरुष!) मेरे अंतस् में, पहले के सारे अनुभूत पदार्थ (सुषुप्तिकाल में) यदि आपके आत्मभाव के साथ एक होकर सुरक्षित न रहते, तो पहले जाने हुए पदार्थों को विस्मृति में डूबने न देने के आकारवाली कोई स्मृति, निश्चित रूप में, उत्पन्न ही नहीं होती।

मूलग्रन्थ : इत्थं सुषुप्तं चिन्मयम् एव ब्रह्मणः प्राज्ञावस्था इति गीयते। कुतः? 'ज्ञानघनत्वात्'–इति।

"सुषुप्त-तुर्ययोः साधारण अयं हेतुर् इति उभयत्र योज्यम्। एषा सुषुप्तभूमिः ज्ञानघना प्रकाशमूर्तिः, केवलं विश्व-प्रलय-संस्कारेण ध्यामला सती शुद्धचिन्मयी न भवति–इति। यद् उक्तं स्पन्दशास्त्रे–

'ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या शक्त्या परमया युतः।

पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मयः॥' इति।

(स्पं०का० १, १८)

अनुवाद : इस विश्लेषण के अनुसार सुषुप्ति मात्र चित्-मयता की अवस्था है और इसी हेतु इसको परब्रह्म की प्राज्ञ-अवस्था कहे जाने का आदर दिया जाता है।

(शंका) इसका कारण क्या है?

(समाधान) क्योंकि यह (ग्राह्य-ग्राहक-भाव के क्षोभ से रहित) ज्ञानघनत्व की अवस्था है।

(क्षोभ से रहित) आत्मसंवेदन की घनता सुषुप्ति और तुर्या दोनों अवस्थाओं के लिए समान कारण है, अतः (कारिका में) इसकों दोनों के

साथ संबन्ध देना चाहिए- (अर्थात् सुषुप्ति क्यों? ज्ञानघन होने के कारण, तुर्या क्यों? ज्ञानघन होने के कारण)। केवल दोनों में यह अन्तर ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि–

(I) सुषुप्ति-अवस्था 'ज्ञानघन' अर्थात् (क्षोभरहित) आत्मसंवेदन की सघनता से युक्त 'प्रकाश' अर्थात् आत्मप्रकाश की मूर्ति तो है, परन्तु इस प्रकाशमानता पर विलीन विश्व के प्रसुप्त संस्कारों की धुंधलाई छाई ही रहने के कारण यह (सुषुप्ति) स्वच्छ चिन्मयता की अवस्था नहीं होती है। इस संदर्भ में स्पन्दशास्त्र में यह कहा गया है–

'शक्तिघन एवं सर्वव्यापक परमात्मा (जाग्रत् अवस्था में) केवल ज्ञेय विषयों का, और (स्वप्न अवस्था में) केवल मानसिक संकल्प-विकल्पमय ज्ञान का रूप धारण करने वाली महती विमर्शशक्ति के द्वारा प्रकाशमान रहता है, और अवशिष्टो 'पदों' अर्थात् सुषुप्ति और तुर्या में (क्रमशः अस्वच्छ एवं स्वच्छ) चित्-शक्ति के रूप में विलसमान रहता है।

(II) इसके प्रतिकूल तुर्या-अवस्था में विश्वविलय के साथ उसके संस्कार भी गले होते हैं, अतः वह 'विशुद्ध ज्ञानघनत्व' अर्थात् निर्मलतम आत्मप्रकाश की अवस्था कही जाती है।

मूलग्रन्थ : तथा 'ततः परं तुर्यम्'-इति। तस्मात् सुषुप्तात् परम् अन्यत् निःशेष-पाश-वासना-संस्कार-परिक्षयात् शुद्ध-पूर्ण-आनन्दमयं ब्रह्मणः तुरीयं रूपम् अनुगुणं नाम। यद् अत्र नाम अन्वर्थं किञ्चद् उपपद्यते अतो व्याख्यातस्य अवस्थात्रयस्य विश्रामभूतं सर्वान्तरत्वेन अनुस्यूतम्–इति चतुः-संख्या-पूरणेन तुर्यम् इति पूरणप्रत्ययेन संख्याव्यपदेश अत्र कृतः।

अनुवाद : उसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्था से परे तुर्या-अवस्था होती है। भाव यह कि उस सुषुप्ति-अवस्था से परे, सारे पाशों और वासनाओं के, संस्कारसहित, पूर्णतया गल जाने के कारण स्वच्छातिस्वच्छ और पूर्ण आनन्दमयी अवस्था परब्रह्म का तुरीय रूप है। इसको अपनी गुणवत्ता के अनुसार (तुरीय) यह नामकरण किया गया है। इस अवस्था को अभिव्यक्त करने के लिए कोई सार्थक नाम उपलब्ध न होने के कारण केवल 'तुर्या=चौथी' इस संख्यावाचक शब्द के द्वारा इसका निर्देश किया जाता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार तुर्य शब्द के साथ पूरणार्थक

(डक्) प्रत्यय लगा हुआ है। फलत: यह चौथी अवस्था पहले समझाई गई (जाग्रत् आदि) तीन अवस्थाओं की विश्रामस्थली है अर्थात् यह सारी अवस्थाओं के अंतरतम में (प्रतिसमय) अनुस्यूत होकर वर्तमान रहनेवाली अवस्था है।

मूलग्रन्थ : कथम् अवस्थात्रयस्य अनुस्यूतम् अपि तत् परम्? इति एतद् आह 'ज्ञानघनत्वात्'- इति। यतो जाग्रदादय अवस्थाः सर्वा भेद प्रवणत्वात् प्रमातृणाम् अज्ञानमय्यः। तुरीयं ग्राह्य-ग्राहक-क्षोभ-प्रलय-संस्कार-परिक्षयात् ज्ञानघनप्रकाशानन्दमूर्तिः, अतस् तद् अन्तस्थम् अपि ताभ्य अवस्थाभ्यश् चिन्मयतया समुत्तीर्णत्वात् परं अन्यत्-इति। एवम् अवस्था-विचित्रं परम-अद्वय-स्वभावं स्वतन्त्रं ब्रह्म एव पूर्णं विजृम्भते।

अनुवाद : (शंका) यह तुर्य-अवस्था (जाग्रत आदि) तीन अवस्थाओं के अंतरतम में पिरोई हुई होने पर उनसे अतिक्रान्त अवस्था कैसे हो सकती है? इसका समाधान 'ज्ञानघनत्वात्=ज्ञानघन होने के कारण' यह हेतु प्रस्तुत करके करता है। तात्पर्य यह कि सर्वसाधारण प्रमाताओं की जाग्रत् आदि तीन अवस्थाएँ भेदभाव में डूबी हुई होने के कारण अज्ञानमयी होती हैं। इसके प्रतिकूल तुरीया-अवस्था, प्रमेयभाव और प्रमातृभाव के क्षोभ एवं उसके संस्कारों के भी पूर्णतया नष्ट होने के कारण, (विशुद्ध) ज्ञान की घनता से भरी हुई, प्रकाश एवं आनन्द की अवस्था होती है, अत: उन (जाग्रत् आदि) तीन अवस्थाओं में अन्तर्निहित होने पर भी, चिन्मय होने के कारण, उनसे पर अवस्था मानी जाती है। पर शब्द से यहां पर अलग होने का अभिप्राय लिया जाता है।

फलत: सारी अवस्थाओं की विलक्षणताओं से भरपूर होने पर भी परम-अद्वैत स्वभाव से ओतप्रोत, स्वतन्त्र एवं सर्वव्यापक परब्रह्म ही अपनी परिपूर्णता में विलसमान है।

कारिका-३६

उपक्रमणिका : 'एवम् अपि शुद्धस्य परमात्मनः सर्व-प्रमातृ-अनुस्यूतत्वेन स्थितत्वात् अवश्यं प्रमातृगणगतम् अख्यातिमालिन्यम् आयाति'-इति यत्, 'तत् न'-इति दृष्टान्तेन आवेदयति-

अनुवाद : 'ऐसा मान लेने पर भी यह धारणा बनी रहती है कि परमात्मा सर्वसाधारण प्रमाताओं में 'अनुस्यूत' अर्थात् कण कण में समाए हुए

रूप में वर्तमान रहने के कारण, उन झुंडों के झुंड प्रमाताओं के अंतस् में छाई रहनेवाली स्वरूप-अपरिचय की कालिख से, अवश्य मैला होता होगा', (अगली कारिका में) दृष्टान्त के द्वारा इस आशंका का निवारण कर रहा है–

मूलकारिका

जलधर-धूम-रजोभिर्मलिनीक्रियते यथा न गगनतलम्।
तद्वन्मायाविकृतिभिरपरामृष्टः परः पुरुषः॥

अन्वय/पदच्छेदः यथा गगन तलं जलधर-धूम-रजोभिः न मलिनीक्रियते तद्वत् माया-विकृतिभिः परः पुरुषः अपरामृष्टः (भवति)।

अनुवाद : जिस प्रकार आकाश, बादल, धुआं या गर्द-गुबार से मैला नहीं बनाया जा सकता है, उसी प्रकार माया से जनित विकार परम-पुरुष को छू नहीं सकते हैं।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : यथा मेघ-धूम-धूलि पुञ्जैः आकाशस्थैः अपि आकाशपृष्ठम्, अमलिनं स्वभावतो, न मलिनं विधीयते, न अपि नित्यता-वैतत्य-खण्डनां नीयते, केवलं दर्पण-प्रतिबिम्बवत् तद् अवस्था-विचित्रं गगनं गगनम् एव–सर्वदा तथात्वेन प्रत्यभिज्ञानात्।

अनुवाद : जिस प्रकार बादल, धुआं या धूलिपुञ्ज आकाश में फैले हुए होने पर भी, स्वभाव से ही निर्मल अंतरिक्ष को न तो मैला बना सकते हैं और न उसकी नित्यता या विस्तार को खंडित कर सकते हैं। आकाश तो, प्रतिबिंब ग्राही दर्पण की भाँति, उन अवस्थाओं के द्वारा (मोटे तौर पर) बहुरंगी बनने पर भी (निर्मल) आकाश ही बना रहता है-क्योंकि निर्मल होना ही उसकी असली पहचान है।

मूलग्रन्थ : तद्वत् इति तथैव मायाविकृतिभिर् अख्यातिसमुत्थैर् विकारैर् नानाप्रमातृगतैर् जन्म-मरणादि-अनेक-विचित्र-अवस्थामयैर् भगवत्स्थैरपि भगवान् न परामृष्टः न तैर् अपहृतस्वरूपः, यतः स एव परः पुरुषः-इति सर्वपुरुषाणां जीवानाम् आद्य उल्लासो विश्रान्तिस्थानं च इति सर्व-अनुभवितृतया सदा स्फुरति इति 'परः' शब्देन निर्दिष्टः।

अनुवाद : उसी प्रकार 'मायीय-विकार' अर्थात् आत्मविस्मरण से उभरनेवाली कुत्सित मानसिक प्रवृत्तियां, जो कि जन्म-मरण इत्यादि

अनेक प्रकार की विलक्षण अवस्थाओं के रूपों में उभरकर अलग-अलग प्रमाताओं के साथ जुड़ी हुई होती हैं, (वस्तुतः) उस भगवान् (चित्-पुरुष) के आधार पर ही टिकी हुई होने पर भी उसी भगवान् के स्वरूप का गोपन नहीं कर सकती हैं-क्योंकि वही 'परमपुरुष' अर्थात् सारी जीवसृष्टि का मौलिक उद्‌गमस्थान और विश्रान्ति का स्थान भी है। (कारिका में प्रयुक्त) 'परः' शब्द से इस तथ्य का निर्देश दिया गया है कि वही परमपुरुष हरेक प्रमाता के अंतस् में अनुभविता के रूप में हमेशा स्पन्दायमान रहता है।

मूलग्रन्थ : तस्मात् न स्वसमुत्थैर् अप्रकाशरूपैर् मायाविकारैर् ऐन्द्रजालिकवद् भगवतः काचित् खण्डना–इति परमेष्ठिना अजडप्रमातृसिद्धौ अपि उक्तम्–

'यद्यप्यर्थस्थितिः प्राण-पुर्यष्टक-नियन्त्रिते।
जीवे निरुद्धा तत्रापि परमात्मनि सा स्थिता॥
तदात्मनैव तस्य स्यात्कथं प्राणेन यन्त्रणा।' इति।

(अ०प्र०सि० २०-२१)

अनुवाद : इसलिए भगवान को, स्वरूप से ही उभरने वाले इन जड मायीय विकारों के द्वारा किसी भी प्रकार की स्वरूपक्षति नहीं होने पाती, जिस प्रकार एक ऐन्द्रजालिक को अपने ही इन्द्रजाल से कोई क्षति नहीं पहुंच पाती है। हमारे परमगुरु के गुरु (भगवान उत्पलदेव) ने (अपनी प्रसिद्ध रचना) अजडप्रमातृसिद्धि में भी इसी बात को समझाया है–

"यद्यपि (मायाभूमिका पर) यह सारी 'अर्थस्थिति' अर्थात् इन्द्रियबोध से गम्य घट, पट जैसे स्थूल आकार-प्रकार वाले, और अनुभव से गम्य सुख, दुःख जैसे आकारहीन प्रमेय-पदार्थों की लीकबद्ध व्यवस्था, प्राण एवं पुर्यष्टक के नियन्त्रण में पड़े हुए जीव पर ही अटकी हुई है, तो भी (विवेक की दृष्टि से देखने पर) उस रूप में भी वह, वस्तुतः, परमात्मभाव पर ही आधारित है (क्योंकि जीव असीम चित्-भाव की तुलना में कितना ही निःसार एवं नगण्य होने पर भी मूलतः उसी का अंश है)

इस कारण से उस (असीम) चित्-भाव की प्रकाशमानता, उसके ही आत्मभूत, प्राणप्रमाता (जीव) के द्वारा कैसे निरुद्ध हो सकती है?"

(अ०प्र०सि०२०-२१)

कारिका-३७

उपक्रमणिका : 'ननु एकचिन्मात्रपरमार्था अपि पुरुषा विशिष्ट सुख-दुःखमोहजन्ममरणादि नाना-अवस्था-वैचित्र्य-भाजश्च'-इति कथम् एतत्? इति दृष्टान्त् आह–

अनुवाद : (शंका) 'परमार्थ' अर्थात् सब से उत्कृष्ट सत्य यह है कि सारे जीव, किसी भी भेदभाव के बिना, केवल चिन्मूर्ति हैं, परन्तु, साथ ही वे, भांति भांति के सुख, दुःख, मानसिक क्षोभ, जीना, मरना इत्यादि अलग अलग अवस्थाओं की विलक्षणताओं को भी लिए हुए हैं,–इस विरोधाभास का परिहार कैसे होगा?

इस शंका का निवारण करने के लिए दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

एकस्मिन् घटगगने रजसा व्याप्ते भवन्ति नान्यानि।
मलिनानि, तद्वदेते जीवाः सुखदुःखभेदजुषः॥

अन्वय/पदच्छेद : (यथा) एकस्मिन् घटगगने रजसा व्याप्ते (सति) अन्यानि मलिनानि न भवन्ति, तद्वत् एते जीवाः सुख-दुःख भेदजुषः (सन्ति)।

अनुवाद : (जिस प्रकार) एक 'घटगगन' अर्थात् घडे के अंदर का रिक्त अवकाश, में धूलिपुञ्ज फैल जाने पर दूसरे (घटगगन) धूसरित (गर्द से मैले) नहीं हो जाते हैं, उसी प्रकार ये जीव सुख, दुःख जैसे द्वन्द्वों की भिन्नताओं को धारण कर रहे हैं।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : **यथा एकस्मिन् कुम्भाकाशे धूलिपुञ्जसमाच्छादिते न अन्यानि घटाकाशानि, विमलानि अपि-आकाशत्व-अविशेषात्, मलिनानि रजसा आच्छादितानि भवन्ति। विमलं व्यापकं नित्यम् अपि हि गगनं यादृशं घटसङ्कोचसङ्कुचितं भवेत् तादृशम् एव तस्य एव घटस्य तद् भवति, न पुनः सर्वाणि घट-पट-आदि-आकाशानि 'कृष्ण-अगुरु-धूपितानि, मृगमद-अधिवासितानि, विठिर गन्धीनि वा,' एकाकाश-स्वरूपत्वात्, सङ्कीर्यन्ते-स्वगतघटादिकृतविच्छेदात्, प्रत्युत एकत्र अपि गगने वास्तवे स्थिते घटादयः स्वगत भित्तिसङ्कोचनियन्त्रिताः सन्तो नानागगनवैचित्र्यं प्रथयन्ति।**

इत्थं घटकृतः सङ्कोच एव गगनतया तथा अवशिष्यते–तथात्वेन अर्थक्रियाकारित्वात्, न पुनर् गनस्य एतत् किञ्चित् घटगतं मालिन्यादि स्वरूपतिरोधानाय भवति, न अपि परस्परं छटादि-अवच्छिन्नानां गगनानां व्यामिश्रणा–इति।

अनुवाद : जिस प्रकार एक घड़े के अंदर वाले अवकाश में गर्द–गुबार फैल जाने पर दूसरे घट-आकाश, जो कि आकाशरूपता में कोई अन्तर न होने के कारण स्वभाव से निर्मल होते हैं, धूलि–धूसरित नहीं हो जाते हैं। आकाश, स्वभाव से ही निर्मल, व्यापक और नित्य होने पर भी (तात्कालीन परिस्थिति के वश से), घड़े के परिमित आयाम के अनुसार जितना परिमित बन गया हो उसी अनुपात से केवल उसी घड़े का अंतराकाश धूलि–धूसरित हो जाता है। ऐसा तो नहीं है कि, अलग–अलग रूप में, काले चन्दन के धुएँ, कस्तूरी की बास या लाल चंदन की सुगन्ध से महकाए गए वे सारे घट–आकाश, पट–आकाश इत्यादि प्रकार के (कथित) आकाशखंड, एक ही आकाश के स्वरूप होने के कारण, पारस्परिक संकर में पड़ते हों–क्योंकि उनकी निजी सीमाएँ उन घट इत्यादि पदार्थों से ही उत्पादित अवच्छेदों से बंधी होती हैं। उलटे में होता ऐसा है कि वास्तविक आकाश तो, अपने स्थान पर, निजी अविखंडित रूप में ही अवस्थित रहता है, जब कि वे घट इत्यादि पदार्थ ही अपनी चारों ओर की भित्तियों के संकोच से नियंत्रित होते हुए नाना प्रकार के आकाशों की विलक्षणता को जन्म देते हैं। इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में घट की निजी सीमाओं के द्वारा उत्पादित इयत्ता ही वैसे घटाकाश के रूप में अवशिष्ट रह जाती है-क्योंकि (घड़े के भीतर) शून्य आकाश की जैसी ही अर्थक्रिया चलती रहती है, परन्तु आकाश के निजी (निर्मल इत्यादि) स्वरूप में ऐसी कोई भी त्रुटि नहीं होती है कि घड़े के साथ संबंधित मलिनता इत्यादि उसके स्वरूप को तिरोहित कर सकें, और घड़े इत्यादि पदार्थों के आयाम तक ही सीमित रहने वाले (घटाकाश, पटाकाश, मठाकाश इत्यादि) आकाशों का पारस्परिक मिश्रण ही होने पाए।

मूलग्रन्थ : तद्वत् इति तथैव अमी जीवा एकचिन्मात्रपरमार्था अपि पारमेश्वरीय मायाशक्त्या आणव-मायीय-प्राकृत-कोशत्रय-आवेष्टनेन पूर्ण

व्यापि चिदानन्द-एकघनं स्वरूपम् अपहस्त्य परिमितीकृताः, येन एकचैतन्य-आत्मन अपि स्वगत-कोशत्रय-विच्छेद-दौरात्म्यात् परस्परं भिन्नाः च–इति घटपटादि-आकाशवत्।

अनुवाद : उसी प्रकार ये सारे जीव, पारमार्थिक दृष्टि में केवल चिन्मात्रमूर्ति होने पर भी, परमेश्वरी मायाशक्ति के द्वारा, आणवमल, मायीयमल और कार्ममल इन तीन आवरणों से लपेटने और (असली) परिपूर्ण, सर्वव्यापक एवं मात्र चिदानन्दघन स्वरूप से विलगाने पर, संकोच की उस दहलीज पर पहुँचाए गए हैं कि वे चिदात्मरूप होते हुए भी, अपने आप में ही विद्यमान तीन कोशों से जनित अलगाव की खोट के कारण, घटाकाश और पटाकाश की भांति, एक दूसरे से अलग-थलग पड़ गए हैं।

मूलग्रन्थ : इत्थं मायीयकोशकृतो विच्छेद एव जीवतया व्यवह्रियते, न पुनः परमेश्वरे अनवच्छिन्न-चिदानन्द-एकघने-'जीवाः, पुरुषाः, आत्मानः, अणवः'-इति दर्शनान्तरदृष्टः कश्चिद् व्यवहारः।

एवम् आणव-आदि-कोश-अवच्छिन्ना जीवा अनादि-विचित्र-कर्म-मल-वासना-अधिवासित-नानादेहाः, नानाशया, नाना-पुण्य-पाप-स्वर्ग-नरक-सुख-दुःख-जन्म-मरण-आदि-द्वन्द्वभेद-भाजश्च सन्तो न अन्योन्यं संकीर्यन्ते–यथा नाना-द्रव्य-अधिवासितान घटादि-अवच्छिन्नानि घटाकाशानि–इति, सूपपन्नम्-'एक चिन्मात्र परमार्था अपि स्वविच्छेदाद् अन्योन्यभेदजुषश्च'–इति।

अनुवाद : इस प्रकार (तीन) मायीय कोशों से उत्पादित अलगाव ही वास्तव में जीवभाव कहलाता है, न कि इयत्ताओं से वर्जित और अखंडचिदानन्दघनता के स्वरूपवाले परमेश्वर की दृष्टि में–जीव, पुरुष, आत्मा, अणु'–इस तरह शैवेतर दर्शनों में समझाए गए किसी (द्वैतभाव पर आधारित) व्यवहार का अस्तित्व है।

फलतः आणवमल इत्यादि कोशों से जनित विच्छेदों में पड़े हुए सारे जीव, अनादि काल से चले आते हुए विचित्र प्रकार के कर्मों, मलों एवं वासनाओं की दुर्गन्ध से भरे हुए, अलग अलग आकार-प्रकारों के शरीरों को धारण करते हुए, अलग अलग इच्छाओं या चित्रवृत्तियों वाले और भिन्न भिन्न प्रकार के पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख, जन्म-मरण, इत्यादि प्रकार के द्वन्द्वभेदों का बोझ ढोते हुए होने पर भी पारस्परिक संकर में नहीं पड़ जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नाना प्रकार के सुगन्धिद्रव्यों से महकाए हुए और घट इत्यादि की ही सीमाओं से अलगाए

हुए अलग अलग घटाकाश पारस्परिक संकर में नहीं पड़ जाते हैं। इसलिए उल्लिखित कथन-'(सारे जीव) पारमार्थिक दृष्टि से भेदभाव के बिना केवल चिन्मात्रमूर्ति होने पर भी, स्वयं ही उत्पादित इयत्ताओं के कारण, एक दूसरे से भिन्न भी हैं'–बिल्कुल युक्तियुक्त है।

कारिका-३८

उपक्रमणिका: 'इत्थं जीवमण्डलगता अवस्थाविशेषा ये, ते केवलं भगवति उपचर्यन्ते, न पुनस् तत्त्वतस् त अत्र केचित्'-इति आह–

अनुवाद : 'इस प्रकार (विश्वभर के) जीवसमुदाय में जो भिन्न भिन्न प्रकार की अवस्थाएँ पाई जाती हैं, वे तो केवल परमेश्वर पर निरा औपचारिक रूप में आरोपित हो जाती हैं, जबकि तात्त्विक दृष्टि से देखने पर परमेश्वरस्वरूप में उनका कहीं सद्भाव ही नहीं है'-इस देशना को प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

शान्ते शान्त इवायं हृष्टे हृष्टो विमोहवति मूढः।
तत्त्वगणे सति भगवान् न पुनः परमार्थतः स तथा।।

अन्वय/पदच्छेद : अयं भगवान् तत्त्वगणे शान्ते सति शान्तः इव, हृष्टे सति हृष्टः इव, विमोहवति सति मूढः इव (उपचर्यते), न पुनः परमार्थतः स तथा (अस्ति)।

अनुवाद : यह भगवान इन्द्रियवर्ग के 'शान्त' अर्थात् कार्यविरत हो जाने पर शान्त जैसा (सात्त्विक प्रवृत्तिवाला जैसा) और (इन्द्रियवर्ग के) हर्षित होने पर हर्षित जैसा (राजसिक प्रवृत्ति वाला जैसा) और (इन्द्रिय वर्ग के) मोहित होने पर बेसुध जैसा (तामसिक प्रवृत्तिवाला जैसा) (कहलाया जाता है), परन्तु पारमार्थिक रूप में वह वैसा नहीं (है)।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : तत्त्वगणे इन्द्रियवर्गे शान्ते उपरते सति तद्गतः परमात्मा शान्तो नष्ट इव अभिमन्यते। एवं तस्मिन् हृष्टे साह्लादे सति स तथैव उपचर्यते। परतमोमये मूढे मोहवान् इति–यथा स्थावरयोनौ।

अनुवाद : इन्द्रियसमूह के 'शान्त' अर्थात् अपने अपने कार्य से विरत हो जाने पर, उनमें व्यापक रहनेवाला 'परमात्मा अर्थात् चैतन्यतत्त्व भी

'शान्त' अर्थात् नसा हुआ जैसा ही मान लिया जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियवर्ग के हर्षित होने पर आत्मा को भी औपचारिक रूप में वैसा ही खयाल किया जाता है। तमोगुण की अधिकता के कारण इन्द्रियवर्ग के मोहित हो जाने पर आत्मा को भी उपचारतः वैसा ही बेसुध समझा जाता है, जैसा कि वह (पहाड़, वृक्ष इत्यादि) स्थावर योनियों में दिखाई देता है।

मूलग्रन्थ : न पुनः परमार्थतो वस्तुवृत्तेन स परमेश्वरः तथा तेन प्रकारेण भवति

'सर्वो हि जडभाग उत्पाद्यः संहार्यो वा भवति, न पुनर्नित्ये भगवति बोधस्वभावे मायादिकञ्चुकगते विनाश-उत्पत्ती स्याताम्–इति भगवान् सदा समः।

अनुवाद : लेकिन परमार्थसत्य तो यह है कि वह सर्वोत्कृष्ट चिदात्मा इन सारे प्रकारों से अतीत है-अथवा-इन प्रकारों से आँका नहीं जाता है।

'(जीवाकाया का) समूचा जडभाग अवश्य उत्पाद और संहार का विषय बन जाता है, परन्तु (उसमें अवस्थित) नित्य और ज्ञानस्वभाव 'भगवान' अर्थात् दैवी विभूतियों से परिपूर्ण चिदात्मा, माया इत्यादि (छः) तत्त्वों से बने हुए कंचुक (पूर्वोक्त षट्कंचुक) के द्वारा परिवृत होने पर भी, विनाश और उत्पत्ति से रहित है, अतः वह (भगवान) 'सदा' अर्थात् जीवभाव या शिवभाव दोनों में समरस है'।

कारिका-३९

उपक्रमणिका : 'समुत्पत्तिक्रमेण आगता भ्रान्तिः पुनः ज्ञप्तिक्रमेण सुतरां समुन्मूलिता भवति-इत्यत्र स्वात्मन एव स्वातन्त्र्यम्'–इति आह–

अनुवाद : '(स्वाभाविक) सृष्टिक्रम के अनुसार (अवरोहक्रम के अनुसार) उदय में आई हुई भ्रान्ति (पीछे कारिकांक २८-३१ तक समझाई गई द्विमुखी अख्याति) फिर ज्ञानप्राप्ति के उपायक्रम (आरोहक्रम) को अपनाने से, संस्कारों के सहित, जड से उखाड़ी जाती है'। ऐसा करने में भी स्वात्मदेव ही स्वतन्त्र है। इस विषय में कहता है–

मूलकारिका

यदनात्मन्यपि तद्रूपावभासनं तत् पुरा निराकृत्य।
आत्मन्यनात्मरूपां भ्रान्तिं विदलयति परमात्मा।।

अन्वय/पदच्छेद: भगवान् पुरा यत् अनात्मनि अपि तत्-रूप-अवभासनं तत् निराकृत्य आत्मनि अनात्म-रूपां भ्रान्तिं विदलयति।

संकेत *: पहले समझाया गया है कि शैवप्रसङ्ग में भ्रान्ति से स्वात्मविस्मृति के रूपवाले आणवमल का अभिप्राय है। इस भ्रान्ति (अख्याति) के दो मुख हैं। १–शरीर, प्राण, पुर्यष्टक इत्यादि अनात्म पदार्थों पर आत्मविश्वास, और २–वास्तविक चित्-भाव (आत्मदेव) पर अनात्ममानिता।*

अनुवाद : भगवान (चैतन्यस्वरूप आत्मदेव) पहले (शरीर, प्राण इत्यादि) अनात्मा (जड) पदार्थों पर आत्ममानिता रखने के रूपवाली भ्रान्ति का निवारण करके (युगपत् ही) वास्तविक चैतन्य आत्मा पर अनात्मरूपता का अभिमान रखने की भ्रान्ति को चकनाचूर कर देता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : (अ) अनात्मनि अचेतनलक्षणे देहादौ-'स्थूलःकृशश्च अस्मि' इत्यादि यत् 'तद्-रूपता-अवभासनम्' अनात्मनि आत्मतया परामर्शनं तत् तस्मिन् पुरा आदौ एव निराकृत्य अहं चिदानन्दघन अनवच्छिन्नस्वभावः स्वतन्त्रः च–इति अकृत्रिम-अहन्ता-स्फुरणया कृत्रिमदेहादिप्रमातृताम् अपहृत्य,–

(आ) आत्मा एव विगलितदेहबन्धः परमात्मतां यातः सन् आत्मनि अस्मिन् स्फुरत्-रूपे विश्वपदार्थे प्रकाशवपुषि स्वाङ्गकल्पेऽपि या भ्रान्तिः देहादि-प्रमातृता-अभिमान-जनिता भेदप्रथा तां विदलयति 'अहम् एव एको विश्वात्मना स्फुरामि'–इत्येवं चूर्णीकरोति।

अनुवाद : (अ) 'मैं दुबला हूँ, मैं मोटा-ताजा हूँ'-इत्यादि रूपों में जो अनात्मरूप (जड) शरीर इत्यादि पर ही आत्मबुद्धि रखने के रूप वाला भ्रम है, उसका निवारण करके–

'तात्पर्य यह कि–'मैं चिदानन्दभाव की सघनता से भरपूर, इयत्ताओं से रहित स्वभाववाला और स्वतन्त्र हूँ'–इस प्रकार के 'अकृत्रिम' अर्थात् परमेश्वर के शक्तिपात से अंतस् में स्वयं उद्भूत, अहंभावमय स्पन्दन के बल से अस्वाभाविक देहप्रमातृभाव (भ्रान्ति का पहला मुख) को दुतकारने के उपरान्त'–

(आ) स्वयं आत्मदेव ही, कायिक-ममता का बंधन गल जाने के फलस्वरूप परमात्मभाव की ओर अग्रसर होता हुआ, इस सारे प्रमेय विश्व

को, उसके नित्य स्पन्दनशील, प्रकाश के ही आकारवाला और स्वरूप का ही अभिन्न अंग जैसा होने पर भी, स्वरूप से भिन्न समझते रहने की दूसरी भ्रान्ति को भी मटियामेट कर देता है। यह भेदधारणा (जड़ एवं नश्वर) शरीर इत्यादि पर प्रमातृभाव का (थोथा) अभिमान रखने से उपजी हुई होती है। (स्वरूप पर छाई हुई इस दूसरी भ्रान्ति को) 'केवल मैं ही विश्वात्मा के रूप में सर्वत्र स्पन्दनशील हूँ'–इस (अनुग्रहमयी) अन्त-प्रेरणा के आलोक से आलोकित होने के रूप में, चूर चूर कर देता है।

संकेत : *यहां पर व्याख्याकार ने अपेक्षा से अधिक सूत्रात्मक भाषा का प्रयोग किया है, अतः स्पष्टीकरण के लिए रूपान्तरण में कुछ मात्रा तक स्वतन्त्रता बरती गई है। पाठकों को अवश्य यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पहली भ्रान्ति को दुतकारने के उपरान्त दूसरी भ्रान्ति को विखंडित करने की जो प्रक्रिया यहां दर्शाई गई है वह केवल शिष्यों को समझाने के लिए उपचार मात्र है। वास्तव में आत्मसाक्षात्कार पाने में किसी क्रमात्मकता का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह सारा अनाशंकित रूप में अकस्मात् और युगपत् ही हो जाता है अगर दैवी अनुग्रह हो तो।*

मूलग्रन्थ : इदम् अत्र तात्पर्यम्–

'यावदनात्मनि देहादौ आत्माभिमानो न गलितः तावत् स्वात्मप्रथारूपे अपि जगति भेदप्रथामोहो न विलीयते। अतश्च अनात्मनि आत्माभिमानभ्रम-विनाशात् आत्मनि अनात्माभिमानभ्रान्तिं परमात्मा एव स्वात्महेश्वरो भगवान् एव विनाशयति, न अन्यस्य अत्र सामर्थ्यम्।'

अनुवाद : इस अवतरण का तात्पर्य इस प्रकार है–

'जगत् और कुछ नहीं, प्रत्युत आत्मविस्तार की चेतना है। ऐसा होने पर भी जब तक शरीर इत्यादि अनात्म पदार्थों पर आत्म-अभिमान रखने की प्रवृत्ति पूरी तरह गल नहीं जाती, तब तक जगत् को आत्मा से भिन्न समझने का मोह विलीन नहीं होने पाता है। इसलिए अनात्म पदार्थों पर आत्म-अभिमान रखने का भ्रम नष्ट हो जाने के फलस्वरूप, सारी लोकोत्तर विभूति से परिपूर्ण परमात्मा स्वात्मदेव ही वास्तविक आत्मा पर अनात्ममानिता के भ्रम को नष्ट कर देता है। कारण यह कि उसको (स्वात्ममहेश्वर को) छोड और किसी में भी ऐसा करने की क्षमता नहीं है।'

कारिका-४०

उपक्रमणिका : 'एवं भ्रान्तिद्वयस्य अपसारणात् परमेश्वरीभूतस्य योगिनो न किञ्चित् कार्यम् अवशिष्यते'-इत्याह–

अनुवाद : इस प्रकार दोनों भ्रान्तियों को हटाने के कारण (साक्षात्) परमेश्वरस्वरूप बने हुए योगी के लिए और कुछ करना शेष नहीं रह जाता है–यह देशना प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

इत्थं विभ्रमयुगलकसमूलविच्छेदने कृतार्थस्य।
कर्तव्यान्तरकलना न जातु परयोगिनो भवति॥

अन्वय/पदच्छेद : इत्थं विभ्रम-युगलक-समूल-विच्छेदने कृतार्थस्य पर-योगिनः कर्तव्य-अन्तर-कलना जातु न भवति।

अनुवाद : इस प्रकार दोनों भ्रान्तियों को 'समूल' अर्थात् संस्कारों के सहित भली-भांति कतरने पर कृतार्थ बने हुए परम योगी के लिए कोई भी दूसरा काम-धाम करने की विवशता शेष नहीं रहती है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : इत्थं कारिकार्थप्रतिपादितप्रकारेण भ्रान्तिद्वयस्य प्ररोहविदारणे कृतार्थस्य स्वस्वातंत्र्यस्य परिज्ञप्तेर् अशेषसंकोचविदलनात् कृतः प्राप्तः अर्थः पुरुषार्थलाभो येन तस्य प्रकृष्टयोगयुक्तस्य न कदाचित् कर्तव्यान्तरस्य तीर्थाटन-क्षेत्रपरिग्रह-दीक्षा-जप-ध्यान-व्याख्याश्रवणादि-रूपस्य कार्यशेषस्य कलना मनोव्यापार अपि न विद्यते।

अनुवाद : कारिका में भली-भांति समझाई गई जुगत से दोनों भ्रांतियों के अंकुर को पूरी तरह काटने से 'कृतार्थ बने हुए' अर्थात् सारा आंतरिक संकोच संस्कारों के सहित मिट जाने के कारण परम पुरुषार्थ (स्वाभाविक एवं सर्वतोमुखी स्वातन्त्र्य) का लाभ प्राप्त करने वाले और सर्वोत्कृष्ट योगसाधना पर जुटे हुए साधक के लिए तीर्थयात्रा करने, पुण्यस्थानों को अपनाने, दीक्षा लेने, जप करने, ध्यान लगाने, प्रवचनों का श्रवण करने–इत्यादि रूपों वाले शेषवर्तनों का संकल्पमात्र भी बचा नहीं रहता है।

मूलग्रन्थ : 'अयमेव परो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'।

इति हि स्वात्मयोगस्य प्राधान्यम्। अतः तत्प्राप्त्या न अन्यत्र परिश्रमः पूर्णयोगिनः। यद् उक्तम्–

'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥"

इति गीतासु। (श्रीगीता २-५२)

अनुवाद : 'योग' अर्थात् परमेश्वर के साथ (विमर्शमयी) एकाकारता का संबन्ध स्थापित करने के द्वारा आत्मसाक्षात्कार पा लेना ही सब से उत्कृष्ट 'धर्म' अर्थात् मानवोचित सत्कर्तव्य है।'

इस (शास्त्र) कथन के अनुसार आत्मयोग की ही प्रधानता पर बल दिया गया है। अतः वैसे स्वात्मप्रत्यभिज्ञान की अवस्था प्राप्त करने वाले पूर्णयोगी के लिए इतर अनुष्ठानों पर परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसा श्रीगीता में कहा गया है–

'(हे पार्थ) जब तुम्हारी बुद्धि मोह के जघन्य कतवार को पार कर लेगी, तभी तुम प्रवचनों के श्रवण और वेदग्रन्थों का स्वाध्याय करने से पूर्णतया विरक्त हो जाओगे'।

कारिका-४१

ध्यानाकर्षण: अब ग्रन्थकार कारिकांक ४१-४५ तक की पांच कारिकाओं में पराबीज (सौः-बीज) का उद्धार और स्वरूपवर्णन प्रस्तुत कर रहा है। इस परिप्रेक्ष्य में यह बात ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि यह कश्मीर के प्राचीन त्रिकदर्शन की साधनापद्धति का एक अतिगम्भीर एवं सद्विमर्श द्वारा गम्य विषय है। किसी सिद्ध गुरुवर्य की अनुकम्पा के विना कोरी कागजी लिखापढ़ी से पूरी संशयनिवृत्ति नहीं हो जाती है। अस्तु, कश्मीर शैवदर्शन के ख्यातिप्राप्त एवं अनुभूतिपरक ग्रन्थ 'श्रीपरात्रिंशिका' की टीका में भगवान अभिनव ने इस संदर्भ में बहुत लंबा चौड़ा विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत लेखक ने कुछ समय पूर्व उस ग्रंथ का संपादन, रूपान्तरण इत्यादि किया है, अतः यहां पर पाठकों की जानकारी के लिए उसी 'श्रीपरात्रिंशिका भाषानुवाद' से कई संबन्धित पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं–

पराबीज का स्वरूप:

चतुर्दशयुतं भद्रे तिथीशान्तसमन्वितम्।।

तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि हृदयं भैरवात्मनः-(भैरवात्म–नः)।

हे कल्याण को उपजानेवाली और प्रशस्त पथ पर चलनेवाली देवी, 'चौदहवें स्वर' अर्थात् 'औ-बीज' (त्रिशूलबीज) को अपने साथ संयुक्त करके, 'तिथीश' अर्थात् 'अं' के 'अन्त' अर्थात् अन्तिम 'अः=:' को उसके पीछे लगाकर वर्तमान रहनेवाला, 'तीसरा ब्रह्म' अर्थात् 'ओम् तत् सत्'–इस महामन्त्र में वर्णित तीसरा ब्रह्म=सत्=स्-मात्रा, अथवा, 'श् ष् स् ह् क्ष्'–इस ब्रह्मपंचक में वर्णित तीसरा ब्रह्म=स्-मात्रा–(कुल मिलाकर स्+औ+:=सौः) यह अमृतबीज साक्षात् शक्तिभरति परभैरवीय हृदय है।

'सौः बीज' का इसी रूप में वैखरी वाणी से उचारना या निष्प्रयोजन कागज़ इत्यादि पर लिखना संप्रदायमान्य नहीं है, अतः इसको संबन्धित ग्रन्थों में पराबीज, अमृतबीज, हृदय, हार्दबीज इत्यादि शास्त्रीय नामान्तरों से अभिव्यक्त किया जाता रहा है। 'स्, औ, अः' इसके तीन विकास हैं जिनमें क्रमशः नरभाव, शक्तिभाव और सर्वोत्तीर्ण शिवभाव की व्यापकता है। तंत्रवाक्य इस प्रकार है–

'सार्णेन त्रितयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम्।

सर्वातीतं विसर्गेण परा व्याप्तिरुदाहृता।।

'सार्ण' अर्थात् 'स्' अक्षर ने पृथिवी, प्रकृति और माया नामवाले तीन अंडों को, 'त्रिशूल' अर्थात् त्रिशूलबीज 'औ' अक्षर ने चौथे शक्ति-अंड को और विसर्ग (:) ने 'सर्वातीत' अर्थात् विश्वोत्तीर्ण द्वैतरहित प्रमातृस्वरूप को व्याप्त किया है। इस व्यापकता का शास्त्रीय नाम 'पराव्याप्ति' है।

फलतः 'स्-बीज' में पृथिवी-तत्त्व से लेकर माया-तत्त्व तक के इकतीस तत्त्व, 'औ-बीज' में शुद्धविद्या-तत्त्व से लेकर सदाशिव-तत्त्व तक के तीन तत्त्व और 'अः-बीज' में द्वैतहीन शिव-शक्ति-समरसता (चिदानन्दमय प्रमातृभाव) गर्भित हैं।

आरोह में 'स्'=नरभाव का समावेश 'औ'=शक्तिभाव में, फिर इन दोनों का संयुक्त समावेश 'अः' सर्वातीत अनुत्तर में, और अवरोह में 'अः' का अवरोह 'औ' में, और फिर 'स्' में शाश्वतिक रूप में युगपत् ही चलता रहता है। इसको शास्त्रीय शब्दों में सर्वव्यापी आत्मसत्ता की स्वाभाविक प्रसारसंहार या संहारप्रसार (प्रसार में ही संहार अथवा संहार में ही प्रसार) की विलसमानता कहते हैं। तीव्रतम शक्तिपात से पवित्रित योगिनीभू जन सूक्ष्म विमर्श के बल से अपने अंतस् में ही इस लोकोत्तर लीला का साक्षात्कार पाकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

उपक्रमणिका: (अ) सम्प्रति पृथिव्यादिमायान्तस्य भेदावभासभानो विश्वस्य भेदाभेदमय-शाक्तभूमिका-आवेशेन पूर्ण-प्रकाशानन्द-घन-शाम्भवपद-समापत्त्या भेदविलायनेन तद्-अभेदमयता-प्राप्तिम् अभिधाय-

(आ) ततः शाम्भवात् पदात् सम्पूर्ण-सुधा-अम्भोधि-कल्पात् महाप्रवाह-देशीय-शाक्तप्रसर-उल्लास-प्रमुखं तत् तत् तरङ्गभाङ्गिरूपताम् अभिदधत्,-

(इ) स्वानुभवसिद्धं महामन्त्रवीर्यसारं समस्तभेद-विलायन-परम-अद्वय-उदयं नर-शक्ति-शिव-सामरस्यात्मकं परसंवित्-हृदयं क्रमेण उन्मीलयिष्यन्,-

(ई) विश्वस्य आगमिक-अण्ड-त्रयात्मकता-संकलन-युक्त्या एकीकारं तावद् आह-

अनुवाद : संप्रति (ग्रन्थकार)-

(अ) पृथिवी-अंड से लेकर माया-अंड तक के विस्तार वाले और आमूलचूल भेदभाव की आभासमानता से युक्त (माया के अंतर्वर्ती अशुद्ध) विश्व-'स्-मात्रा' का, भेदाभेदमयी शाक्तभूमिका 'औ' में समावेश करने के तार को पकड़कर, प्रकाश एवं आनन्द की सघन समरसता के आकार वाले शिवपद 'अः=:' (पार्यन्तिक विश्रान्ति की भूमिका) में विमर्श के बल से प्रतिष्ठित करने के द्वारा पूर्णरूप से भेदभाव को हटाकर उस अभेदभाव की भूमिका को प्राप्त करने की जुगत को समझाते हुए,-(आरोह)

(आ) उसी अमृत के असीम पारावार जैसे शाम्भवपद (अमृत बीज) से अतिप्रबल जलप्रवाह जैसे शक्ति के बहिर्मुखीन प्रसार (':' का 'औ' और फिर दानों का 'स्' पर प्रसार) के रूप वाले विश्व का विकास और उसमें वर्तमान हरेक पदार्थ को उसी महाप्रवाह से उठनेवाला तरंग जैसा बताते हुए,-(अवरोह)

(इ) निजी आंतरिक अनुभूति से ही सिद्ध, परिपूर्ण अहंभाव के वीर्य की सारवत्ता से युक्त, सारे भेदभाव का विलय करने से परम अद्वैत की अवस्था का उदय कराने वाले, नरभाव, शक्तिभाव और शिवभाव की समरसता के रूपवाले और परम उत्कृष्ट संवित् का हृदय जैसे अमृतबीज के क्रमिक विकास को दिखाते हुए-

(ई) आगमशास्त्रों में समझाए गए तीन (माया, प्रकृति और

पृथिवी) अंडों के आकार वाले विश्व का, विमर्शमय संकलन करने की जुगत के द्वारा, एकीकरण की प्रक्रिया को समझा रहा है–

मूलकारिका

पृथिवी प्रकृतिर्माया त्रितयमिदं वेद्यरूपतापतितम्।
अद्वैत भावनबलाद् भवति हि सन्मात्रपरिशेषम्[१]॥

अन्वय/पदच्छेदः पृथिवी, प्रकृतिः, माया इदं त्रितयं वेद्यरूपता-पतितं हि अद्वैत-भावन-बलात् सन्मात्र-परिशेषं भवति।

अनुवाद : (योगराज के अनुसार कारिका में उल्लिखित 'हि' पद प्रस्तुत प्रसंग में निश्चयार्थक नहीं, प्रत्युत कारणार्थक है-हि यस्मादर्थे)

चूँकि पृथिवी, प्रकृति और माया ये तीनों अंड प्रमेय पदवी पर ठहरे हुए हैं (अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जानकारी का विषय बन जाते हैं), अतः अभेदविमर्श के बल से, अन्ततोगत्वा, केवल सत्-रूप ही अवशिष्ट रह जाते हैं (अर्थात् 'सत्=स्' रूप ब्रह्म ही दिखाई देते हैं)।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : पार्थिव-प्राकृत-मायीय-अण्डात्मकं यत् स्थूल-सूक्ष्म-पर-रूपं त्रिविधं वेद्यरूपतापतितं ज्ञानगोचरतां प्राप्तम्–

'तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते।
ज्ञानाहते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत्॥
न हि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः।
ज्ञानं तदात्मतां यातमेतस्मादवसीयते॥

इति कालिकाक्रमोक्तन्यायेन यद् अद्वैतभावनं तद् बलात् तत् प्रकर्षात् सन्मात्रपरिशेषं प्रकाशमानतात्मकसत्तामात्रकं भवति। हि यस्मादर्थे।

अनुवाद : पृथिवी, प्रकृति और माया इन तीन अंडों के रूपवाला जो प्रमेय विश्व है, वह (पृथिवी-अंड के स्तर पर) स्थूल-प्रमेय, (प्रकृति-अंड के स्तर पर) सूक्ष्म-प्रमेय और (माया-अंड के स्तर पर) पर-प्रमेय है। चूँकि यह तीनों प्रकार का विश्व 'वेद्यरूप' अर्थात् इन्द्रियज्ञान का गोचर है अतः–

---

१. 'सन्मात्र' शब्द से पराबीज की तीन मात्राओं में से पहली 'स्'-मात्रा का उद्धार समझना चाहिए।

'बाहर या भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ रूपों में केवल ज्ञान ही प्रकाशमान है, किसी भी पदार्थ का सद्भाव ज्ञान के बिना संभव ही नहीं है, अत: सारा 'जगत्' अर्थात् प्रमेय-विश्व मूल में ज्ञानरूप ही है।

यह बात निश्चित है कि कोई भी प्रमाता किसी भी पदार्थ को ज्ञान के बिना प्रमिति का विषय नहीं बना पाया है, अत: परिणामत: यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान ही हरेक प्रमेय रूप में प्रकाशमान है।'

कालिकाक्रम नामवाले शास्त्र में समझाए गए इस न्याय के अनुसार (वह तीन प्रकार का प्रमेय विश्व) एकतान अद्वैतभावना का विषय बनाए जाने पर, निरंतर अनुसन्धान करने के बल से, अन्त में केवल 'सत्-मात्रा' अर्थात् मात्र प्रकाशमान सत्ता (अर्थात् सत्=शाश्वतिक सद्भाव='स्-बीज') के रूपवाला ही अवशिष्ट रह जाता है।

कारिका-४२

उपक्रमणिका : **एतद् एव भेदस्य अवास्तवत्व-प्रतिपादन-अभिप्रायेण उपपादयति–**

अनुवाद : भेदभाव की अवास्तविकता को सिद्ध करने के अभिप्राय से फिर से इसी उल्लिखित देशना का स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

रशनाकुंडलकटकं भेदत्यागेन दृश्यते यथा हेम।
तद्वद्भेदत्यागे सन्मात्रं सर्वमाभाति॥

अन्वय/पदच्छेद : रशना-कुण्डल-कटकं यथा भेदत्यागेन हेम दृश्यते, तद्वत् सर्वं भेद-त्यागे (सति) 'सन्मात्रम्' आभाति।

अनुवाद (दृष्टान्त): जिस प्रकार तागडी, कुंडल, कडा जैसे सोने के आभूषण (ऊपरी आकारगत) भिन्नता को मिटाने पर, केवल सुवर्ण ही दिखाई देते हैं–

(दार्ष्टान्तिक) उसी प्रकार यह सारा (पृथिवी, प्रकृति और माया अंडों के विस्तार वाला) विश्वप्रपंच, (तथाकथित) भेदभाव का परिहार हो जाने पर, केवल 'सन्मात्र' अर्थात् शाश्वतिक सद्भाव के रूपवाला 'स्-रूप' ब्रह्म ही आभासित होने लगता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : (दृष्टान्त) : **यथा किल सौवर्णं रशनादि-आभरणं सुवर्णार्थिनो रशनादि-विशेष-परिहारेण हेममात्रतया एव आभाति, हेम, रजत, कांस्य, ताम्र, नागादि तावन्मात्रार्थिनो लोह(पंचक)[१] रूपतया,–**

(दार्ष्टान्तिक) तद्वत् सर्वम् इदं त्यक्त-हानादान-आदि-विकल्प-कलङ्कस्य, अविकल्प-प्रतिभास-मात्र-निष्ठस्य योगिनः–

'रूपादिषु परिणामात् तत्-सिद्धिः' (कल्लटसूत्र) इति भट्टश्रीकल्लट-उक्त-नीत्या भेदत्यागे सति सन्मात्रं सत्तामात्रात्मकम् आभाति।

अनुवाद : (दृष्टान्त): जिस प्रकार केवल सुवर्ण के इच्छुक व्यक्ति को सोने के तागडी इत्यादि आभूषण, तागडी इत्यादि प्रकार के विशेषों को छोड़कर मात्र सुवर्ण ही दिखाई देते हैं, लोहपंचक के अर्थी व्यक्ति को, सोना, चांदी, कसकुट, तांबा और सीसा ये धातु (आग में इकट्ठे गलाने पर) निजी सुवर्णत्व, रजतत्व, इत्यादि प्रकार के भेदभाव का परिहार करके, केवल लोहपंचक के रूप में दिखाई देते हैं,

(दार्ष्टान्तिक) उसी प्रकार (सांसारिक) लेन-देन के विकल्पजाल की कलौंस को छोड़कर मात्र निर्विकल्पभाव की भासमानता पर स्थिर रहनेवाले योगी को–

'रूप इत्यादि विषयों का 'परिणाम' अर्थात् भेद का परिहार और अभेद का विकास के रूपवाला अवस्थान्तरण हो जाने से निर्विकल्पभाव की सिद्धि हो जाती है'।

---

१. **संकेत :–** यहां पर, प्रकाशित पुस्तक में, उल्लिखित **'हेम-रजत'** इत्यादि वाक्य के अन्त पर केवल 'लोहरूपतया' इतना पाठ लिखा है। इस रूप में इसका अर्थ 'लोहे के रूपवाला है' है, परन्तु चलते प्रसंग के साथ इसकी संगति नहीं बैठती है। कुछ काल तक खोज करने के उपरान्त यह जानकारी प्राप्त हुई कि चिकित्साशास्त्र में सोना, चांदी, तांबा, कांसा और नाग (सीसा) इन पांच धातुओं को इकट्ठा आग में गलाने पर बने हुए धातुविशेष का नाम 'लोहपंचक' है। इस शब्द का प्रयोग करने पर अर्थ का पूरा तालमेल बैठता है क्योंकि लोहपंचक में पांच अलग अलग प्रकार के धातुओं का मिश्रण तो होता है परन्तु इकट्ठा गलाने पर उनका अपना सुवर्णत्व, रजतत्व, ताम्रत्व इत्यादि प्रकार का भेदभाव मिटा हुआ होता है और वे एक नये ही एकाकार धातुविशेष के रूप में परिणत हुए होते हैं। संभव है कि अतिप्राचीन मातृकाओं में 'लोहपंचकरूपतया' ऐसा ही मूलपाठ रहा हो और बाद को किसी असावधान लिपिक के प्रमाद से बीच में से पंचक शब्द छूट गया हो। इसी कारण से उल्लिखित मूलपाठ में इसको कोष्टक में रखा गया है।

श्रीकल्लटभट्ट के द्वारा समझाई गई इस नीति के अनुसार, यह सारा इदंरूप विश्वप्रपञ्च, भिन्नताओं को भूलकर, केवल 'सन्मात्र' अर्थात् केवल प्रकाशमय सद्भाव='स[१]-ब्रह्म' ही भासित होने लगता है।

कारिका-४३

उपक्रमणिका : तद् इयतः सर्वस्य संकोच-अवभास-परित्यागात् आगमप्रसिद्ध्या नररूपस्य शाक्तरूप-उपरोहं, मन्त्रसंप्रदायं कटाक्षयन्, अभिदधाति–

अनुवाद : अतः अब (ग्रंथकार) त्रिक आगमों की मान्यता के अनुसार (अतिप्राचीन काल से चले आते हुए) मंत्रसंप्रदाय (अमृतबीज की उपासना करने की विशेष परिपाटी) की ओर इशारा करते हुए, 'इतने सारे' अर्थात् पृथिवी-तत्त्व से लेकर माया-तत्त्व तक के ३१ तत्त्वों के अकल्प्य विस्तार वाले (स्-मात्रा के द्योत्य) नरभाव का, संकोचों से भरी मिथ्या प्रतीति का पूरा बहिष्कार करने के फलस्वरूप, 'शाक्तरूप' अर्थात् सर्वसमभाव से ओतप्रोत पराशक्तिभूमिका (औ-रूप त्रिशूलबीज) में आरोह करने की देशना दे रहा है–

मूलकारिका

तद् ब्रह्म परं शुद्धं शान्तमभेदात्मकं समं सकलम्।
अमृतं सत्यं शक्तौ[२] विश्राम्यति भास्वरूपायाम्॥

अन्वय/पदच्छेद : तत् परं शुद्धं शान्तम् अभेदात्मकं समं सकलम् अमृतं सत्यं ब्रह्म भा-स्वरूपायां शक्तौ विश्राम्यति।

अनुवाद : (निरन्तर अभेद-अनुसंधान करने पर जुटे हुए योगी के अंतस् में एकतान विमर्श के बल से) वही पूर्वोक्त सकल जगत्, अत्यंत निर्मल, परम शान्त (कूट रूप में शकार के अन्तिम 'ष' के परवर्ती 'स' के रूपवाला), पूर्ण अभेदमय, समभाव से सराबोर, 'सकल' अर्थात् अखंड परब्रह्मरूप, 'अमृत' अर्थात् मृत्युभय से युक्त (कूटरूप में

१. 'सत्' शब्द में व्याकरण नियम के अनुसार 'अत्' का लोप होकर 'स्-मात्रा' शेष रहती है।

२. प्रस्तुत कारिका में वर्णित 'शक्तौ' शब्द से हृदयबीज के दूसरे ब्रह्म 'औ' इस त्रिशूलबीज का उद्धार समझना चाहिए। इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया–इस शक्तित्रिशूल का प्रतीक होने के कारण 'औ-बीज' को त्रिशूलबीज कहते हैं।

अमृतबीजमय) और 'सत्य' अर्थात् सत्-रूप='स्-ब्रह्मरूप' अवशिष्ट रहकर, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों की समरसतामयी प्रकाशमानता से ओतप्रोत 'शक्ति' अर्थात् 'औ' इस त्रिशूलबीज से परिलक्षित शक्तिभाव में विश्रान्त हो जाता है।

***संकेत** : कारिका में प्रयुक्त 'सकल' शब्द के दो अर्थ हैं–(१) 'सकल' अर्थात् कलातत्त्व से उत्पादित संकोचों से भरा हुआ, और (२)–'सकल' अर्थात् अखंड परब्रह्म। प्रस्तुत रूपान्तरण में दोनों को दृष्टिपथ में रखने का प्रयास किया गया है।*

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : तद् एतत् सत्तामात्रात्मकं सर्वं बृहत्वाद् ब्रह्म। यदाहुः श्रुत्यन्तविदः–

'सदेवेदं सौम्य अग्र आसीत्' इति।

अनुवाद : तो यह सारे का सारा 'स-ब्रह्म' मात्र शाश्वतिक सद्भाव का परिचायक और 'बृहत्' अर्थात् अतिविशाल होने के कारण अपने आप में एक परिपूर्ण ब्रह्म है। इस परिप्रेक्ष्य में वेदान्ती विचारक इस प्रकार कहते हैं–

'हे शान्त स्वभाववाले! यह सारा जगत्-प्रपंच सृष्टि से पहले सत्-रूप ही था।

मूलग्रन्थ : पूर्णत्वात् परं, हेय-उपादेय-अभावात् शुद्धं, पृथक्त्व-उपशमात् शान्तम्, अत एव अभेदात्मकं, प्रकर्ष-अपकर्ष-अभावात् समम्।

अनुवाद : यह अपने आप में पूर्ण होने के कारण 'पर', किसी भी पदार्थ के त्याज्य या ग्राह्य न होने के कारण 'सर्वशुद्ध', बिलगावों का शमन होने के कारण 'शान्त', बिलगावों के ही न रहने के कारण अभेदस्वरूप और ऊँच-नीच का अभाव होने के कारण 'सम' है।

मूलग्रन्थ : 'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यम्-

अनतिक्रान्तश्च अविकल्प्यश्च'।

इति स्थित्या सकलम्, अत एव अमृतम् अविनाशि।

अनुवाद : 'परब्रह्मरूपता का तिलमात्र भी उसकी सर्वरूपता का परिचायक है, वह भी (परब्रह्म के ही समान) उल्लंघन न किए जाने के योग्य और विकल्पों से परे है'।

ऐसी परिस्थिति के अनुसार यह भी 'सकल' अर्थात् अखंड परब्रह्मरूप और इसी कारण से 'अमृत' अर्थात् अविनश्वर (कूटरूप में अमृतबीजमय) है।

मूलग्रन्थ : सत्यासत्यौ तु यौ भागौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ।

सत्यं यत् तत्र सा जाति रसत्या व्यक्तय: स्थिता:।।'इति,-

'यदादौ च यदन्ते च यन्मध्ये तस्य सत्यता'।

इति तत्रभवद् : भर्तृहरि-निरूपित-नीत्या सत्यं तदेव सत्तामात्रात्मकम्।

अनुवाद : 'हरेक पदार्थ के जो 'सत्य' अर्थात् नित्य और 'असत्य' अर्थात् अनित्य दो भाग मर्यादित किए गए हैं उनमें से सत्यभाग जाति अथवा सामान्य, और असत्य भाग व्यक्ति निर्धारित किए गए हैं'।

और- 'किसी भी पदार्थ के आदि, अन्त और मध्य पर जो कुछ (स्वरूपत:) बना रहता है, वही 'सत्य' अर्थात् यथार्थ सत्तारूप माना जाता है'।

आदरणीय भर्तृहरि के द्वारा निर्धारित की गई इस नीति की कसौटी पर खरा उतरने के कारण (यह स-ब्रह्म) सत्य है—तात्पर्य यह कि केवल शाश्वतिक सद्भाव=सत्तारूप है।

मूलग्रन्थ : एतत् सर्वं भास्वरूपायाम् इच्छा-ज्ञान-क्रियारूप-शक्ति-सामरस्यात्मिकायां परस्यां शक्तौ विश्राम्यति–

'संविन्निष्ठा विषय व्यवस्थिति:'।

इति स्थित्या तन्मयी भवति-इति।

अनुवाद : यह सारा (अविकल स-ब्रह्म) चित्-प्रकाशमयी अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन पारमेश्वरी शक्तियों की समरसतामयी परा-शक्ति में (कूट रूप में त्रिशूलबीज 'औ' में) विश्रान्त हो जाता है-तात्पर्य यह कि--

'हरेक पदार्थ का स्थिर टिकाव संवित् में ही होता है? इस स्थिति के अनुसार तन्मयीभाव को प्राप्त कर लेता है—तुरीयाभाव में लीन हो जाता है।

मूलग्रन्थ : अथ च–

'शान्तं' शकारस्य अन्ते यन् मूर्धन्यरूपं तत: परं यद् 'अमृतम्' अमृतबीजात्मकं ब्रह्म 'सन्-मात्रात्मकं', सादाख्यपदस्पर्शात् शुद्धम्' अत एव-'अहम् इदं सर्वम्' इति सर्वसमरसीकरणात् 'समं सकलं च', अतश्च अख्यातिगलनात् 'सत्यम्' यद् आदिष्टं भगवता–

'तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि..........'।

इति श्री त्रिंशिकायाम्।

तद् इदम् अमृतीभाव-अवमृष्टं सदाशिवपद-उपारूढम् एतद् विश्वात्मकं ब्रह्म प्राग् उक्तायां शक्तौ विश्राम्यति।

अनुवाद : (कारिका का कूट अर्थ) इस प्रकार भी है–

"श-वर्ण का अन्तिम मूर्धन्य ष-वर्ण, उसका भी अनुवर्ती स-मात्रा के आकारवाला अमृत बीजमय ब्रह्म, सदाशिव भूमिका का स्पर्श करने से 'शुद्ध' अर्थात् मायीय मलों से रहित बना हुआ, और निर्मल बनने से ही–'मैं ही यह सारा इदंरूप प्रपंच हूँ'–ऐसी विमर्शमयता के बल से सब कुछ समरस बनाने के कारण, अपने आप में, सर्वसमभाव से ओतप्रोत अखंड ब्रह्म ही है। साथ ही अख्याति का अंधकार पूर्णतया मिट जाने के कारण 'सत्य' अर्थात् अविनश्वर सद्भाव के रूपवाला है। जैसा कि भगवान शिव ने स्वयं–

'हे सर्वशुद्ध भूमिका पर अवस्थित भगवती! वह तीसरा स-ब्रह्म (साक्षात् ईश्वरीय हृदय है)'

श्रीत्रिंशिका (श्रीपरात्रिंशिकाशास्त्र) में उपदेश दिया है।

फलतः यही वह अमृतबीज के रूप में विमर्श का विषय बनाया हुआ और 'सदाशिवपद' अर्थात् 'औ' रूप शाक्तभूमिका पर आरूढ बना हुआ विश्वात्मक ब्रह्म, पूर्ववर्णित 'शक्ति में' अर्थात् अमृतबीज की दूसरी मात्रा 'औ' में लीन हो जाता है।

कारिका-४४

उपक्रमणिका : 'क्रिया-ज्ञान-इच्छा-मुखे[१]न परशक्तौ यन् विश्राम्यति तन् न किञ्चित्'-इति आह–

अनुवाद : अब यह देशना दे रहा है कि जो कुछ भी (प्रवेशक्रम से) क्रिया, ज्ञान एवं इच्छा इन तीन शक्तियों के द्वार से 'पराशक्ति' अर्थात्

---

१. शैव मान्यता के अनुसार स्वरूप-प्रसार के आरोह और अवरोह (चढ़ाव और उतार) ये दो मुख हैं। पहले से नरभाव का शक्तिभाव में, उपरान्त शिवभाव में विलय के रूपवाले आरोह, और दूसरे से शिवभाव का शक्तिभाव पर, उपरान्त नरभाव पर उतार के रूपवाले अवरोह का अभिप्राय लिया जाता है। इन्हीं को क्रमशः प्रवेश एवं निर्गम कहते हैं। प्रवेश में क्रिया से ज्ञान में फिर इच्छा में विलय (प्रवेश), और निर्गम में इच्छा से ज्ञान में फिर क्रिया में विकास (निर्गम) का क्रम निर्धारित है। शैव व्याख्याकारों में आमतौर पर प्रवेशक्रम के दृष्टिकोण से ही व्याख्याएँ लिखने की परिपाटी प्रचलित रही है। अतः यहां पर भी श्रीयोगराज ने प्रस्तुत कारिका की उपक्रमणिका में 'क्रियाज्ञानेच्छामुखेन' ऐसा पाठ बनाकर प्राचीन लेखनशैली का पालन तो किया है, परन्तु आगे टीका में इसका निर्वाह नहीं किया है।

'औ' इस (भेदाभेदमयी शाक्तभूमिका में) विश्रान्त नहीं होता, वह (स्वरूपत:) कुछ भी नहीं होता है–

मूलकारिका

इष्यत इति वेद्यत इति संपाद्यत इति च भास्वरूपेण।
अपरामृष्टं यदपि तु नभः प्रसूनत्वमभ्येति॥

अन्वय/पदच्छेदः यद् अपि-'इष्यते इति, वेद्यते इति, संपाद्यते इति च', भास्वरूपेण अपरामृष्टं (तत्) तु नभः-प्रसूनत्वम् अभ्येति।

अनुवाद : जो कोई भी प्रमेय-'चाहा जाता है (इच्छा), जाना जाता है (ज्ञान) और संपादन (अर्थात् अन्तिम कार्यरूप में सिद्ध) किया जाता है (क्रिया)'–इस प्रकार की इच्छा, ज्ञान और क्रिया के द्वारों से प्रवेश पाकर आंतरिक प्रकाशमानता अर्थात् संवित् के द्वारा विमर्श का विषय नहीं बनाया जाता है वह आकाशपुष्पत्व को प्राप्त होता है अर्थात् असत् होता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : यद् वस्तु, वस्तुवृत्तेन बहिर् विद्यमानम् अपि, तद् यदि इच्छा-ज्ञान-क्रियामुखेन भास्वरेण एतत्-शक्तित्रय-सामरस्यात्मक-पराशक्ति-स्फार-मयेन बोधेन न परामृष्टं तत् प्रख्या-उपाख्या-विकलं गगनपुष्प तुल्यम्।

अनुवाद : जो कोई भी पदार्थ, परिस्थितिवश बाहर जगत् में ठोस पदार्थ-रूप में उपलब्ध होता हुआ भी, अगर इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन 'प्रकाशमय' अर्थात् अंतर्बोध के रूपवाले शक्तिद्वारों से, अथवा दूसरे शब्दों में इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया इन तीन शक्तियों की समरसतामयी पराशक्ति (परा-संवित्) के स्पन्दनमय अंतर्बोध के द्वारा विमर्श का विषय न बनाया जाता हो, तो वह प्रश्न-प्रतिवचन से रहित आकाशपुष्प के समान (असत्) होता है।

मूलग्रन्थ : अनेन च सद्वृत्ति-ऊर्ध्ववर्ति-त्रिशूलात्मकवृत्ति-वीर्यं सूचितम्।

अनुवाद : इस कथन के द्वारा (भेदभूमिका पर अवस्थित) 'स-बीज' में गर्भित वीर्य की अपेक्षा (भेदाभेदभूमिका पर अवस्थित 'औ-बीज' में वर्तमान अतिशयशाली वीर्य की ओर संकेत किया गया।

कारिका-४५

उपक्रमणिका : एतत् शाक्तपद-आवेशम् अस्य अनुवदन् शांभवपद-समापत्त्या तन्मयीभावम् आविर्भावयति–

अनुवाद : (एकतान विमर्श के बल से) इस स्-मात्र का शाक्तपदवी 'औ' में विश्रान्त होने की देशना को दोहराते हुए, अंततः, इसके शांभवपदवी 'अः' पर आरूढ होने और उसी में तन्मय होने के रहस्य को (अगली कारिका में) प्रकाशित कर रहा है–

मूलकारिका

शक्तित्रिशूलपरिगमयोगेन समस्तमपि परमेशे।
शिवनामनि परमार्थे विसृज्यते देवदेवेन॥

अन्वय/पदच्छेद : देवदेवेन समस्तम् अपि शक्ति-त्रिशूल-परिगम-योगेन परम-ईशे शिव-नामनि परमार्थे विसृज्यते।

अनुवाद : देवताओं के भी देवता (परमशिव) के द्वारा, समूचे स्-मात्र रूप विश्व को 'शक्तित्रिशूल' अर्थात् इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों के तीन फलों वाली शाक्तपदवी 'औ' में तदाकार बनाने के क्रम से सर्वोत्कृष्ट ईश्वर 'शिव=परमशिव' नामवाले परमार्थ 'अः' में 'विसर्जित'[१] अर्थात् पूर्णरूप से तन्मय, बनाया जाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : **तद् इत्थं समस्तम् अपि एतत्, सत्तामात्ररूपत्वात् प्रोक्तब्रह्मपरमार्थं, शक्तित्रिशूलपरिगमयोगेन निर्णीतयुक्त्या पराशक्ति-समापत्तिक्रमेण शिवनामनि परमार्थे अनवच्छिन्न-चिदानन्द-एकघने परमेश्वर**

---

१. प्रस्तुत लेखक के श्रीपरात्रिंशिका भाषानुवाद पृष्ठांक ३१५-३१८ पर विसर्ग-विश्लेषण की युक्ति का यथासंभव स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया है। हो सके तो वहीं से जानकारी प्राप्त करें। यहां पर केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि विसर्ग दो प्रकार का है-१. ऊर्ध्वविसर्ग और २. अधोविसर्ग। पहले से अंत:प्रवेश अर्थात् परमशिवभाव में विलय (संहार), और दूसरे से बहि:निर्गम अर्थात् शिवभाव से विलग कर जगत् रूप में अवभासित होने (प्रसार) का अभिप्राय लिया जाता है। प्रस्तुत कारिका में 'विसृज्यते' इस क्रियापद से ऊर्ध्वविसर्ग का अभिप्राय है। मूलकारिका में प्रयुक्त 'विसृज्यते' इस क्रियापद से अमृतबीज की तीसरी मात्रा विसर्ग 'अः' का उद्धार समझना चाहिए।

स्वस्मिन् स्वभावे विसृज्यते अन्तर्मुखविमर्शनप्रकर्षात् तत्समावेशेन तन्मयीभावम् आपाद्यते।

अनुवाद : तो इस प्रकार (स्वयं परमशिव के ही द्वारा) इस सारे स्-मात्र रूप जगत् को, जोकि पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार मात्र सत्तारूप होने के कारण अपने आप में भी परिपूर्ण परब्रह्ममय परमार्थ ही है, पूर्वनिर्धारित युक्ति (एकतान विमर्श) के अनुसार (पहले) पराशक्ति-भूमिका 'औ' में सर्वाङ्गीण रूप में विश्रान्त करने के क्रम से, पर्यन्ततः 'परमशिव' नामवाले सर्वोत्कृष्ट परमार्थ में' अर्थात् केवल अखंड चिदानन्द की घनता से परिपूर्ण निज-स्वरूप में, विसर्जित किया जाता है। तात्पर्य यह कि अन्तर्मुखीन आत्मविमर्श की तीव्रता के कारण शिव-समावेश हो जाने के द्वारा तन्मय (शिव के साथ एकाकार) बनाया जाता है।

मूलग्रन्थ : देवानां ब्रह्मादिसदाशिवान्तानां सर्वप्रकाशानाम् इन्द्रियाणां च देवेन प्रभुणा परमशिवेन एव। न हि अत्र अन्यस्य कस्यचित् कर्तत्वं घटते, न अपि एतद्व्यतिरिक्त अन्यः कश्चित् प्रमाता अस्ति। अस्य एव च भगवतः एत्तद् भूमिका-अधिरोहिणः तत्तद् रुद्र-क्षेत्रज्ञ-प्रमातृ-रूपतया स्फुरणम्-इति 'देवदेवेन' इति युक्ता एव उक्तिः। तद् इत्थं विसर्गवृत्तिर् दर्शिता।

अनुवाद : यह सारा (अतिदुर्घट कृत्य) साक्षात् स्वयं परमशिव के ही द्वारा संपन्न हो जाता है। परमशिव वही जो ब्रह्मा से लेकर सदाशिव तक के कारणों, और सारे (शब्द, स्पर्श आदि) विषयों का प्रकाशन करने वाले इन्द्रियरूपी देवताओं का भी 'प्रभु' अर्थात् अनुग्रह एवं निग्रह करने वाला अधिपति देव है। यह कृत्य संपन्न करने में (परमशिव को छोड़) और किसी का भी कर्तृत्व सक्षम नहीं है, और तो और इस देवदेव से बढ़कर कोई इतर प्रमाता भी नहीं है। मात्र यही ऐश्वर्यशाली परमेश्वर भिन्न भिन्न भूमिकाओं पर अधिरूढ़ होकर भिन्न भिन्न प्रकार के रुद्र या ज्ञेत्रज्ञ प्रमाताओं के रूपों में स्पन्दायमान है। अतः इसी को 'देवदेव' इस नाम से सुशोभित करना युक्तियुक्त है।

इस प्रकार से 'विसर्गवृत्तिः' अर्थात् अंतः-प्रवेश और बहिःनिर्गम दोनों प्रकार के विसर्ग का खेल संपन्न करनेवाली परमशिवरूपिणी वैसर्गिकी कला 'अः' के वीर्य का दिग्दर्शन कराया गया[१]।

कारिका-४६

(अब शिवत्व के बाह्यप्रसार (निर्गम) को एक ही कारिका में स्पष्ट कर देता है)

उपक्रमणिका : एवम् इयता भेदात्मनो नररूपस्य जगतो भेदाभेदात्मक-शाक्तपद-अध्यारोहेण अभिन्न-चिद्धन-शिव-सामरस्यापत्तिम् उपसंहारदृशा प्रदर्श्य इदानीं-'चित्-एक-घनः शिव एव शक्तिरूपतया उल्लास्य नरात्मक विश्वरूपतया स्फुरति, न तु शिवव्यतिरिक्तं शक्तिनरयोः किमपि रूपं, शिव एव तु इत्थं निजरस-आश्यानतया स्फुरति'-इति प्रसरयुक्तिं महामन्त्रस्फारमयीं दर्शयति-

अनुवाद : इस प्रकार यहां तक संहारक्रम के दृष्टिकोण से, पूर्ण भेदभाव से भरे हुए नररूप जगत् (स्) का भेदाभेदमयी शक्तिभूमिका (औ) पर सर्वांगीण आरोह करने के क्रम के अनुसार, अंततः पूरे अभेदमय और मात्र चिदानन्द की घनता से युक्त शिवभाव (अः) में समरस बन जाने की प्रक्रिया (प्रवेश) का परिचय दिया गया। अब (अगली कारिका में) महान मंत्र अमृतबीज के बहिर्मुखीन विकास के रूपवाली प्रसार (निर्गम) की युक्ति को इस प्रकार समझा रहा है कि-

मात्र चित्-रूप परमशिव (अः) निजी स्वाभाविक अवरोह में निजस्वरूप को ही शक्ति (औ) के रूप में विकसित करके (अवरोह के तार को आगे बढ़ाकर) अंततः, नरात्मक विश्व (स्) के रूप में स्पन्दायमान हैं, शक्ति और नर दोनों का तो शिव से अतिरिक्त अपना कोई स्वतन्त्र रूप नहीं है, और यह तो शिव ही (विकास के प्रत्येक स्तर पर) अपने मौलिक स्वरूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं तरल चित्-रस की उत्तरोत्तर आश्यानता (घनीभाव, स्थूलता) के रूप में स्फुरायमाण है-

---

१. ग्रन्थकार ने कारिकांक ४१ से यहां तक की पांच कारिकाओं में अन्तःप्रवेश का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया। स्-मात्र की विसर्ग में (परमशिवभाव में) एकाकार बन जाने के प्रवेश को शास्त्रीय शब्दों में 'पराव्याप्ति' कहते हैं। इसका मंत्र अमृतबीज है। जैसा कि पहले भी समझाया गया है-

सार्णेन त्रितयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम्।
सर्वातीतं विसर्गेण पराया व्याप्तिरिष्यते॥

इतनी लिखा-पढ़ी होने पर भी यह विषय गुरुवाक्य से ही पूर्णतया हृदयंगम हो पाता है।

मूलकारिका

पुनरपि[1] च पञ्चशक्तिप्रसरणक्रमेण बहिरपि तत्।
अण्डत्रयं विचित्रं सृष्टं बहिरात्मलाभेन।।

अन्वय/पदच्छेद : पुन: अपि पञ्च-शक्ति-प्रसरण-क्रमेण बहि: आत्मलाभेन तत् विचित्रम् अण्डत्रयं बहि: अपि सृष्टम्।

अनुवाद : (परमेश्वर ने) 'फिर भी' अर्थात् युगपत् ही दूसरी ओर, स्वरूपमयी पांच (चित्, निर्वृति, इच्छा, ज्ञान, क्रिया) शक्तियों के बहिर्मुखीन प्रसारक्रम को अपनाने के द्वारा, जागतिक रूप को धारण करके, उन्हीं तीन विचित्रताओं से भरे हुए 'अंडों' अर्थात् स्-रूप विश्व की रचना की।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : चिद्-आनन्द-इच्छा-ज्ञान-क्रियाख्य-शक्ति-पंचक-सामरस्यात्मा य: परमशिव:, तेन चिद्-आदि-शक्ति-प्राधान्य-प्रथनात्मक-शिव-शक्ति-सदाशिव-ईश्वर-शुद्धविद्याख्य-भूमिका-उन्मीलन-युक्त्या तद् अण्डत्रयं विचित्रम्-इति तत्तद् भुवनादिरूपं सृष्टम्।

अनुवाद : चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पांच माहेश्वर शक्तियों की 'समरसता' अर्थात् विशेषताओं से रहित सामान्य नीरक्षीरमयी अवस्था ही परमशिव है। उसने स्वेच्छा से ही 'उन्मीलन-युक्ति' अर्थात् एकाकार निजस्वरूप को जगत्-भाव की अनेकाकार विचित्रताओं में विकसित करने की उन्मुखता (अवरोह, निर्गम) का अङ्गीकार करके, स्वरूप को पहले चित्-शक्तिप्रधान शिवतत्त्व, आनन्दशक्तिप्रधान शक्तितत्त्व, इच्छाशक्तिप्रधान सदाशिवतत्त्व, ज्ञानशक्तिप्रधान ईश्वरतत्त्व और क्रियाशक्तिप्रधान शुद्धविद्यातत्त्व इन पांच तत्त्वों का रूप दिया। (अंतत:) नाना प्रकार के भुवनों एवं प्रमेय पदार्थों की विचित्रताओं से खचाखच भरे हुए उन्हीं (माया, प्रकृति एवं पृथिवी नामवाले) तीन अंडों (स्-मात्र) की रचना की।

मूलग्रन्थ : बहिरात्मलाभेन-इति बाह्य-आभासात्मतया स्वात्मन: प्रदर्शनेन। पुनरपि-इति एतेन एतद् दर्शयति यत् परमशिव एव स्वतन्त्र:

---

१. पारिभाषिक रूप में इस निर्गम की प्रक्रिया को पिण्डनाथ-व्याप्ति कहते हैं। इसका मंत्र रृक्ष् फ्रीं है। इसका रहस्य भी गुरुवाक्य से ही गम्य है।

स्वभित्तौ विश्वप्रपञ्च-उल्लासन-विलापन-क्रीडां, स्वात्म-अनतिरिक्ताम् अपि अतिरिक्ताम् इव आदर्शयन् एवम् इत्थं स्थितः, न तु तद्-व्यतिरिक्तं किमपि अस्ति-इति।

अनुवाद : 'बहिरात्मलाभेन' (मूलकारिका के) इन शब्दों से यह भाव ध्वनित होता है (कि शिव किसी नये या स्वरूप से अतिरिक्त भाव का सर्जन नहीं, प्रत्युत) स्वरूप को ही बहिरंग इदंभाव (प्रमेय जगत्) की आभासमानता (प्रतिबिंबमय प्रकाशन) के रूप में प्रदर्शित करता है। (मूलकारिका के) 'पुनरपि च' इन शब्दों का तात्पर्य यह है कि परमशिव स्वयं ही, स्वतन्त्र होने के कारण, स्वरूप की ही भित्ति पर, विश्वप्रपंच के विकास एवं संहार करने की, स्वरूप अतिरिक्त न होते हुए भी अतिरिक्त जैसी भासित होने वाली, क्रीडा को प्रतिबिंबित करता हुआ 'इस प्रकार' अर्थात् परमशिव और जगत् दोनों रूपों में युगपत् ही प्रकाशमान है। फलतः कुछ भी उससे अतिरिक्त नहीं है।

कारिकाएँ-४७-५०

*(**संकेत** : प्रस्तुत चार कारिकाओं में ग्रंथकार शिवभाव पर पहुंचे हुए सिद्धपुरुष की आंतरिक अनुभूति का वर्णन कर रहा है-)*

उपक्रमणिका : इत्थं विश्व-उल्लासन-विलापन-क्रीडाशीलो भगवान्, यः 'शिवः' इति व्यपदिश्यते, स कतमः कुत्र तिष्ठति, कतमेन वा प्रमाणेन प्रसिद्धः? इति आशङ्क्य 'सर्वेषां स्वात्मा एव शिवः सर्वत्र आदिसिद्धतया स्फुरन् सर्गादीन् विदधाति'-इति अस्मत्-शब्दवाचकै शब्दैः प्रतिपादयति-

अनुवाद : 'इस प्रकार विश्व के विकास-संकोच का खेल खेलने के स्वभाववाला ईश्वर, जिसको औपचारिक रूप में 'शिव' कहा जाता है, वह कौन है, कहां ठहरा हुआ है और किस प्रमाण से सिद्ध होता है?'-इस शंका का समाधान प्रस्तुत करने के अभिप्राय से (अगली ४ कारिकाओं में) 'अस्मद्=अहम्=मैं' इस अर्थ के वाचक शब्दों का प्रयोग करके यह सिद्ध कर रहा है कि-

(१) हरेक प्रमाता का आत्म-महेश्वर ही शिव है,

(२) वही चारों ओर व्यापक है और-

(३) वही आदिसिद्ध सत्ता के रूप में स्पन्दायमान रहकर सृष्टि इत्यादि ईश्वरीय कृत्यों को करता रहता है-

मूलकारिकाएँ

(अ) इति शक्तिचक्रयन्त्रं क्रीडायोगेन वाहयन् देवः।
अहमेव शुद्धरूपः शक्ति महाचक्रनायकपदस्थः॥

(आ) मय्येव भाति विश्वं दर्पण इव निर्मले घटादीनिः।
मत्तः प्रसरति सर्वं स्वप्नविचित्रत्वमिव सुप्तात्॥

(इ) अहमेव विश्वरूपः करचरणादिस्वभाव इव देहः।
सर्वस्मिन्नहमेव स्फुरामि भावेषु भास्वरूपमिव॥

(ई) द्रष्टा श्रोता घ्राता देहेन्द्रियवर्जितोऽप्यकर्तापि।
सिद्धान्तागमतर्कांश्चित्रानहमेव रचयामि॥

(अन्वय/पदच्छेद) : (अ) इति शक्ति-चक्र-यन्त्रं क्रीडा-योगेन वाहयन् शुद्धरूपः अहम् एव देवः शक्ति-महाचक्र-नायक-पद-स्थः (अस्मि)।

(आ) निर्मले दर्पणे घट-आदीनि इव विश्वं मयि एव भाति, सुप्तात् स्वप्न-विचित्रत्वम् इव सर्वं मत्तः प्रसरति।

(इ) कर-चरण-आदि-स्वभावः देहः इव अहम् एव विश्वरूपः (अस्मि), भावेषु भा-स्वरूपम् इव अहम् एव सर्वस्मिन् स्फुरामि।

(ई) (अहम् एव) देह-इन्द्रिय-वर्जितः अपि द्रष्टा, श्रोता, घ्राता (च अस्मि), अकर्ता अपि अहम् एव चित्रान् सिद्धान्त-आगम-तर्कान् रचयामि।

अनुवाद : (अ) इस प्रकार (प्रसार-संहार) की क्रीडा के साथ स्वाभाविक योग होने के कारण शक्तिचक्र के रहँट को चलाता हुआ 'अहम्=मैं ही द्योतनशील और मलों से रहित देवता सारे शक्तिचक्र का संचालन करनेवाले नायक के पद पर प्रतिष्ठित हूँ।

(आ) जिस प्रकार निर्मल आरसी में घट, पट आदि पदार्थों के प्रतिबिंब झलकते रहते हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व (प्रतिबिंब) मुझ में ही (अर्थात् अहम्-दर्पण में ही) प्रकाशमान है, और जिस प्रकार सोए पड़े व्यक्ति ही स्वप्न अवस्था में सारे (पदार्थों की) विचित्रता संवित् रूपिणी कारणसामग्री से ही उद्भूत हो जाती है, उसी प्रकार 'अहम्' से ही सारा विश्व प्रसार में आता है।

(इ) हाथ, पैर इत्यादि अंगों की विलक्षणताओं को स्वाभाविक रूप में धारण करनेवाले शरीर की तरह मैं 'अहम्' ही विश्वरूप हूँ, और जिस प्रकार सत्ता के विविध रूपों में प्रकाश की एक ही सत्ता चकमती रहती है, उसी प्रकार सारे विश्व में केवल मैं (अहम्-रूप तत्त्व) स्पन्दायमान हूँ।

(ई) 'अहम्-रूप' मैं ही शरीर एवं इन्द्रियों से रहित होने पर भी सब कुछ देखनेवाला, सुननेवाला और सूंघनेवाला हूँ, और अकर्ता होने पर भी विचित्र प्रकार के रहस्यार्थों का अवबोध करानेवाले सिद्धान्त, आगम और तर्क शास्त्रों की रचना करता हूँ।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ (क) : इति व्याख्यातेन प्रकारेण चित्-आदि-शक्ति-पञ्चक-आक्षिप्त अनन्तो यः शक्तिसमूहः तदेव यन्त्रं क्रीडायोगेन वाहयन् अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन सृष्टि-आदि-उन्मज्जन-निमज्जन- हेलाक्रमेण विपरिवर्तयन् 'अहम्' एव इति। देवः सर्वप्राणिनाम् 'अहम्' इति अनाहतो नादात्मा पर-अहन्ता-चमत्कार-सारः स्वात्मपरामर्शः, स एव सर्वस्य अनपह्नवनीय अयं स्वात्मा एव देवः क्रीडनशीलः स्फुरति-इति। अनेन स्व-स्वरूप-निष्ठः एव शिवः-इति प्रतिपादितम्।

अनुवाद : पूवोक्त विश्लेषण के अनुसार चित् इत्यादि पांच प्रधान ईश्वरीय शक्तियों के द्वारा, दूसरी (अवान्तर) अनगिणत शक्तियों के समूह का 'आक्षेप' अर्थात् स्वरूप में अंतर्भाव करने के फलस्वरूप यह एक महान शक्तियंत्र क्रियाशील है। (जगत् की सृष्टि-संहार की) क्रीडा करने के साथ (स्वभावसिद्ध) योग होने के कारण 'अहम्-रूप' मैं ही इस शक्तियंत्र का, रहँट में बंधी घटिकाओं की भान्ति, सृष्टि इत्यादि अवस्थाओं को उबारने या डुबोने के परिवर्तनों के खिलवाड़ से घुमाता रहता हूँ। 'देवः अहम्' इन मूलशब्दों से सारे प्राणियों में 'अहंरूप' में वर्तमान रहनेवाले, अनाहत नादमय और ईश्वरीय अहं भाव की आनन्दमयतासे बल पाने वाले निजी आत्मा के परामर्श का अभिप्राय लिया जाता है। वही यह स्वात्ममहेश्वर, जिसका कोई भी अपलाप नहीं कर सकता है, 'देव' है अर्थात् (शाश्वत रूप में) क्रीडा करने के स्वभाववाला देवता स्वयं स्पन्दायमान है।

(ग्रन्थकार के) इस कथन से यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि शिव सदा अपने स्वरूप पर अविचल बना रहता है।

मूलग्रन्थ : तथा शुद्धरूपः-इति कल्पना-अतिक्रान्त-गोचरः। अन्यच् च शक्तीनां करणदेवतानां विषय-आहरण-त्याग-आदि-व्यवहार-स्वातन्त्र्य-दातृ यत् महाचक्रनायकपदं तत्र तिष्ठति तत्स्थः। 'यतः करणशक्तीनां चैतन्यविश्रान्तिं विना स्वरूपसत्ता न विद्यते, अतः शक्तिमन्तम् एव स्वरूप-आसादनाय अनवरतं भजन्ते'-इति अनेन सर्वप्रमातृहृदया- धिष्ठातृत्वात् भगवतो नियतभुवनाधिष्ठातृत्वं परिहृतम्।

अनुवाद : साथ ही मैं ही शुद्ध रूपवाला हूँ अर्थात् साधारण मानव कल्पना से अतिवर्ती पर-विमर्श से गम्य हूँ। इसके अतिरिक्त 'करणदेवियों' अर्थात् इन्द्रियशक्तियों को अपने अपने शब्द आदि विषयों का ग्रहण या त्याग करने की स्वतंत्रता को प्रदान करनेवाले शक्तिचक्र के नायक पद पर मैं ही आसीन हूँ। कारण यह कि जब तक इन्द्रियशक्तियां पूर्णरूप से चित्-भाव पर टिकी हुई न हों तब तक उनको अपने अपने रूप में सत्ता उपलब्ध नहीं हो सकती है। फलतः वे स्वरूप-सत्ता को प्राप्त करने के लिए प्रतिसमय किसी शक्तिमान के आश्रय पर निर्भर रहती हैं। इस कथन के अनुसार परमेश्वर के, सर्वसामान्य प्रमाताओं के हृदयों का अधिष्ठाता होने के कारण, उसके किसी निश्चित (शिवलोक इत्यादि) भुवन का ही अधिपति होने की मान्यता का निराकरण स्वयं हो जाता है।

मूलग्रन्थ (आ) : तथा यत् इदं किञ्चित् विश्वतया अभिमतं तत् सर्वम् आदर्शप्रतिबिंबन्यायेन मयि एव भाति व्याख्यात-रूप-अस्मद्-अर्थ-विश्रान्तम् एव अवभासते, अहन्तासारम् एव स्फुरति इति यावत्।

अनुवाद : इसके साथ ही जो कुछ भी, 'इदं=यह' इस शब्द के द्वारा वाच्य और 'विश्व' के रूप में मनोनीत किया जा रहा है वह सारा दर्पण में झलकते हुए प्रतिबिंब की भाँति मुझ में ही प्रकाशमान है। तात्पर्य यह कि 'अस्मद्-अर्थ' अर्थात् अहंभाव, पर आधारित होने से ही प्रकाशमान है। इसका भी संक्षिप्त तात्पर्य यह कि अहंभाव की सारवत्ता से ही स्पन्दायमान है।

मूलग्रन्थ : तथा मत्तः इति पूर्णात् 'अहम्' इति रूपात् स्वात्मनः सकलं निःशेषम् इदं विश्वं प्रसरति प्रमातृ-अपेक्षया अपहृततया स्फुरति। कथम्?-इत्याह स्वप्नविचित्रत्वम् इव सुप्तात्-इति। यथा निद्रितात् प्रमातुः

स्वप्नावस्थायां बाह्यपदार्थ-अभावे अपि पुर-प्राकार-देवगृहादि नाना-आश्चर्यं स्वप्नपदार्थवैचित्र्यम्, अविद्यादि-परिकल्पित-कारणान्तर-अभावात् स्व-संविद्-उपादानम् एव प्रसरति, तथा एव तीर्थान्तर-नियमित-कारणान्तर-अनुपपत्तेः अनवच्छिन्न-चिदानन्द-एकघनात् 'अहम्' इति रूपात् विश्वम्, इति।

अनुवाद : और भी 'मुझ से' अर्थात् परिपूर्ण 'अहम्' के रूपवाले अपने आत्मा से ही यह समूचा इदं-शब्द से वाच्य विश्व बहिरंग प्रसार में आता है। तात्पर्य यह कि (संसारी) प्रमाताओं की आवश्यकता के अनुसार (पूर्ण चित्-भाव से) बिलगाए हुए रूप में जैसे, स्पन्दायमान है।

(शंका) (यह विश्वप्रसार की क्रियात्मकता) किस प्रकार की है? (समाधान) जिस प्रकार सोए हुए प्रमाता की स्वप्न-अवस्था में बाहरी पदार्थों का पूरा अभाव होने पर भी, नगर, परकोटे, देवालय इत्यादि नाना प्रकार के अचरज भरे स्वप्निल प्रमेय पदार्थों की बहुरंगिता, (उस स्वप्न अवस्था में) अविद्या इत्यादि रूपवाले इतर काल्पनिक कारणों का सर्वथा अभाव होने के कारण, अवश्य उसकी अपनी (विकल्पमयी) संवित् की कारणसामग्री से ही प्रसार में आती है, उसी प्रकार, दूसरे संप्रदायों के गुरुओं के द्वारा निर्धारित कारणों के विसंगत होने के कारण, निश्चित रूप से, इयत्ताओं से रहित और मात्र चिदानन्द की घनता से ओत-प्रोत 'अहंभाव' से ही विश्व का प्रसार होता हे। यही निश्चित तथ्य है।

मूलग्रन्थ (इ) : तथा 'अहम्' एव विश्वरूपः इत्यादि। 'अहम्' इति एव यः पूर्णः चैतन्यपरामर्शः, एष एव अस्मि नानादेहादिप्रमातृतासमापन्नः विश्वरूपः, आ-गोपाल-बाल-अङ्गनादिषु अन्तर्-अभेदेन स्फुरणात् विश्वानि मम एव रूपाणि–इति यावत्। क इव? करचरणादिस्वभावोदेह इव। यथा सामान्येन सर्वेषाम् एको देहः करचरणादिस्वभावः प्रतिप्रमातृ स्वालक्षण्येन नानारूपः, तथा एव एकः चैतन्यलक्षणः पदार्थः सर्व-आवासत्वात् विश्वरूपः, इति।

अनुवाद : 'अहम् एव विश्वरूपः' इत्यादि कारिका का तात्पर्य इस प्रकार है–खंडनाओं से वर्जित एवं असीम चित्-विमर्श ही 'अहम्' की अभिव्यक्ति है। मैं वही 'अहम्' हूँ और (अपनी ही स्वतन्त्र इच्छा से) अलग अलग प्रकार के 'शरीर इत्यादि' अर्थात् शरीर, प्राण, बुद्धि, पुर्यष्टक

एवं शून्य रूपों वाले प्रमातृभावों को स्वीकारने से विश्वरूप हूँ। तात्पर्य यह कि ग्वाले, बच्चे, स्त्रियां इत्यादि सारे प्रमाताओं में भेदरहित रूप में स्पन्दायमान रहने के कारण विश्वभर के सारे प्रमाता मेरे रूपान्तरमात्र हैं। मैं हाथ, पैर इत्यादि अलग अलग अवयवों की अनेकाकारता को स्वाभाविक रूप में धारण करनेवाला एकाकार शरीर जैसा हूँ। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार हरेक जीवित प्रमाता का, हाथ, पैर इत्यादि अंगों को स्वाभाविक रूप में धारण करनेवाला एक ही शरीरसामान्य, अलग अलग प्रमाताओं की 'स्वलक्षणता' अर्थात् अपनी अपनी पहचान की विशेषता, के अनुसार अलग अलग रूपों वाला होता है, उसी प्रकार एक ही चैतन्य नामवाला 'पदार्थ अर्थात् परमार्थसत् अहंरूप चित्-प्रकाश, सारे जड-चेतनों की टिकान होने के कारण विश्वरूप है।

मूलग्रन्थ : तथा प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयरूपे अस्मिन् अहम् एव स्फुरामि सर्वस्य स्वात्मा अनुभवितृत्वेन प्रकाशनात्। कथम्? भावेषु भास्वरूपम् इव, इति। यथा नानावस्तुषु भास्वरूपम् अतिशयेन द्योतनशीलं वस्तु देदीप्य ते, तथा एव जडे अस्मिन् जगति एकः चित्-रूपः 'अहम्'-इति।

अनुवाद : प्रमाताओं, प्रमाणों एवं प्रमेयों के रूपवाले इस सारे (विश्व) प्रपंच में 'अहंरूप' मैं ही स्पंदनशील हूँ क्योंकि सारे प्रमाताओं में स्वात्मा ही अनुभावी सत्ता के रूप में प्रकाशमान है।

(शंका) किस प्रकार? (समाधान) जिस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के जागतिक पदार्थों में से, अतिशय से चमकने के स्वभाववाला पदार्थ (सूर्य इत्यादि) ही, निरंतरता से प्रकाशमान रहता है, उसी प्रकार इस सारे जड जगत् में केवल एक ही 'चित्-रूप वस्तु- अर्थात् 'अहम्' प्रकाशमान है।

मूलग्रन्थ (ई) : अतः च द्रष्टा इत्यादि देहेन्द्रियवर्जितः अपि, चिन्मूर्तत्वात् (चिन्मूर्तित्वात्?) अहम् एव-पश्यामि, शृणोमि, जिघ्रामि, रसयामि, स्पृशामि-इति सर्वत्र पूर्ण-अहन्ता-विश्रान्तेः कृतकृत्यता, देह-इन्द्रियवर्गो हि 'पश्यामि' इत्यादि मन्यते। परं स्वापादि-अवस्थासु द्रष्टृत्वादि-अभावात्, त्स्मात् देहेन्द्रियादिवर्गसमुल्लासकः तद्वर्जित अपि चिदानन्द-एकघनः सर्वभूत-हृदय-अन्तर-चारी विषयोपभोगभोक्ता अस्मत्-शब्द-वाच्यः परः पुरुष एव। तथा च श्रुतिः-

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥"

(श्वे० उ० ३/१९) इति।

अनुवाद : इसी उल्लिखित भाव का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने के लिए 'द्रष्टा' इत्यादि कारिका को बता रहा है–

'शरीर और इन्द्रियवर्ग से रहित होने पर भी चित्-प्रकाशमय होने के कारण 'अहंरूप' मैं ही-'(सब कुछ) देखता हूँ, सुनता हूँ, सूंघता हूँ, चखता हूँ और छूता हूँ'–इस प्रकार सारी क्रियाएँ, अंततः, परिपूर्ण 'अहंभाव' में विलीन हो जाने से ही सार्थक् हो जाती हैं, और (जड) शरीर एवं इन्द्रियवर्ग में–'मैं देखता हूँ' इत्यादि प्रकार के क्रियान्वयन की प्रतीति का संचार हो जाता है। परन्तु गहरी नींद इत्यादि (=स्वप्न मूर्च्छा इत्यादि) अवस्थाओं में शरीर एवं इन्द्रियवर्ग में 'देख लेने (=द्रष्टृत्व)' इत्यादि प्रकार की क्रियात्मकता का पूरा अभाव होने के कारण (यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि) (जड) शरीर एवं इन्द्रियवर्ग में चेतना का संचार करनेवाला, चिदानन्दघन एवं 'अस्मत्' जैसे शब्दों से वाच्य परमपुरुष ही, स्वयं शरीर एवं इन्द्रियों से रहित होने पर भी, सारे प्राणियों के अंतर्हृदय में चरण करता हुआ सारे (शब्द आदि) विषयों का उपभोग करता रहता है। वेदवाक्य भी इसका अनुमोदन करता है–

"जो पैरों के विना भी तेज़ दौड़ता है, हाथों के विना भी (सब कुछ) पकड़ लेता है और आंखों के विना भी देख लेता है, वही जो कानों के विना भी सुनता है, सारे 'वेद्य' अर्थात् ज्ञान का विषय बनने वाले विश्व की जानकारी रखता है और जिसका कोई जानकार नहीं है, उसी को सर्वोत्कृष्ट महापुरुष की संज्ञा दी गई है"।

(श्वे० उ० ३/१९)

मूलग्रन्थ : तथा अकर्ता अपि 'सिद्धान्तागम' इत्यादि। स्वयम् अविधाता अपि देव-मुनि-मनुष्य-आदि-आशय-आविष्टः संक्षेपविस्तार विवक्षया अन्तःप्रतिभास्वरूपः 'अहं' सिद्धान्तादीन् नानाश्चर्यान् करोमि, न पुनः जड़ानां लोष्टस्थानीयानां देहेन्द्रियाणां तत्करणं शक्यम्–इति तत्तद् व्यवधानेन 'अहम्' एव सर्वप्रमाणनिर्माता, इति।

अनेन पराहन्ता–स्वरूपस्य स्वात्ममहेश्वरस्य सत्तायां न प्रमाण-उपयोग उपपद्यते उपयुज्यते वा–इति उक्तं स्यात्। एवम् अनपह्नवनीयः 'अहम्'–इति

एवम् अनुभवितृतया सर्वेषां स्वात्मा एव शिवः सर्वत्र अवस्थितः सर्वप्रमाणेषु आदिसिद्धः, इति।

अनुवाद : इसके अतिरिक्त 'अकर्तापि सिद्धान्तागम' इत्यादि कारिकाभाग का तात्पर्य इस प्रकार है–

मैं (अहंरूप चित्-प्रकाश) स्वयं अकर्ता बनकर भी (मार्मिक रहस्यों का) संक्षेप में या विस्तारपूर्वक वर्णन करने की इच्छा से, देवता, मुनि एवं साधारण मनुष्यों के चित्तों में, आंतरिक प्रतिभा (ईश्वरीय ज्ञान) के रूप में अनुप्रवेश करके, नाना प्रकार के आश्चर्यजनक सिद्धान्तग्रंथों एवं अन्यान्य शास्त्रों की रचना करता हूँ। इसके प्रतिकूल, मिट्टी के पुतले जैसे जड, शरीर एवं इन्द्रियों के लिए (स्वतन्त्र रूप में) वैसा करना कदापि संभव नहीं है, अतः केवल 'अहंभाव' ही उन इन्द्रियों की आड़ में सारे प्रमाणग्रन्थों का निर्माता है।

इतने विश्लेषण से कूटरूप में यह देशना भी दी गई है कि 'पर-अहंता', अर्थात् विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों रूपों को स्वरूपमय अनुभव करने वाला परिपूर्ण अहंभाव (स्वच्छातिस्वच्छ चित्-प्रकाश), के स्वरूपवाले स्वात्ममहेश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए न तो कोई (शास्त्रीय) प्रमाण (स्वरूपसंवेदन के विना) उपयोग में लाया जा सकता है और न वैसा करने का कोई औचित्य ही है।

फलतः सर्वत्र सारे प्रमाताओं के अंतर्हृदय में आत्मारूपी शिव ही 'अहम्' इस अनुभावी चेतना के रूप में वर्तमान है। वह सारे प्रमाणों में (स्वयं ही) आदिसिद्ध प्रमाण है।

*(**अनुरोध** : यदि संभव हो सके तो 'अहम्' इस महामंत्र की गरिमा को अच्छी प्रकार हृदयंगम बनाने के लिए भगवान अभिनव के ही परमगुरु श्री उत्पलदेव के इस श्लोकार्ध–*

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः'–(अजप्रमातृसिद्धिः २२) का अनुशीलन करना भी न भूलें।)

कारिका-५१

उपक्रमणिका : तद् एवं व्याख्यातेन क्रमेण-'सर्वो ममायं विभवः'-इति दार्ढ्येन स्वात्मानं प्रत्यवमृशन् परब्रह्मस्वरूपो योगी भवति'-इति आह–

अनुवादः तो इस प्रकार यहां तक के व्याख्यानों में समझाए गए ढंग से-'यह सारा प्रपंच मेरी विभूति है'-इस दृढविश्वास के साथ आत्मविमर्श करने पर जुटा हुआ योगी अवश्य परब्रह्मस्वरूप बन जाता है'- इस विषय में (अगली कारिका) बतला रहा है-

मूलकारिका

इत्थं द्वैतविकल्पे गलिते प्रविलङ्घ्य मोहनीं मायाम्।
सलिले सलिलं क्षीरेक्षीरमिव ब्रह्मणि लयी स्यात्॥

अन्वय/पदच्छेद : इत्थं द्वैत-विकल्पे गलिते(सति) मोहनी मायां प्रविलङ्घ्य (योगी) सलिले सलिलं, क्षीरे क्षीरम् इव ब्रह्मणि लयी स्यात्।

अनुवाद : इस प्रकार द्वैतभाव का विकल्प गल जाने पर (योगी) भुलावे में डालने वाली माया को लांघकर, जल में जल या दूध में दूध की भांति, परब्रह्मस्वरूप में लय हो जाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : अनेन प्रकारेण सर्व-अहंभाव-परिशीलन-युक्त्या द्वैतविकल्पे गलिते भेदप्रथायां विलीनायां मोहनीं मायां प्रविलङ्घ्य अनात्मनि आत्माभिमानरूपाम् अख्यातिं भेदप्रथाहेतुम्-'अहम् एव विश्वात्मा' इति संकोच-अपसरणेन समुत्सृज्य, ज्ञानी ब्रह्मणि बृंहणात्मके पूर्णे चिदानन्द-एकघने स्वरूपे लयी स्यात् संकोचविलयाद् ब्रह्म-तादात्म्यं यायात्।

अनुवाद : ज्ञानी पुरुष इस प्रकार सारे जड-चेतनमय पदार्थवर्ग को मात्र अहंभाव का विकास अनुभव करने का अनुसन्धान करने की युक्ति से, सारे द्वैतभावमय विकल्पों के गल जाने पर, 'मोहनी माया' अर्थात् अनात्मारूप शरीर इत्यादि पर आत्म-अभिमान रखने के मोह में डालने वाली भ्रमात्मिका प्रतीति को लांघकर, परब्रह्म में लय हो जाता है। भ्रम ज्ञान ही मन में भेदभाव को उपजाने का कारण होता है। ज्ञानी पुरुष-'मैं अहंरूप विश्वात्मा ही हूँ' इस यथार्थ अनुभूति के द्वारा संकुचित वृत्तियों के हट जाने के रूप में माया को तिलाञ्जलि देकर, पुष्टिदायक, परिपूर्ण एवं चिदानन्दमय परब्रह्मस्वरूप में लय हो जाता है। लय हो जाने का तात्पर्य यह कि (उस आत्मज्योति में ही) सारे संकोचों का लयीभाव हो जाने के कारण परब्रह्मस्वरूप के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है।

मूलग्रन्थ : किं यथा? इत्याह सलिले इत्यादि। यथा सलिलम् उद्धृतं नानाघटादिभिः जलं क्षीरं वा विविध-शावलेय-बाहुलेय-आदि-अनेक-गोसहस्र-संभिन्नं पुनः अपि घट-शावलेय-आदि-कृत-भेद-सङ्कोचपरिक्षयात् सलिले सलिलं प्रविष्टं क्षीरे क्षीरं वा इति एकम् एव तद् वस्तुः, न तत्र भेदः स्फुरति, तथा एव देह-प्राण-पुर्यष्टक-शून्यात्मक-प्रत्यवमर्श-भङ्गात् ब्रह्म एव संपद्यते।

अनुवाद : किस पदार्थ की तरह (लयीभाव हो जाता है)? इस शंका का निवारण करने के लिए 'सलिले' इत्यादि पद्यांश प्रस्तुत कर रहा है।

जिस प्रकार अलग अलग रंगों वाले या मटमैले घड़ों या दूसरे पात्रों में भरा हुआ पानी या दूध, उन पात्रों के चितले या मटमैले रंगवैविध्य की हज़ारों किरणों के संपर्क से अलग अलग रंगों वाला जैसा ही भासमान होता है। उपरांत वही जल (उन पात्रों से वापस निकाले जाने पर), उन घड़ों से सम्बन्धित बहुरंगिता के भेदरूपी संकोच के उड़ जाने के कारण, दूसरे पानी या दूध में मिलाने पर बिल्कुल एकाकार एक ही वस्तु के रूप में भासित होने लगता है। उस वेला पर उसमें किसी भी प्रकार का रंगभेद स्फुरायमाण नहीं रहता, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर, प्राण, पुर्यष्टक एवं शून्यात्मक प्रत्यवमर्शों के विखंडित हो जाने के कारण ब्रह्मस्वरूप ही बन जाता है।

मूलग्रन्थ : *यथा आह भट्टदिवाकरवत्सः–*

'जाते देह प्रत्ययद्वीपभङ्गे
प्राप्तैकध्ये निर्मले बोधसिन्धौ।
अव्यावर्त्य त्विन्द्रियग्राममन्त-
र्विश्वात्मा त्वं नित्य एकोऽवभासि॥

इति कक्ष्यास्तोत्रे।

अनुवाद : जैसा कि भट्टदिवाकरवत्स ने अपने कक्ष्यास्तोत्र में कहा है–

"शरीर पर आत्ममानिता रखने के रूप वाले द्वीप का विघटन हो जाने के फलस्वरूप मलातीत बोधसागर के साथ सर्वाङ्गीण रूप में एकीकार हो जाने पर (ऐसा प्रतीत होता है कि) बहिर्मुखीन इन्द्रियवर्ग को अन्तर्मुखीन दिशा में मोड़ने के बिना भी केवल आप ही (अंतःबहिः समान भाव से) नित्य एवं भेदरहित रूप में प्रकाशमान हो।"

कारिका-५२

उपक्रमणिका : 'एवं ब्रह्मसत्ताम् अधिरूढस्य योगिनो द्वन्द्व-अभिभवः अपि ब्रह्ममय एव, न स्वरूपविप्रलोपाय प्रगल्भते'-इति आह–

अनुवाद : इस प्रकार ब्रह्मसत्ता पर पहुंचे हुए योगी को (सांसारिक) द्वन्द्वों से जनित तिरस्कार भी ब्रह्मरूप ही दिखाई देता है, अतः वह उसको स्वरूप से च्युत करने में सफल नहीं हो सकता'-इस विषय में कहता है–

मूलकारिका

इत्थं तत्त्वसमूहे भावनया शिवत्वमभियाते।
कः शोकः को मोहः सर्वं ब्रह्मावलोकयतः।

अन्वय/पदच्छेद : इत्थं भावनया तत्त्व-समूहे शिवत्वम् अभियाते सर्वं ब्रह्म अवलोकयतः कः शोकः कः मोहः (वर्तते?)

अनुवाद : इस प्रकार (विश्वात्मभाव की) निरंतर भावना का अभ्यास करने से सारे तत्त्ववर्ग के शिवमय ही प्रतीत होने पर सब कुछ ब्रह्मरूप ही देखनेवाले व्यक्ति को काहे का शोक और कौन सा मोह (हो सकता है?)

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : एवं निर्णीतेन प्रकारेण गलितकञ्चुकबन्धस्य योगिनः तत्त्वसमूहे भूत-विषय-इन्द्रिय-व्राते भावनया-'सर्वम् इदम् एका स्वसंवित्' इति दृढ़प्रतिपत्त्या शिवमयत्वं प्राप्ते परम-अद्वय-रूपतां याते, शोकमोह-उपलक्षिता द्वन्द्व-अभिभवाः, सर्वम् इदं तत्त्वव्रातं ब्रह्म पश्यतः अस्य न केचन एव ते–'ब्रह्ममयत्वात् सर्वे स्वस्वरूपरूपाः'-इति न खेदाय प्रभवन्ति।

अनुवाद : इसी निर्धारित पद्धति को अपनाने से षट्कंचुक के बंधन से छूटे हुए योगी को, पांच-महाभूत, शब्द आदि पांच विषय और इन्द्रियवर्ग के रूपवाला तत्त्वसमूह-'यह सारा प्रपंच मेरी भेदहीन संवित् का ही विकास है' इस अडिग भावना के द्वारा 'शिवमय' अर्थात् परम अद्वैतरूप का विस्तार ही दिखाई देता है। ऐसी अवस्था हो जाने पर, इस सारे इदंरूप तत्त्वसमूह को ब्रह्मरूप ही अनुभव करनेवाले उस योगी की दृष्टि में, शोक या मोह से परिलक्षित होने वाले अंतर्द्वन्द्वों से जनित भर्त्सनाओं का कुछ भी मूल्य नहीं रहता–क्योंकि सब कुछ शिवमय होने

के कारण वह उनको भी स्वरूपरूपी ही अनुभव कर लेता है। इसी कारण से वे उसको कोई भी मानसिक आघात नहीं पहुंचा सकती हैं।

कारिका-५३

उपक्रमणिका : ननु परमाद्वयरूपस्य अपि ज्ञानिनः अवश्यं स्थिते शरीरे अपि तद्-हेतुक-शुभ-अशुभ-कर्मफल-सञ्चयः किमिति न स्यात्?-इति परिहरति–

अनुवाद : 'प्रश्न यह है कि अगर ज्ञानीजन एक और परम-अद्वैत भूमिका पर पहुँचा हो, परन्तु दूसरी ओर शरीर को भी धारण कर रहा हो, तो उसको शरीर के हेतु से उत्पन्न होने वाले सत्कर्मों या असत्कर्मों के फल क्यों नहीं सञ्चित होते होंगे?'-इस शंका का निवारण कर रहा है–

मूलकारिका

कर्मफलं शुभमशुभं मिथ्याज्ञानेन सङ्गमादेव।
विषमो हि सङ्गदोषस्तस्करयोगोऽप्यतस्करस्येव॥

अन्वय/पदच्छेद : शुभम् अशुभं कर्मफलं मिथ्या-ज्ञानेन सङ्गमात् एव (भवति), 'हि सङ्गदोषः विषमः' अतस्करस्य अति तस्करयोगः इव।

अनुवादः अच्छे या बुरे कर्मों का फल केवल मिथ्याज्ञान के साथ संगम होने से ही प्राप्त होता है, 'निश्चय से संगति का दोष बड़ा घातक होता है'–जिस प्रकार चोरी न करने वाले भद्रजन को भी चोर की संगति (अवश्य चोर ही बना देती है)।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : अश्वमेध-ब्रह्महनन-आदिरूप-पुण्य-अपुण्य-कर्मफल-प्रचय-सञ्चयः अपि मिथ्याज्ञानेन सङ्गमाद् एव प्रादुर्भवति। 'अहं शरीरी, इदम् अश्वमेधादि मम उपायतया अस्तु'–इति यद् अनात्मनि आत्माभिमानपूर्वम् आत्मनि अनात्माभिमानलक्षणं वैपरीत्येन ज्ञानं, तेन यः अभिष्वङ्गः तस्माद् एव पशोः शुभ-अशुभ-कर्मकल-संचयो येन अनवरत-अधिवासितः संसार-क्लेश-भाजनं भवति।

अनुवाद : अश्वमेध यज्ञ या ब्रह्महत्या जैसे शुभ या अशुभ कर्म करने से उत्पन्न कर्मफलों का अटाला भी मिथ्याज्ञान के साथ संगम हो जाने से ही प्रकट हो जाता है। 'मैं शरीर को धारण कर रहा हूँ, ये अश्वमेध

इत्यादि सत्कर्म मेरे (शरीर को ठीक रखने के) उपाय बने रहें'–इस प्रकार अनात्मरूप शरीर पर आत्ममानिता रखने के साथ साथ वास्तविक आत्मा को आत्मा न मानना ही विपरीतज्ञान का लक्षण है। इस विपरीत ज्ञान से पशु के अंतस् में रागात्मिका प्रवृत्ति जन्म लेती है और उसी से उसके लिए अच्छे या बुरे कर्मफल संचित हो जाते हैं। लगातार उन्हीं से उत्पन्न होने वाली मानसिक कलुषता से वह संसार के दु:खों को भोगता रहता है।

मूलग्रन्थ : ननु ब्रह्मात्मकस्य अपि प्रमातुः किमिति एतावता पशुत्वम् आयाति? इत्यत्र अर्थान्तरम् उपक्षिपति 'विषमो हि' इत्यादि। यस्मात् सङ्गदोषः सर्वथा अविषह्यः–यथा असाधुयोगः अत्यन्तसाधोः अपि स्वगतदोषसमर्पणं कुरुते, तथैव शुद्धस्य अपि प्रमातुः अख्यातिजनितः मोहयोगः पशुत्वम् आपाद्य शुभ-अशुभ-कर्म-संबन्धं ददाति।

अनुवाद : (प्रश्न) ब्रह्मस्वरूप बने हुए प्रमाता को भी क्यों इतना मात्र होने से ही पशुभाव दबोच लेता है? बात को बदलकर 'विषमो हि'–इत्यादि कारिकाभाग में इस शंका का समाधान प्रस्तुत कर रहा है–

कारण यह है कि संगदोष से बचना हर प्रकार से असंभव होता है। जिस प्रकार खल पुरुषों का मेलमिलाप सज्जन पुरुष में अवश्य अपनी खलता का संक्रमण कर लेता है, उसी प्रकार अख्याति से जनित मोह का संग निर्मल आशय वाले पुरुष को भी पशुभाव की देहली पर धकेलकर अच्छे या बुरे कर्मफलों के साथ जोड़ देता है।

कारिका-५४

उपक्रमणिका : 'जन्म-मरणादि अपि न ब्रह्मस्वरूपस्य योगिनः, अपि तु मायाप्रमातृणाम् एव'–इति आह–

अनुवादः 'आवागमन इत्यादि का बखेड़ा भी परब्रह्मस्वरूप पर पहुंचे हुए योगी को नहीं, प्रत्युत मायाप्रमाताओं (पशुजनों) को ही होता है'–इस विषय की चर्चा करता है–

मूलकारिका

लोकव्यवहारकृतां य इहाविद्यामुपासते मूढाः।
ते यान्ति जन्ममृत्यु धर्माधर्मार्गलाबद्धाः॥

अन्वय/पदच्छेदः इह ये मूढाः लोक-व्यवहार-कृताम् अविद्याम् उपासते, ते धर्म-अधर्म-अर्गला-बद्धाः जन्म-मृत्यू यान्ति।

अनुवादः इस संसार में जो मूढ जन लोक-व्यवहार से उत्पादित 'अविद्या' अर्थात् भेदभाव पर आधारित विपरीतज्ञान को ही अपनाते हैं, वे धर्म और अधर्म के बंधनों में फंसकर जन्म-मरण के भागी बन जाते हैं।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : ये प्रमातारो देह-आत्ममानिनो भूत्वा फलकामनाकलुषिता लोकाचाररूपां पुण्य-अपुण्य-मयीम् अविद्यां भेदप्रथारूपां मायां जगति स्वर्ग-नरक-आदि-फलप्राप्ति-उपायत्वेन सेवन्ते, ते मूढाः अज्ञाः पुण्य-अपुण्यनिगड-बद्धाः तत्फल-उपभोगाय जायन्ते म्रियन्ते च-इति अनवरत संसारक्लेशभाजो भवन्ति। न पुनः प्रक्षीण-मोह-आवरणो विगलित-धर्म-अधर्म-बन्धो ब्रह्मस्वभावो योगी जायते म्रियते वा-इति।

अनुवाद : इस जगत में जो शरीर को ही आत्मा मानने वाले प्रमाता, मनोनीत कर्मफलों को पाने की कामना करने से कुत्सित वृत्तियों वाले बनकर, लोकाचार के नाम पर पुण्य या अपुण्य कर्मों को करते रहने के रूपवाली 'अविद्या' अर्थात् भेदभाव के रूपवाली माया का सेवन इस अभिप्राय से करते हैं कि वह उनके लिए मनोनीत स्वर्ग नरक इत्यादि फलों को प्राप्त कराने का उपाय बनी रहे, वे मूढ़ जन उन्हीं शुभ या अशुभ कर्मों की श्रृंखलाओं से जकड़े हुए होने के कारण, उनसे मिलने वाले कर्मफलों का भोग करने के लिए बार बार जन्मते और मरते हुए लगातार संसार के क्लेशों के भागी बन जाते हैं। इसके प्रतिकूल ऐसा योगी, जिस पर छाया हुआ मोह का परदा फट गया हो, जिसके (तथाकथित) धर्म एवं अधर्म के बंधन गल चुके हों और जो ब्रह्मस्वभाव वाला बन गया हो, न कभी जन्मता और न मरता है।

कारिका-५५

उपक्रमणिका : 'एवम् अविद्या-उपार्जितानि अपि कर्माणि ज्ञान-आविर्भावात् एव क्षीयन्ते न अन्यथा',-इति आह-

अनुवाद : 'इसी प्रकार अविद्या का सेवन करने से संचित किये हुए कर्म भी (अंतस् में) यथार्थ ज्ञान के प्रकाशित होने से ही क्षीण हो जाते हैं, अन्यथा नहीं'-यह देशना दे रहा है-

मूलकारिका

अज्ञानकालनिचितं धर्माधर्मात्मकं तु कर्मापि।
चिरसंचितमिव तूलं नश्यति विज्ञानदीप्तिवशात्॥

अन्वय/पदच्छेदः तु अज्ञान-काल-निचितं धर्म-अधर्मात्मकं कर्म अपि चिरसंचितं तूलम् इव विज्ञान-दीप्ति-वशात् नश्यति।

अनुवाद : निश्चय से अज्ञान की अवधि में संचित किये गये धर्म या अधर्मात्मक कर्म भी, बहुत समय से इकट्ठा किये गये रूई के अम्बार की तरह, विशिष्ट ज्ञान की ज्वाला में जलकर नष्ट हो जाते हैं।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : अज्ञानकाले कृत्रिम-प्रमातृता-अभिमान-अवसरे पुण्य-अपुण्यरूपं कर्म, अनुगुणफलप्रार्थनया, यत् निचितं स्वीकृतं, तत् विज्ञानदीप्तिवशात् विशिष्टज्ञानदीप्तिवशात् नश्यति–'अहम् एव परं ब्रह्म' इति कृत्रिमप्रमातृतादाहसमर्थं विज्ञानं, तस्य या पौनःपुन्येन प्रत्यवमर्शनात्-प्रभा, तत्सामर्थ्यात् तद्-अदर्शनं याति।

अनुवाद : 'अज्ञानकाल में' अर्थात् शरीर प्राण इत्यादि रूपों वाले अवास्तविक प्रमातृभाव पर ही अहं-अभिमान रखने के अख्यातिकाल में, जो और जितना पुण्य या अपुण्य रूप कर्म, उस कर्म के ही अनुगुण फल की कामना से स्वयं अङ्गीकार करके, संचित किया होता है, वह सारा-'मैं अहंरूप परब्रह्म ही हूँ-ऐसे, कृत्रिम प्रमातृभाव की संकीर्णता को जलाने की क्षमता वाले, विशेष ज्ञान का निरंतर अनुसन्धान करते रहने से उत्पन्न आंतरिक प्रभापुञ्ज में लुप्त हो जाता है।

मूलग्रन्थ : किमिव? इत्याह चिरसञ्चितं तूलम् इव।

यथा चिरसञ्चितं तूलं हंसरोम वह्निप्रदीप्तिवशात् झटित्येव भस्मसात् याति, तथा एव सर्वः कर्मफलप्रचयो विज्ञानवह्निसामर्थ्यात् क्षणमध्ये प्रलयम् उपगच्छति, इति।

अनुवाद : किस पदार्थ की तरह? इसका समाधान करने के अभिप्राय से-'चिरसञ्चितं तूलम् इव' इस कारिकाभाग को प्रस्तुत कर रहा है–

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार चिरकाल से जमाया हुआ हंस के रोओं को ढेर आग का लपट में देखते ही देखते राख हो जाता है, उसी

प्रकार सारा संचित कर्मों का अटाला ज्ञानाग्नि के बल से पलक भर में नष्ट हो जाता है।

मूलग्रन्थ : गीतासु-

'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(गीता ४, ३७) इति।

अनुवाद : गीता में इस प्रकार कहा गया है–

'हे अर्जुन! जैसे धधकती हुई आग लकड़ियों के ढेर को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी आग सारे (संचित) कर्मों को राख बना देती है'। (गीता ४, ३७)

कारिका–५६

उपक्रमणिका : 'न केवलं प्राक् कृतं कर्म ज्ञानप्रसादात् उपलीयते, यावत् इदानीन्तनम् अपि कर्म ज्ञान-इद्धया दृष्टया न फलभोगाय पर्यवस्यति'-इति आह–

अनुवाद : 'केवल इतना ही नहीं कि ज्ञान से अंतःकरण निर्मल हो जाने के कारण पूर्वसंचित कर्मों का नाश हो जाता है, प्रत्युत दृष्टि में भी ज्ञान का आलोक फैल जाने से वर्तमानकालिक आरब्धकर्म भी अपने फल का उपभोग कराने में सफल नहीं हो सकता है'-इस विषय में कहता है–

मूलकारिका

ज्ञानप्राप्तौ कृतमपि न फलाय ततोऽस्य जन्म कथम्।

गतजन्मबन्धयोगो भाति शिवार्कः स्वदीधितिभिः॥

अन्वय/पदच्छेद : ज्ञान-प्राप्तौ कृतम् अपि (कर्म) न फलाय, ततः अस्य जन्म कथम्? गत-जन्म-बन्ध-योगः शिव-अर्कः स्व-दीधितिभिः भाति।

अनुवाद : स्वरूपज्ञान का उदय हो जाने पर पूर्वजन्मों में किया हुआ कर्म (संचितकर्म) फलित न होने के कारण इस ज्ञानी जन को पुनर्जन्म कहा से हो सकता है? जन्मरूपी बंधन के साथ संबन्धविच्छेद हो जाने पर वह शिवरूपी सूर्य अपनी चित्-रश्मियों से (सदा) चमकता रहता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : आत्म-महेश्वर-प्रत्यवमर्श-प्ररूढौ कृतम् अपि शुभ-अशुभ-आदिकं कर्म कृत्रिम-प्रमातृता-अभावात् न अनुगुणफलदानाय प्रगल्भते,-इति कर्मफल-अभावात् तद्-उपभोग-भोग्यस्य जन्मनः केन प्रकारेण सत्ता स्यात्? न भवेत् योगिनः पुनर्जन्म इति अर्थः।

अनुवाद : स्वात्ममहेश्वर का आंतरिक अनुसन्धान सिद्ध हो जाने पर, पूर्वकाल में किया हुआ भी अच्छा या बुरा इत्यादि प्रकार का कर्म अपने अनुगुण फल देने के लिए समर्थ नहीं रहता, क्योंकि ऐसी स्थिति में (शरीर इत्यादि के साथ संबन्धित) अवास्तविक प्रमातृभाव नहीं रहता है। फलतः जब कर्मफल का ही पूरा अभाव हो तो उसका उपभोग करने के लिए अपेक्षित अगला भोग्य जन्म किस हेतु से सत्ता पा सकेगा? भाव यह कि ऐसे योगी का पुनर्जन्म (निश्चित रूप से) नहीं होता है।

मूलग्रन्थ : ननु पिण्डपातात् पुनः न जायते चेत्, तर्हि कीदृशः स्यात्?-इति आह 'गतजन्म' इत्यादि। गतो जन्मरूपस्य बन्धस्य योगः सम्बन्धो यस्य स एवम्-इति। प्रक्षीण-मोह-आवरणः स्व-दीधितिभिः चित्-मरीचि-निचयैः स शिवरूप अर्को भाति स्फुरति। न पुनः तीर्थान्तर-परिकल्पितः अस्य मोक्षः-कुत्रचित् प्राप्तिः,-इति केवलं माया-आदि-कञ्चुक-कृत-संकोच-विनाशात् स्व-शक्ति-विकस्वरताम् आपद्यते-इति।

अनुवाद : प्रश्न यह उठता है कि यदि वह देहत्याग के उपरान्त फिर जन्म नहीं लेता, तो फिर किस रूप में अवस्थित रहता होगा? इसका समाधान-'गतजन्म' इत्यादि कारिका-भाग से करता है-

जन्म रूपी बंधन के साथ कोई संबन्ध न रहने से मायीय आवरण को हट जाने पर वह शिवरूपी सूर्य स्वरूपमयी चित्-रश्मियों के द्वारा स्फुरायमाण रहता है। ऐसी कोई परिस्थिति नहीं कि ऐसे साधक को शैवेतर गुरुओं के द्वारा कपोलकल्पित मुक्ति-अर्थात् किसी दूसरे लोक में उत्क्रान्ति के द्वारा पहुंचने के रूपवाली मुक्ति-मिली होती है। वास्तव में माया-परिवार से बने हुए कञ्चुक से उत्पादित संकोच का नाश होने के कारण उसकी अपनी ही शक्तियां निखर उठती हैं।

कारिका-५७

उपक्रमणिका : अत्र एव युक्तिम् आह–

अनुवाद : इसी परिप्रेक्ष्य में दृष्टान्त प्रस्तुत करता है–

मूलकारिका

तुष कम्बुककिंशारुकमुक्तं बीजं यथाङ्कुरं कुरुते–
नैव, तथाणवमायाकर्मविमुक्तो भवाङ्कुरं ह्यात्मा॥

अन्वय/पदच्छेद : यथा तुष-कम्बुक-किंशारुक-मुक्तं बीजम् अङ्कुरं न एव कुरुते, तथा आणव-माया-कर्मविमुक्तः आत्मा हि भव-अङ्कुरं (न एव कुरुते)

अनुवाद : जिस प्रकार तुस, भूसी और 'किंशारुक' अर्थात् दाने की लंबी बाल, इनसे अलगाया हुआ 'बीज' अर्थात् शाली का दाना, कभी भी अंकुरा नहीं सकता है, उसी प्रकार आणव, मायीय और कार्म इन तीन मलों से छूटा हुआ आत्मा संसार के अंकुर को (नये सिरे से नहीं उपजाता है)

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थः यथा किंशारुक-तुष-कम्बुकेभ्यः पृथक् कृतं शालि-बींज, बीज-स्वभाव-किंशारुक-आदि-सामग्री-अभावात्, क्षिति-जल-आतप-मध्यवर्ती अपि, न एव अङ्कुर-जनन-लक्षण-कार्य-हेतुः भवति, तथा एव कम्बुक-स्थानीयेन आणवेन मलेन, तुषस्थानीयेन मायामलेन, किंशारुकस्थानीयेन कार्ममलेन च मुक्तः पृथक्-भूतः आत्मा चैतन्यं, मलत्रयरूपसामग्री अभावात्, न पुनः भवाङ्कुरं संसारप्ररोहं विदधाति। केवलं विश्व-गत-नाना-पदार्थ-सार्थ-प्रादुर्भाव-विनाश-वैचित्र्यं स्वात्मनि परामृशन् महेश्वर एव भवति।

अनुवाद : (दृष्टान्त) जिस प्रकार किंशारुक, तुस और भूसी से अलगाया हुआ धान का बीज, मिट्टी, जल और धूप के बीच में होते हुए भी, अंकुर को उपजाने के रूपवाले कार्य का कारण नहीं बन सकता है क्योंकि उसको प्रजनन सामर्थ्य को धारण करनेवाली किंशारुक इत्यादि सामग्री का अभाव होता है,

(दार्ष्टान्तिक) उसी प्रकार भूसी, तुस और किंशारुक इनके स्थानापन्न क्रमशः आणवमल, मायामल और कार्ममल इनसे छूटा हुआ

चैतन्य, (संसार के अंकुर को उपजाने वाली) तीन मलों की सामग्री का अभाव होने के कारण, नये सिरे से संसार के अंकुर को नहीं जनता है। वह तो अपने आत्मभाव में सारे जगत् के पदार्थवर्गों की सृष्टि और संहार की अद्भुत लीला का विमर्श करता हुआ साक्षात् महेश्वर ही बना रहता है।

कारिका-५८

उपक्रमणिका : 'एवं ज्ञान-अग्नि-दग्ध-कञ्चुक-बीजस्य ज्ञानिनो न किञ्चित् शङ्कास्थानं हेय-उपादेयं वा'-इति अत आह-

अनुवाद : 'ऐसे ज्ञानी के लिए, जिसने आत्मज्ञान की अग्नि में षट्-कंचुकरूपी (संसार अंकुर के) बीज को जला दिया हो, न कोई शंका का विषय और न कुछ त्याज्य या ग्राह्य ही होता है'-इस अभिप्राय से (अगली कारिका) बता रहा है-

मूलकारिका

आत्मज्ञो न कुतश्चन बिभेति सर्वं हि तस्य निजरूपम्।
नैव च शोचति यस्मात् परमार्थे नाशिता नास्ति॥

अन्वय/पदच्छेद : आत्मज्ञः कुतश्चन न बिभेति यस्मात् सर्वं हि तस्य निजरूपं (वर्तते), च न एव शोचति यस्मात् परमार्थे नाशिता न अस्ति।

अनुवाद : आत्मज्ञानी जन किसी भी भयहेतु से भयभीत नहीं होता है क्योंकि वह सारे जगत्-प्रपंच को स्वरूपरूपी ही अनुभव करता है, साथ ही उसको कोई शोक भी नहीं होता है क्योंकि परमार्थ (आत्मपरिचय) नाशवान नहीं होता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : यः आत्मज्ञः स्वात्ममहेश्वर-स्वातन्त्र्य-वित् स न कुतश्चन बिभेति, न स कस्मात् अपि राज्ञः शत्रोः, प्राणिभ्यो वा भयम् आदत्ते। कुत एतत्? इति आह 'सर्वं' हि तस्य निजरूपम्' इति। यतः तस्य स्वात्म-महेश्वर-अद्वय-वे दिनः सर्वं पदार्थजातम् इदं विश्वं निजस्य स्वात्मनो महाप्रकाश-एकवपुष एव रूपम् आकारः, सर्वत्र प्रकाश-अनुगमात्, इति प्रकाश एव स्वातन्त्र्यात् परात्मना प्रकाशते। अत एव भयस्थानं लोके यत् किञ्चित् प्रतिभाति तत् तस्य तथा एव स्वाङ्गकल्पम् एव कथं भयजनकं स्यात्?

अनुवाद : स्वात्ममहेश्वर के स्वातन्त्र्य स्वरूप की अनुभूति रखनेवाला आत्मज्ञानी राजा, शत्रु अथवा और किसी (हिंस्रक) प्राणी से भयभीत नहीं होता है। क्यों नहीं होता है? इसका समाधान 'सर्वं हि तस्य निजरूपम्' इन शब्दों से करता है। चूँकि स्वात्महेश्वर के अद्वैतस्वभाव से परिचित व्यक्ति को सारा इदंरूप पदार्थवर्ग अथवा समूचा विश्व ही अपने महाप्रकाशमय स्वरूप के साथ एकाकार दिखाई देता है। हरेक दिशा में केवल प्रकाश का अनुगम (पृष्ठपोषण) होने के कारण, वास्तव में, अहंरूप प्रकाश ही निजी स्वातन्त्र्य से इदंरूप में प्रकाशमान है, अतः संसार में जो कुछ भी भयोत्पादक लगता हो, वह सारा स्वरूपमय होने के कारण, ज्ञानी पुरुष के लिए भयोत्पादक कैसे हो सकता है?

मूलग्रन्थ : यद् उत स्वात्मनो व्यतिरिक्तः पदार्थो भयहेतुः भवेत्, कः पुनः सर्वतः परिपूर्णस्य अवधिभूतो भिन्नो यमादिः अस्ति? यस्मात् ज्ञानी अपहस्तित-देह-आत्ममानित्वः अपि बिभियात्—इति सर्वत्र निजरूप-उपलब्धेः संसार-स्थित अपि एकको विगलितस्वपरविभागतया निःशंङ्क विचरति एव।

अनुवाद : अब जो यह दूसरा विकल्प है कि ऐसा पदार्थ भय का कारण बन सकता है जो कि निज आत्मभाव से निरा भिन्न हो, परन्तु विचारणीय यह है कि जब आत्मभाव चारों ओर से परिपूर्ण है-(अर्थात् कोई भी पदार्थ उससे भिन्न नहीं है) तो यह यम इत्यादि नामवाला कौन सा अतिरिक्त पदार्थ, उसकी (परिपूर्ण स्वरूप की) सीमा बनकर, कहां से आ टपका, जिससे ऐसा ज्ञानी जन, जिसने शरीर को ही आत्मा मानने का अभिमान सर्वथा दुतकारा हो, भी भयभीत होने लगे? ऐसी स्थिति में सर्वत्र स्वरूपरूप की उपलब्धि होने के कारण वह एकला स्वात्ममहेश्वर, संसार में रहता हुआ भी, अपने और पराये का भेदभाव गल जाने से, अवश्य निःशंक होकर विचरण करता रहता है।

मूलग्रन्थ : यथा उक्तं परमेष्ठिपादैः—

'योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः।
स्वात्ममात्रपिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम्॥'

(उ० स्तो– १३, १६)

इति। ग्रन्थकार अपि–

'एककोऽहमिति संसृतौ जनस्त्राससाहसरसेन खिद्यते।
एककोऽहमिति कोऽपरोऽस्ति मे इत्थमस्मि गतभीर्व्यवस्थितः।।इति।

अनुवाद : जैसा हमारे परमेष्ठि गुरु (श्री उत्पलदेव) ने कहा है–(ध्यानाकर्षण)–'योऽविकल्पम्' इत्यादि उल्लिखित उत्पल-स्तोत्रावली के पद्य का जैसा अनुवाद वन्द्याभिधान सद्गुरु श्रीईश्वरस्वरूप महाराज जी ने किया है, उसी को यथावत् रूप में यहां पर, उन्हीं की इच्छा के अनुसार, उद्धृत किया जा रहा है–)

'हे स्वतन्त्र प्रभु! जो (आपका भक्त) इस समस्त वस्तुसमूह (अर्थात् सारे जगत्) को निर्विकल्पता से (अर्थात् शाक्त समावेशक्रम से) आपका स्वरूप ही देखता है (अर्थात् जिसे प्रत्येक वस्तु में आप चिद्रूप की ही झलक दिखाई देती है, इस प्रकार स्वात्म-स्वरूप से (अर्थात् चिदेकता से) परिपूर्ण बने हुए संसार में उस सदा सुखी (अर्थात् परमानन्दघन भक्त) को भय (किससे अथवा) कहां से हो सकता है।

ग्रन्थकर ने भी इस प्रकार कहा है–

जन्म और मरण के चक्कर में पड़ा हुआ सर्वसाधारण भ्रान्त-जन, अपने को बिल्कुल अकेला (निःसहाय) समझता हुआ, (मृत्यु इत्यादि के) त्रास से बचने के लिए बड़ी लगन से जोखिम उठाते रहने के खेद में ही पड़ा रहता है, इसके प्रतिकूल–'एकला मैं ही अर्थात् द्वैतहीन अहंभाव ही सर्वत्र व्यापक हूँ, कौन मेरा पराया है?' इस आत्मिक प्रतिपत्ति की दृढ़ता से मैं सर्वथा निर्भय बनकर मात्र चिन्मयमूर्ति बन गया हूँ।'

मूलग्रन्थ : अन्यत् च 'नैव शोचति' इत्यादि। न अपि आत्मज्ञः शोचति। यथा–'धन-दारादिकं मम नष्टं, रिक्तः अस्मि, व्याधिना आक्रान्तः अहं, म्रिये वा इत्यादि। यतो व्याख्यातेन क्रमेण परमार्थे तात्त्विके वस्तुनि चैतन्यरूपे अन्तर्मुखे प्रमातृमात्रे नाशिता क्षयधर्मित्वं न विद्यते।

अनुवाद : और भी 'नैव शोचति' इत्यादि शब्दों का तात्पर्य इस प्रकार है–

आत्मज्ञानी जन : 'हाय मेरा धन, स्त्री इत्यादि सब कुछ लुट गया, मैं खाली (जेब) हूँ, व्याधिग्रस्त हूँ अथवा मर भी सकता हूँ'–इत्यादि (सांसारिक) विषयों को लेकर शोक भी नहीं करता है। कारण यह कि पूर्वोक्त मीमांसा के अनुसार 'परमार्थ' अर्थात् चैतन्यमय तात्त्विक पदार्थ, अथवा दूसरे शब्दों में अंतर्मुखीन परप्रमातृभाव नश्वर सद्भाव नहीं है।

मूलग्रन्थ : **सर्वं हि अभिमानसारं कार्यत्वेन प्रतिभासमानम् इदन्ता-अवच्छिन्नम् उत्पद्यते क्षीयते च, न पुनः संविन्मयस्य आत्मनः अहन्तासारस्य अकृत्रिमस्य स्वतन्त्रस्य-कार्य-उन्मुख-प्रयत्न-अनुपलब्धेः। न च एतावता स्वरूपविप्रलोपः स्यात्–इति विमृशतो योगिनो देहस्थस्य अपि तत्-हेतुकः शोक-आदि-आविर्भावः स्वरूप-आच्छादकत्वेन न भवेत्–इति।**

अनुवाद : कार्यरूप में आभासमान रहनेवाला और इदंभाव की इयत्ता से सीमित सारा जगत्-प्रपंच केवल थोथे जीव अभिमान की नींव पर खड़ा है। कार्यरूप होने के कारण इसकी उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं। इसके प्रतिकूल संवित्स्वरूप, यथार्थ अहं-अनुभूति के सार वाले, अकृत्रिम् एवं स्वतन्त्र आत्मा की उत्पत्ति और नाश कभी नहीं होते हैं, क्योंकि आत्मा कार्यरूप नहीं है। अत: उसके संदर्भ में कार्यता के उन्मुख प्रयत्न का सर्वथा अभाव है। इसके अतिरिक्त संसारभाव के तुच्छ शोक-मोह आदि कारणों से उसके स्वरूप का लोप नहीं हो जाता है। शरीर में रहते हुए भी इस प्रकार के आंतरिक विमर्श पर रूढ़ बने हुए योगी के लिए, शरीर के हेतु से ही उत्पन्न होनेवाले, शोक इत्यादि स्वरूप-आच्छादक नहीं बन सकते हैं।

कारिका-५९

उपक्रमणिका : **'न अपि स्वात्ममहेश्वर-परिशीलन-दार्ढ्यात् अस्य ज्ञानिनः चेतसि अपूर्णत्व-आदि-दोषः स्यात्'–इति प्रतिपादयति–**

अनुवाद : 'स्वरूप में ही स्वात्ममहेश्वर का विमर्शमय साक्षात्कार करने की अचूक क्षमता वाले इस ज्ञानी पुरुष के चित्त में अपूर्णता इत्यादि संकोच नाम के लिए भी नहीं हो सकते हैं'-इस भाव की पुष्टि कर रहा है–

मूलकारिका

अतिगूढहृदयगञ्जप्ररूढपरमार्थरत्नसंचयतः।
अहमेवेति महेश्वरभावे का दुर्गतिः कस्य?॥

अन्वय/पदच्छेद : अति-गूढ-हृदय-गञ्ज-प्ररूढ-परमार्थ-रत्न-संचयतः 'अहम् एव'-इति महेश्वर भावे कस्य का दुर्गतिः (संभाव्यते)।

अनुवाद : अत्यन्त रहस्यमय हृदयरूपी कोष में (ईश्वरीय शक्तिपात से स्वयंसिद्ध रूप में) पूर्णवृद्धि को प्राप्त हुए परमार्थरूपी रत्नों के संग्रह

से-'मैं ही हूँ' इस प्रकार से महेश्वरभाव की प्रत्यभिज्ञा हो जाने पर किसको काहे की बुरी गति होने की संभावना है?

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : अतिगूढम् अतिशयेन गुप्तं हृदयम् एव गञ्जं सर्व-पदार्थ-स्वस्वरूप-विश्रान्तिस्थान-स्वभावं भाण्डागारं, तत्र यः अति-तीव्रतम-समाश्वास-प्ररूढः 'परमार्थः' सद्गुरु-उपदिष्टः स्वात्म-ज्ञान- सतत्त्वः, स एव सर्वविभूतिहेतु त्वात् रत्नसंचय इव 'रत्नसंचयः' तेन हेतुना 'अहम् एव'-इति सर्वम् इदम् अस्मि इति यः आविर्भूतः पूर्णः पराहन्ता-विश्रान्ति-लक्षणो महेश्वरभावः शरीरिण अपि स्वात्म-प्रकाश-स्वातन्त्र्यं, तस्मिन् स्थिते का नाम वराकी दुर्गतिः, दरिद्रभावः, तत् उपलक्षितो वा कश्चित् कृत्रिमो विभूति-आदि-अतिशयः स्यात्?

अनुवाद : ज्ञानी जन का अत्यन्त गुप्त अंतर्हृदय ही सारे स्वरूपप्रत्यभिज्ञारूपी परमार्थों को संजोकर रखने का स्थान होने के स्वभाववाला भंडारणगृह होता है। उसमें सिद्ध गुरुओं के उपदेशामृत से पाये हुए, तीव्रतम ईश्वरीय अनुग्रह एवं अविचल आस्था से वृद्धि को प्राप्त हुए और स्वभावसिद्ध स्वरूपपरिचय के आकार वाले परमार्थरूपी रत्नों का भंडारण होता रहता है। वह रत्नसंचय सारी (मोक्षरूपी तथा भोगरूपी) सिद्धियों की उपलब्धि का कारण होने से अमूल्य रत्नों का संग्रह जैसा ही होता है। इस परमार्थरूपी रत्नसंग्रह से ज्ञानी के अंतर्हृदय में, चाहे वह ऊपर से शरीर को ही क्यों न धारण कर रहा हो, 'मैं अहंरूप ही यह सारा इदंप्रपंच हूँ' इस प्रकार के परिपूर्ण अहंभाव पर टिका हुआ और स्वरूपज्ञानमय 'महेश्वरभाव' अर्थात् शरीर में रहते हुए भी आंतरिक आत्म प्रकाशमय स्वातन्त्र्य उदित हो जाता है। वैसी दशा उदित हो जाने पर फिर कौन सी शोचनीय 'दरिद्रता' अर्थात् मित सिद्धियों के रूपवाले झूठे सांसारिक वैभव के उपभोग का कुत्सित भाव, (उस ज्ञानी को) प्रभावित कर सकती है?

मूलग्रन्थ : आभाससारा हि सर्वे पदार्थाः, यदा एव आभासन्ते तदा एव योगिनः स्वात्मकल्पाः सन्तः कथम् उत्कर्ष-अपकर्षादौ प्रगल्भन्ते-इति न किञ्चत् दौर्गत्यादिकं भवेत्। कस्य वा को वा अस्या दुर्गतेः सामश्रयः? देह-आदि-आत्म-अभिमानिनो हि अस्या दुर्गतेः समाश्रया भवन्तु, यतः ते व्यतिरिक्तस्य एषणीयस्य प्राप्त्या ईश्वराः, तत् अपहारात् रिक्ताः-इति।

अनुवाद : 'आभासमानता' अर्थात् बहिरंग रूप में ज्ञान का विषय बन जाना ही, सारे पदार्थों का सार होती है। कोई पदार्थ तभी है जब वह आभासमान है। परन्तु योगीजन के परिप्रेक्ष्य में जब पदार्थ आभासमान है तब वे उसके आत्मरूप में ही आभासमान हैं, अत: वे उसमें किसी प्रकार का उत्कर्ष या अपकर्ष कैसे उत्पन्न कर सकते हैं? इसलिए (तात्त्विक दृष्टि में) दुर्गति इत्यादि का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि यह दुर्गति किसकी है अर्थात् इस दुर्गति का आश्रय कौन है? काया पर ही आत्मा का अभिमान रखनेवाले पशुजन भले ही दुर्गति के आश्रय बनें क्योंकि वे (अज्ञानतावश) अतिरिक्त (उनके विचारानुसार अतिरिक्त) अभिलषित पदार्थ को पाने से अपने को ईश्वर और किसी पदार्थ का अपहरण हो जाने से अपने को खाली-हाथ समझते हैं।

मूलग्रन्थ : यः पुनः अकृत्रिम-अहन्ता-प्रत्यवमर्श-परमार्थः ज्ञानी-'सर्वम् अस्मि'-इति अव्यतिरिक्तेन एषणीयेन महेश्वरः, स कथं व्यतिरिक्त-प्राप्ति-अप्राप्ति-अभावात् दौर्गत्यादेः भाजनं स्यात्?

अत एव गञ्जशब्दस्य, रत्नसंचयशब्दस्य, ईश्वरशब्दस्य च हृदय-प्ररूढ-परमार्थो महान्-इति अकृत्रिम-अर्थ-वाचकानि विशेषणानि उपपादितानि।

अनुवाद : इसके विपरीत जो ज्ञानी यथार्थ अहंभाव का विमर्श करते रहने पर सधा हुआ और-'मैं ही सब कुछ हूँ'-ऐसी आत्मिक अनुभूति के बल से हरेक अभिलषणीय पदार्थ को आत्मरूप ही अनुभव करने वाला साक्षात् महेश्वर बना हो, उसके लिए अतिरिक्त पदार्थों की उपलब्धि या अनुपलब्धि का कोई टंटा ही नहीं होता है, अत: वह किस दुर्गति का भागी बन सकता है?

इसी भाव को जताने के अभिप्राय से (मूलकारिका में प्रयुक्त) गंज, रत्न और ईश्वर इन तीन शब्दों के लिए क्रमशः हृदय, प्ररूढपरमार्थ=(ईश्वरीय अनुग्रह से स्वयं ही अनावृत बना हुआ रहस्य) और महान=(स्वात्म-महेश्वर) ये तीन अकृत्रिम अर्थों की अभिव्यंजना करनेवाले विशेषण लगाए गए हैं।

कारिका-६०

उपक्रमणिका : इदानीम् मोक्षस्वरूपम् आह–

अनुवाद : अब मोक्ष के स्वरूप का वर्णन कर रहा है–

मूलकारिका

मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः॥

अन्वय/पदच्छेद : मोक्षस्य किञ्चित् धाम एव न अस्ति, न च अन्यत्र गमनम् अपि अस्ति, अज्ञान-ग्रन्थि-भिदा स्व-शक्ति-अभिव्यक्तता मोक्षः (अस्ति)।

अनुवाद : मोक्ष का कोई निश्चित स्थान ही नहीं है और न (उत्क्रान्ति के द्वारा) किसी निचले धारणास्थान से दूसरे किसी धारणास्थान पर आरोह करना ही मोक्ष कहलाता है। वस्तुतः अज्ञान की गांठ खोलने से अंतर्हृदय में चित्-शक्ति का विकास होना ही मोक्ष है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : मोक्षस्य पराहन्ता-चमत्कार-सारस्य कैवल्यस्य धाम व्यतिरिक्तं स्थानं न विद्यते एव–देश-काल-आकार-अवच्छेद-अभावात्। अत एव न च अपि अन्यत्र कुत्रचित् व्यतिरिक्ते गमनं लयो मोक्षः–यथा भेदवादिनां मतेन उत्क्रान्त्या चक्राधार-आदि-भेदनात् ऊर्ध्वं द्वादशान्ते लयः, एषा एव मुक्तिः, इति। यद्-उक्तम्–

'व्यापिन्यां शिवसत्तायाम् उत्क्रान्त्या किं प्रयोजनम्।
अव्यापिनि परे तत्त्वे ह्युत्क्रान्त्या किं प्रयोजनम्॥ इति।

एवं विधाः अपि अन्ये तीर्थान्तर-परिकल्पिताः बहवो मोक्षभेदाः सन्ति। ते प्रतन्यमानाः ग्रन्थ गौरवभयम् आनयन्ति–इति न इह प्रतन्यन्ते-इति सर्वत्र द्वैतमलस्य संभवात् अमोक्षे मोक्षलिप्सा 'मोक्षाभासः' एव।

अनुवाद : मोक्ष को दूसरे शब्दों में कैवल्य कहते हैं। यह कैवल्य परभैरवीय अहंभाव की आनन्दमयता का निचोड़ होने के कारण मोक्ष कहलाता है। मोक्ष का कोई निश्चित अलग स्थान नहीं है क्योंकि इसमें (मोक्ष की अवस्था में) देश, काल एवं आकार से जनित इयत्ताओं का पूरा अभाव होता है। इसी कारण से (एक स्थान विशेष को पीछे छोड़कर)

किसी दूसरे स्थान विशेष में लय हो जाना भी मोक्ष नहीं होता है। उदाहरणार्थ–द्वैतवादियों की मान्यता के अनुसार 'उत्क्रान्ति' अर्थात् आधारचक्र इत्यादि निचले निचले चक्रों का अवभेदन करके ऊर्ध्वगति के द्वारा ऊर्ध्व-द्वादशान्त जैसे चक्रविशेष में लय हो जाने को ही मोक्ष माना जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में (शास्त्र में) इस प्रकार कहा गया है–

'अगर शिवभाव सर्वव्यापक अस्तित्व है तो उत्क्रान्ति का प्रयोजन ही क्या है? पक्षान्तर में अगर परम तत्त्व अव्यापी अस्तित्व है तो भी उत्क्रान्ति का अर्थ ही क्या है?'

दूसरे संप्रदायों के गुरुओं के द्वारा कपोलकल्पित बहुत से मुक्ति के भेद हैं। ग्रन्थ का कलेवर बढ़ जाने के भय से उन सबों का यहां पर अलग अलग वर्णन करना संभव नहीं है। (केवल इतना ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि) उन सारे मोक्ष के भेदों में द्वैतदृष्टि का मल संभव होने के कारण, वैसे अधकचरे मोक्षों पर पूर्णमोक्ष की लिप्सा रखना 'मोक्षाभास' अर्थात् मिथ्यामोक्ष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

मूलग्रन्थ : किं पुनः मोक्षलक्षणम्?–इत्याह 'अज्ञान' इत्यादि। अज्ञानम् अख्याति जनितः आत्मनि अनात्मा-अभिमान-पूर्वः, अनात्मनि देह-आदौ आत्मा-अभिमान-लक्षणो मोहः, स एव पूर्ण-स्वरूप-संकोच-दायित्वात् ग्रन्थिः इव ग्रन्थिः स्व-स्वातन्त्र्य-लक्षणस्य निजस्य व्यापित्व-आदेः देहआदि-अभिमानतया बन्धः, तस्य भित् भेदनं निज-पूर्ण-स्वात्मस्वातन्त्र्य-परिशीलन-दार्ढयात् देह-आदि-अभिमान-लक्षणस्य ग्रन्थेः विदारणं, तेन हेतुना स्वशक्तिभिः स्वात्म-स्वातन्त्र्य-लक्षणैः धर्मैः अभिव्यक्तता स्वात्म-शक्ति-विकस्वरता, एष एव निरतिशयो 'मोक्षः'-इति।

अनुवाद : तो फिर असली मोक्ष का लक्षण क्या है? 'अज्ञान' इत्यादि शब्दों में समाधान प्रस्तुत कर रहा है–

(अज्ञान का दूसरा नाम अख्याति है। 'अख्याति' शब्द से अल्पज्ञान अथवा अधकचरी जानकारी का अभिप्राय है–ऐसी जानकारी जिसकी व्यापकता शरीर, प्राण, बुद्धि, पुर्यष्टक और शून्य तक तो हो, परन्तु वास्तविक स्वरूप परिचय को सर्वथा चूक जाती हो।)

अख्याति से उत्पन्न होनेवाला 'मोह' अर्थात् पहले स्तर पर यथार्थ आत्मा पर अनात्मा-अभिमान और दूसरे स्तर पर अनात्मारूपी शरीर इत्यादि पर वास्तविक आत्मा-अभिमान के रूपवाला मतिभ्रम, ही मूलभूत

अज्ञान (दो प्रकार आणव-मल) है। यह अज्ञान परिपूर्ण आत्मस्वरूप की व्यापकता में परिमितता उपजाने के कारण (डोर इत्यादि में पड़ी हुई) गांठ की भांति अंतरात्मा में पड़ी हुई गांठ (कुंठा) जैसा है। तात्पर्य यह कि अज्ञान स्वात्ममहेश्वर के स्वाभाविक सर्वव्यापकता इत्यादि धर्मों का, जो कि उसमें विद्यमान स्वातन्त्र्यरूपी स्वाभाविक धर्म के परिचायक हैं, बंधन है, और शरीर इत्यादि रूपों वाले प्रमातृभाव के अभिमान की परवशता ही इसका (बंधन का) मुख्य रूप है। इस अज्ञान का भेदन स्वात्ममहेश्वर में विद्यमान स्वातन्त्र्य का आंतरिक अनुसन्धान करते रहने की दृढ़ता से हो जाता है अर्थात् शरीर इत्यादि पर वास्तविक आत्मा का अभिमान रखने के रूपवाली अंतरात्मा की गांठ सहज में खुल जाती है। अज्ञान का भेदन हो जाने से स्वात्ममहेश्वर के सारे स्वातन्त्र के परिचायक (ईश्वरीय) धर्म निखर उठते हैं अर्थात् सारी आत्मशक्तियां विकसित हो जाती हैं। इसी अवस्था को निरतिशय मोक्ष माना जाता है।

मूलग्रन्थ : अत्र अयम् आशयः–

यथा सहज-नित्य-व्यापकत्व-आदि-धर्म-युक्तम् आकाशम् अपि घटादि-भित्ति-बन्ध-संकुचितम्, तत एव तत् एव अव्यापकत्व-आदि-धर्म-युक्तं 'घटाकाशम्' इति उच्यते-आकाशात् भिन्नम् इव प्रथते, पुनः अपि घट-आदि-भित्ति-कृत-सङ्कोच-भङ्गात् तत् एव घटादि-आकाशं तदा एव व्यापकत्व-आदि-धर्म-युक्तं स्यात्, न पुनः तस्य घटादिभङ्गात् नूतनः कश्चित् धर्म-आविर्भावः आयाति-इति–

तथा एव देह-आदि-अभिमान-कृत-सङ्कोच-सङ्कुचितं चैतन्यं बद्धम् इव-इति उच्यते, तत् एव पुनः स्व-स्वरूपज्ञान-अभिव्यक्तेः देह-आदि-प्रमातृता-बन्ध-संक्षयात् स्व-शक्ति-विवेक-विकस्वरं मुक्तम् इव–इति अभिमानमात्रसारौ परमितप्रमात्रपेक्षया बन्ध-मोक्षौ, न पुनः परमार्थे संवित्-तत्त्वे एवं किञ्चित् संभवति–इति।

तस्मात् मुक्तौ नूतनं न किञ्चित् साध्यते, निजम् एव स्वरूपं प्रथते। एतत् एव विष्णुधर्मेषु अपि उक्तम्–

'यथोदपानकरणात् क्रियते न जलाम्बरम्।
सदेव नीयते व्यक्तिम् असतः संभवः कुतः॥
भिन्ने दृतौ यथा वायुर्नैवान्यः सह वायुना।
क्षीणपुण्याघबन्धस्तु तथात्मा ब्रह्मणा सह॥ इति।

अनुवाद : इस प्रकरण का सारांश इस प्रकार है-

जिस प्रकार आकाश स्वाभाविक नित्यता व्यापकता इत्यादि धर्मों वाला होने पर भी, घड़े इत्यादि की दीवारों के घेरे में सिमटकर छोटा बनने के तत्काल ही अव्यापकता (=अल्प-व्यापकता) इत्यादि धर्मों वाला 'घटाकाश' कहा जाता है-भाव यह कि असीम आकाश से भिन्न जैसा जान पड़ता है। फिर भी घड़े इत्यादि की दीवारों से जनित संकोच का भङ्ग हो जाने पर वही (सीमित) घटाकाश, तत्काल ही, फिर अपने स्वाभाविक व्यापकता आदि धर्मों के साथ जुड़ जाता है। स्पष्ट है कि घड़े इत्यादि के टूट जाने पर उसमें और कोई नया धर्म प्रकट नहीं हो जाता है-

उसी प्रकार शरीर इत्यादि पर आत्म-अभिमान रखने से जनित संकोच से परिमित बना हुआ चैतन्य बंधनों में जकड़ा हुआ जैसा कहा जाता है। वही चैतन्य फिर स्वरूपज्ञान उत्पन्न हो जाने के कारण शरीर इत्यादि से संबंधित प्रमातृभाव का बंधन हट जाने, और अपनी (विस्मृत) शक्तियों के विवेक का विकास हो जाने पर 'मुक्त' जैसा कहा जाता है। फलतः परिमित प्रमाताओं के परिप्रेक्ष्य में बंधन और मुक्ति केवल आत्म-मानिता के रूप पर आधारित होते हैं, जबकि संवत्-तत्त्वरूपी परमार्थ के संदर्भ में इस प्रकार के किसी संकोच-विकास की कतई संभावना नहीं है।

इसलिए मुक्ति पाने में स्वस्वरूप-प्रत्यभिज्ञा को छोड़ और कोई नई बात सिद्ध नहीं की जाती है (अर्थात् आत्मस्वरूप तो पूर्वसिद्ध अथवा स्वयंसिद्ध परमार्थ ही है, मुक्ति में उस पूर्वसिद्ध परमार्थ की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है नया कुछ नहीं)। श्री विष्णु धर्मोत्तर पुराण में भी यही बात कही गई है-

'जिस प्रकार जलद्यानी बनाने से जल का निर्झर नहीं बहाया जा सकता है उसी प्रकार पूर्वसिद्ध वस्तु का ही अभिव्यक्तीकरण संभव हो सकता है और पहले से ही असत् पदार्थ को नये सिरे से उत्पन्न नहीं किया जा सकता है।'

'जिस प्रकार भस्त्रा (भिश्ती की मशक) फट जाने पर उसके अन्दरवाली वायु बाहर के वायुमंडल से भिन्न नहीं होती है, उसी प्रकार

पुण्यकर्म एवं पापकर्मों का बंधन हट जाने पर आत्मा परब्रह्म से भिन्न नहीं रहता है'।

कारिका–६१

उपक्रमणिका : 'एवं प्रक्षीण-ज्ञान-बन्धो ज्ञानी पर-अनुग्रह-अर्थं शरीरम् अपि धारयन् मुक्तः'–इति आवेदयति–

अनुवाद : 'फलतः ऐसा ज्ञानी, जिसका अधकचरा ज्ञान पूर्णतया नष्ट हुआ हो, केवल दूसरे लोगों का उद्धार करने के अभिप्राय से काया में रहता हुआ भी, जीवन्मुक्त बना होता है'–इसकी सूचना दे रहा है–

मूलकारिका

भिन्नाज्ञानग्रन्थिर्गतसन्देहः पराकृतभ्रान्तिः।
प्रक्षीणपुण्यपापो विग्रहयोगेऽप्यसौ मुक्तः॥

अन्वय/पदच्छेद : भिन्न-अज्ञान-ग्रन्थिः गत-सन्देहः पराकृतभ्रान्तिः असौ विग्रहयोगे अपि मुक्तः (भवति)।

अनुवादः वह योगी/ज्ञानी जन, जिसके अधकचरे ज्ञान की गांठें खुल गई हों, सारे संशय मिट चुके हों, (द्वैतभावना का) भ्रम (मिथ्याभास) छितर गया हो और पुण्य एवं पाप दोनों मिट गये हों, शरीर में रहता हुआ भी, जीवन्मुक्त बना होता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : शरीरसम्बन्धे अपि स्वात्मज्ञानवित् शरीर-आदि -अभिमान-अभावात् जीवन् अपि मुक्तो विकस्वरशक्तिः भवेत्।

ननु विग्रहयोग एव बन्धः, कथं तत् सम्बन्धे अपि असौ मुक्तः स्यात्?–इति आह 'भिन्न' इत्यादि।

१. भिन्नो विदारितोऽज्ञानरूपो ग्रन्थिः अपूर्णत्व-ख्याति-समुत्थो देह-आदि-अभिमानरूपो बन्धो येन स एवम्, २. तथा 'गतसन्देहः'-इति, अत एव नष्टसंशयः, ३. पराकृता न्यक्कृता परमाद्वयज्ञानलाभात् भ्रान्तिः द्वयरूपो भ्रमो येन स तथा इति, ४. एवं परिशीलनेन प्रक्षीणानि पुण्य-अपुण्यानि विगलित-संस्काराणि देह-आत्ममानित्व-अभावात् धर्म-अधर्माणि यस्य स एवंविधः–इति।

अनुवाद : आत्मस्वरूप के वास्तविक जानकार पुरुष के अंतस् में शरीर (इत्यादि) के प्रति ममत्व-अभिमान नाम के लिए न होने के कारण वह जीवित होता हुआ भी 'मुक्त' अर्थात् पूर्ण विकसित आत्मशक्ति से ओतप्रोत होता है।

(शंका-) जब भौतिक शरीर के साथ संबन्ध होना ही प्रमुख बन्धन माना जाता है, तो वह ज्ञानी-पुरुष उसी शरीर में वर्तमान होता हुआ भी जीवन्मुक्त कैसे माना जा सकता है? इसके समाधान में 'भिन्न' इत्यादि कारिकाभाग प्रस्तुत कर रहा है-

१. उस ज्ञानी ने अपने अंतस् में अधकचरे ज्ञान की गांठ खोली हुई होती है। तात्पर्य यह कि वह इस स्वभाव का व्यक्ति होता है जिसने अपने में अपूर्णता के मिथ्याभास एवं आत्म-अपरिचय से उपजने वाले और भौतिक शरीर इत्यादि (देह, प्राण, बुद्धि, पुर्यष्टक एवं शून्य) पर टिके हुए आत्मत्व-अभिमान का बंधन पूरी तरह काटा हुआ होता है,

२. उसके सारे संशय निवृत्त हुए होते हैं,

३. उसने अपने अंतस् में 'परमाद्वय=परिपूर्ण अभेदभावना' का बोध उदित होने के फलस्वरूप द्वैतभावना के मिथ्याभास को हटाया होता है, और

४. शरीर इत्यादि जड पदार्थों पर आत्म-अभिमान का अभाव होने और शास्त्रोक्त सरणि पर आत्मचिंतन करते रहने से उसने पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म जैसी भावनाओं को संस्कारों के सहित गलाया होता है।

मूलग्रन्थ : इति अनेन 'अज्ञानमेव बन्धः' इति प्रतिपादितम्। तत् च विग्रहयोगे अपि यस्य प्रक्षीणं स तदा एव जीवन् एव मुक्तो, न पुनः 'शरीरयोगो बन्धः, तत् अपगमो मुक्तिः'-इति किन्तु देहपातात् पूर्णो मोक्ष इति।

अनुवाद : (आचार्य ने) इस उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध किया कि 'अधकचरा ज्ञान' ही वस्तुतः बंधन है। जिस व्यक्ति का यह अधकचरा ज्ञान शरीर में रहते हुए भी क्षीण हुआ हो, वह जीते जी ही मुक्त हुआ होता है। इसलिए यह मान्यता कि-'शरीर के साथ संबन्ध होना ही बंधन और शरीर का विछड़ना ही मुक्ति है'-तर्कसंगत नहीं है। हाँ

इतना तो अवश्य है कि परिपूर्ण मोक्ष की अवस्था शरीर के छूट जाने पर ही प्राप्त होती है।

कारिका-६२

उपक्रमणिका : 'जीवन्मुक्तस्य कर्महेतौ शरीरे स्थिते अपि शरीरयात्रामात्रार्थं ज्ञानेद्धं कर्म कुर्वाणस्य फलाय तस्य भवति'–इति अत्र उपपत्तिम् आह–

अनुवाद : 'जीवन्मुक्त पुरुष यद्यपि कर्म करने का हेतु बने हुए शरीर को धारण भी कर रहा हो, परन्तु उस अवधि में केवल अपनी शरीरयात्रा चलाने के लिए अगर वह, ज्ञानपूर्वक, कर्म करता भी रहे, उनका फल उसको भुगतना नहीं पड़ता है'–इस संदर्भ में तार्किक युक्ति प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

अग्न्यभिदग्धं बीजं यथा प्ररोहासमर्थतामेति।
ज्ञानाग्निदग्धमेवं कर्म न जन्मप्रदं भवति॥

अन्वय/पदच्छेद : यथा अग्नि-अभिदग्धं बीजं प्ररोह-असमर्थताम् एति, एवं ज्ञान-अग्नि-दग्धं कर्म जन्मप्रदं न भवति।

अनुवादः जिस प्रकार आग में भूना हुआ बीज अंकुरित होने की शक्ति को खो बैठता है, उसी प्रकार ज्ञान की आग में जला हुआ कर्म (कर्मफल) पुनर्जन्म का कारण नहीं बन सकता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : वह्नि-निर्मृष्टं शालिबीजं क्षिति-सलिल-आतप- मध्यवर्ती अपि सामग्री-वैकल्यात् यथा अङ्कुर-आदि-जनने अशक्ततां याति, तथा एव 'ज्ञानाग्निना दग्धं' परम-अद्वय-बोध-दीप्त्या प्लुष्टं 'कर्म',-यथा-'अहम् एव इत्थं विश्वात्मना स्फुरामि' इति एवंरूपेण देह-आदि-आत्ममानित्व-हानेः हेय-उपादेय-बुद्धि-परित्यागेन यत् किंचित् शुभ-अशुभं कर्म क्रियमाणं तत् दग्ध-वीर्यं न पुनः ज्ञानिनः पिण्डपातात् अनन्तरं जन्मफलप्रदं 'भवति' देहनिर्माणहेतुः संपद्यते-दग्धं बीजम् इव अङ्कुरे।

अनुवाद : (दृष्टान्त) जिस प्रकार आग में भूना हुआ धान का बीज मिट्टी, पानी और धूप के बीच डाला जाने पर भी, प्रजनन सामग्री

की विकलता के कारण, अंकुरित या फलित होने की क्षमता से वञ्चित हो जाता है, उसी प्रकार–

(दार्ष्टान्तिक) 'मैं स्वयं ही विश्वात्मा के रूप में स्पन्दायमान हूँ'–इस प्रकार का आत्मबोध अंतस् में उदित हो जाने की अवस्था में, (भौतिक) शरीर इत्यादि पर आत्म-मानिता का भाव हट जाने, और–'यह त्याज्य है, यह ग्राह्य है' ऐसा बुद्धिभ्रम मिट जाने पर, (निष्काम भाव से) जो भी कोई तथाकथित अच्छा या बुरा कर्म किया जाये उसका वीर्य परमाद्वैत बोध की ज्वाला में राख हो जाता है। फलतः वह एक (यथार्थ) ज्ञानी के लिए, वर्तमान पिण्ड छूट जाने के उपरान्त पुनर्जन्म के लिए अपेक्षित नये शरीर के निर्माण का कारण नहीं बन सकता है–(जिस प्रकार जला हुआ बीज नये अंकुर का कारण नहीं बन सकता है।)

*(**संकेत** : इस टीका के अवतरण में 'दग्ध बीजम् इव अङ्कुरे' इतना भाग पुनरुक्ति जैसा लग रहा है अतः अनुवाद में इस भाग को कोष्ठक में रखा गया है)*

मूलग्रन्थ : तस्मात् न सर्व-अहंभाव-रूपायाः चितिशक्तेः अफल-अभिसन्धानतया कृतं कर्म भूयो जन्म दातुं प्रभवति-इति।

अनुवाद : अतः यह बात सिद्ध है कि परिपूर्ण अहंभाव अर्थात् विश्वात्मभाव के रूपवाली चितिशक्ति को, कोई भी फल की कामना से रहित किया जानेवाला कर्म, पुनर्जन्म की झंझट में नहीं फंसा सकता है।

कारिका-६३

ध्यानाकर्षण : टीकाकार श्रीयोगराज ने प्रस्तुत कारिका की टीका आवश्यकता से अधिक पंडिताऊपन एवं सूत्रात्मक रूप में लिखी है, अतः विषय को बोधगम्य बनाने के लिए मूलकारिका के खंडों के अनुसार व्याख्याभागों को अलग अलग करके रूपान्तरण किया जा रहा है।

उपक्रमणिकाः 'एवं पुनः विकस्वरा अपि चितिशक्तिः कथंकारं देहवती स्यात्?' इति आह–

अनुवादः ऐसी परिस्थिति में यह शंका उठती है कि–'जब सारा प्रपंच चितिशक्ति का ही विकास है तो वह क्योंकर शरीर के बंधन में फंस जाती है?–इसका समाधान प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

परिमितबुद्धित्वेन हि कर्मोचितभाविदेहभावनया।
सङ्कुचिता चितिरेतद् देहध्वंसे तथा भवति॥

अन्वय/पदच्छेद : हि परिमित बुद्धित्वेन कर्म-उचित-भावि-देह-भाव-नया सङ्कुचिता (सती) चितिः एतत् देहध्वंसे तथा भवति।

अनुवादः (जागतिक विकास की अवस्था में) चैतन्यशक्ति (अपने इच्छास्वातंत्र्य से ही) संकुचित बौद्धज्ञान को अपनाकर, चलते हुए जन्म में किये जाने वाले (यज्ञ) इत्यादि कर्मों के फल के अनुसार, आगामी जन्म के शरीर को पाने की भावना का अभ्यास करते रहने से, स्वयं ही, संकुचित बनकर (अर्थात् कार्ममल से लिप्त होकर), चलते हुए शरीर का पात होने के उपरान्त, (अगले जन्म में) उस अपनी ही सकाम भावना के अनुरूप शरीर को धारण कर लेती है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : यस्मात् परिमितबुद्धित्वेन अख्यातिजनितेन देह-आदि-अभिमान-वासना-पूर्वक-कामना-कालुष्य-निश्चयेन यत् कृतं कर्म यथा—'अहं अश्वमेधेन यक्ष्ये, इह अमुत्र च सुखी भूयासं, मा कदाचन दुःखी अहं भूयासम्, अमुना कर्मणा वा ऐन्द्रं पदं प्राप्नुयाम्'—इति एवं वासनाविशिष्टस्य कर्तुः एवम् अनुगुणं कर्म—

अनुवाद : (परिमित........कर्म इतने कारिकाभाग की व्याख्या)

आत्म-अपरिचय (अख्याति) से जड शरीर पर (वास्तविक) आत्मा होने का अभिमान रखने की वासना के साथ साथ अगणित फलकामनाओं—'मैं अश्वमेध यज्ञ करूँ, इहलोक और परलोक दोनों में सुखी बनूं, कभी भी दुःख में न पड़ूँ, अमुक कर्म करके इन्द्रपदवी को प्राप्त करूँ,' को लेकर किये जाने वाले कर्मों से उपजने वाली वासनाओं का पुतला बना हुआ 'कर्ता' (अर्थात् जीवभाव पर उतरी हुई चितिशक्ति) इसी संकोचों से भरे हुए स्वभाव (जीवस्वभाव) के अनुरूप कर्मों को करता रहता है।

मूलग्रन्थ : तस्य मनोवासनालब्धप्ररूढेः कर्मणः उचितः तत् अनुगुण-फल-भोक्तृता-योग्यः असौ भावी देहः प्रारब्ध-कर्मफल-

भोक्तृ-शरीर-अधिकार-परिक्षयात् यत् उत्तरत्र भविष्यत् शरीरं, तस्य या भावना-'अमुना अश्वमेध-आदि-कर्मणा साम्राज्य-आदि आप्नुयाम्'-इति अभिमत-कर्मफल- वासना-अधिरूढिः।

अनुवाद : ('कर्मो..........भावनया' इतने कारिकाभाग की व्याख्या)

मानसिक वासनाओं से ही पनपने वाले कर्म के अनुरूप फल का उपभोग करने के लिए अपेक्षित आगामी जन्म के शरीर अर्थात् चलते हुए शरीर के जीवनकाल की निर्धारित सीमा बीत जाने के उपरान्त, प्रारब्ध कर्मफल का उपभोग करने के लिए भविष्यत् काल में नया शरीर पाने की 'भावना' अर्थात्-'अमुक अश्वमेध इत्यादि प्रकार का कर्म करने से सार्वभौम शासनसत्ता प्राप्त करूँ'-जैसी भावना का निरंतर अभ्यास करते रहने से प्रारब्ध कर्मफल का उपभोग करने की वासना रूढ़ बन जाती है।

मूलग्रन्थ : तया कर्म-उचित-भावि-देह-भावनया इयं सर्वतः पूर्णा अपि चितिशक्तिः आणव-मायीय-मल-मूलेन कार्मलेन आघ्राता सङ्कुचिता व्यापिनी अपि, घटाकाशवत्, कर्म-अनुगुण-फल-भोक्तृ-शरीर-वासना-अवच्छेदवती संपन्ना सती एतत् देहध्वंसे तथा भवति-इति।

अनुवादः ('सङ्कुचिता.........चितिः' इस कारिकाभाग की व्याख्या)

यद्यपि चितिशक्ति, वास्तव में, परिपूर्ण अर्थात् सब कुछ अहंरूप में अनुभव करने वाली महाशक्ति है, तो भी वह (पशुभाव के अनुकूल) उसी पूर्वोक्त कर्मफल के अनुरूप आगामी शरीर के अधिगम की भावना करती रहने से, आणव एवं मायीय इन दो मौलिक मलों से जन्मने वाले कार्ममल के द्वारा सूंघी जाने के कारण अर्थात् सर्वव्यापिनी होने पर भी अपने ही कर्मफल के अनुरूप आगामी उपभोक्ता शरीर पाने की वासना की इयत्ता में पड़ जाने के कारण पूर्वोक्त घटाकाश की भांति परिमित बनकर वर्तमान शरीर के छूट जाने पर अपनी वासना के अनुरूप शरीर को ही धारण कर लेती है।

मूलग्रन्थ : एतस्य प्रारब्धस्य कर्मफलस्य यो भोक्ता देहः तस्य भोगपरिक्षयात् यो ध्वंसो मृतिः तस्मिन् देहध्वंसे सति सा चितिः उद्भूतकर्मवासना तथा भवति येन आशयेन पूर्व-कर्मफलम् उपार्जितं तत् कर्मफलभोक्ता यो देहः तद्वती संपद्यते, यद् वशात् चितिः अपि स्वर्ग-नरक-आदि-भोग-भाजनं स्यात्।

अनुवाद : ('एतत्.........तथा भवति' इस कारिकाभाग की व्याख्या)

इस वर्तमान प्रारब्ध कर्मफल का उपभोग करनेवाले वर्तमान शरीर का, अपने निर्धारित उपभोगकाल के समाप्त हो जाने के कारण, मृत्यु हो जाने पर वह चितिशक्ति, निश्चय से, आगामी जन्म में उसी स्वयं उपार्जित कर्मफल की वासना के नये सिरे से उद्बुद्ध हो जाने पर, ठीक उसी प्रकार के कायिक आकार-प्रकार को धारण कर लेती है जिस प्रकार की कामना को लेकर उसने कर्मफल का उपार्जन किया हो, और, वैसे कर्मफल का उपभोग करने के लिए जिस आकार-प्रकार की काया अपेक्षित हो। ऐसी ही (अजस्र रूप में चलती हुई) जीवन-प्रक्रिया के वश में पड़ जाने के कारण चितिशक्ति भी (स्वेच्छा से ही) स्वर्ग, नरक इत्यादि प्रकार के उपभोगों का पात्र बन जाती है।

मूलग्रन्थ : तस्मात् शरीरी भूत्वा परिमितफललौल्यात् यत् कृतं कर्म तत् फलभोक्तृ जन्म दातुम् अवश्यं प्रभवति। यत् पुनः अशरीरीभूत्वा-'सर्वं ब्रह्म अस्मि'-इति संवित्-रूपतया कृतं, तत् वासना-प्ररोह-अनासादनात् कथं व्यापिन्याः चितिशक्तेः जन्मने स्यात्? -इति तात्पर्यार्थः।

अनुवाद : इसलिए 'शरीरी' अर्थात् भौतिक काया को धारण करने वाला संसारी जीव (क्षेत्रज्ञ) बनकर, तुच्छ सांसारिक फलों का उपभोग करने की चंचलता से, जो भी कर्म किया जाये वह अवश्य उस कर्मफल का उपभोग कराने के लिए उसको पुनर्जन्म का भागी बनाने के लिए सक्षम होता है। इसके प्रतिकूल 'अशरीरी' बनकर अर्थात् जड़ शरीर पर आत्म-मानिता न रखने से वास्तविक आत्म-अनुभूतिशील व्यक्ति बनकर-'यह सारा परब्रह्ममय विकास मैं ही हूँ'-ऐसी संवित् (अनादि बोध) के रूप में जो कुछ भी किया जाये, वह वासना के रूप में अंकुरित नहीं होने पाता, अतः सर्वव्यापिनी चितिशक्ति को पुनर्जन्म के बखेड़े में कैसे डाल सकता है?-यहां इस कारिका का तात्पर्य है।

कारिकाएँ-६४, ६५, ६६

उपक्रमणिका : 'एवम् अनात्मतया समुचितं कर्म संसरणाय प्रमातुः भवति'-इति चेत्, तर्हि आत्मस्वरूपं वक्तव्यं येन संसारी न स्यात्-इति प्रतिपादितम् अपि शिष्यजनहृदयङ्गमीकर्तुं पुनः कथयति-

अनुवादः 'इस प्रकार अगर अनात्ममान्यता के अनुरूप कर्म

प्रमाता के लिए आवा-गमन का कारण बन जाते हैं, तो फिर आत्मस्वरूप का ही वर्णन करना चाहिए ताकि कोई संसारभाव के झमेले में ही न पड़े'–इस अभिप्राय से शिष्यजनों को भली-भांति समझाने के लिए, पहले भी वर्णन किए गए, आत्मस्वरूप का फिर से वर्णन कर रहा है–

मूलकारिकाएँ

यदि पुनरमलं बोधं सर्वसमुत्तीर्णबोद्धृकर्तृमयम्।
विततमनस्तमितोदितभारूपं सत्यसङ्कल्पम्।।
दिक्कालकलनविकलं ध्रुवमव्ययमीश्वरं सुपरिपूर्णम्।
बहुतरशक्तिव्रातप्रलयोदयविरचनैककर्तारम्।।
सृष्ट्यादिविधिसुवेधसमात्मानंशिवमयं विबुद्ध्येत्।
कथमिव संसारी स्याद्विततस्य कुतः क्व वा सरणम्।।

अन्वय/पदच्छेद : यदि पुनः आत्मानं अमलं, बोधं, सर्व-समुत्तीर्ण-बोद्धृ-कर्तृमयं, विततम्, अनस्तमित-उदित-भारूपं, सत्य-सङ्कल्पं, दिक्-काल-कलन-विमुक्तं, ध्रुवम्, अव्ययम्, ईश्वरं, सुपरिपूर्णं, बहुतर-शक्ति-व्रात-प्रलय-उदय-विरचन-एक-कर्तारं, सृष्टि-आदि-विधि-सुवेधसं, शिवमयं विबुद्ध्येत (तर्हि) संसारी कथम् इव स्यात्?– विततस्य कुतः क्व वा सरणं (संभाव्यते)?

अनुवाद : यदि कोई (दैवी अनुग्रह से पवित्रित भक्तजन) अपने आत्मा को तीन मलों से रहित, (अनादि) बोधमय, लोकोत्तर सर्वज्ञता और सार्वकर्तृता (के स्वातंत्र्य) के आकारवाला, सर्वव्यापक, उदय एवं अस्त से हीन (सदा उदित) प्रकाशमय, सच्चे संकल्प वाला, देश, काल इत्यादि के विभागों से हीन, अविचल, अविनश्वर (अथवा निर्विकार, दैवी ऐश्वर्य से परिपूर्ण, परिपूर्ण (चित् आदि) असंख्य शक्तियों के समूह के बल से (विश्व के) संहार एवं सृष्टि जैसे महान कृत्य को संपन्न कर सकने वाला अद्वितीय कर्ता, शाश्वतिक रूप में सृष्टि इत्यादि दैवी कृत्यों को करते रहने के स्वाभाववाला और परमशिवभाव से ओतप्रोत अनुभव करे तो वह क्योंकर आवा-गमन के चक्कर में पड़ सकता है?-सर्वव्यापक आत्मभाव का सरण कहां से और किस बिन्दु की ओर परिकल्पित किया जा सकता है?

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : यदि पुनः पर-शक्तिपात-विद्ध-हृदयः प्रमाता देह-आदि-प्रमातृता-अभिमानम् अद्यस्पदीकृत्य स्वात्मानं शिवमयं विबुद्ध्येत चिदानन्द-एकघनं विजानीयात्, स परिज्ञात-स्वात्म-महेश्वर-भावः कथम् इव केन प्रकारेण संसारी संसरणशीलो भवेत्?-न स्यात् इति यावत्।

अनुवाद : (अख्यातिमय पशुभाव के प्रतिकूल) यदि कोई विरला परमेश्वर के शक्तिपात से बिंधे हुए हृदयवाला प्रमाता, (भौतिक) काया इत्यादि जड़ पदार्थों पर आत्म-अभिमान रखने के दुराग्रह का बहिष्कार करके अपने आत्मा को 'शिवमय' अर्थात् मात्र चिदानन्दघन अनुभव करने में सफल हो, तो अपने आत्मा के परमेश्वरभाव की प्रत्यभिज्ञा प्राप्त कर लेने पर उसके आवागमन के चक्कर में पड़ जाने की कौन संभावना है? अर्थात् वैसी संभावना कतई नहीं है।

मूलग्रन्थ : यतः चित्-अचित्-रूप-पुर्यष्टकात्मा कार्ममलसम्बन्धेन संसरति, यः पुनः चित्-एक मूर्तिः शिवमयः प्रक्षीण-आणव-आदि-मल-कञ्चुकः स कथं संसारी?–इति तात्पर्यम्।

अनुवाद : कारण यह है कि (पांच ज्ञानेन्द्रिय तीन अंतःकरण-इन आठ अचित् पदार्थों से बने हुए) 'पुर्यष्टक' अर्थात् आतिवाहिक सूक्ष्मशरीर में फंसा हुआ (चित्-रूप) आत्मा=कुल मिलाकर अचित्-चित् रूपी पुर्यष्टकात्मा, कार्ममल के साथ संबन्धित होने के कारण से ही आवागमन करता रहता है। लेकिन इसके उल्टे में जो आत्मा, आणव आदि तीन मलों से बने हुए अंतरंग आवरण के गल जाने पर केवल चिन्मयमूर्ति शिवभाव के साथ एकाकार बन चुका हो, वह दुबारा आवागमन का भागी क्योंकर बन सकता है?-यही उल्लिखित कथन का सारांश है।

मूलग्रन्थ : ननु चित्-एक-मूर्तिः स्यात् संसारी च भवेत्–इति किं दुष्येत्? इति एवम् आशङ्क्य आह-'वितत' इत्यादि–

विततस्य अनवच्छिन्न-देश-काल-आकारस्य प्रमातुः देह-आदि-अभिमान-पूर्व-स्वकृत-वासना-परिक्षयात् पूर्णस्य तस्य कुतः सरणं-सर्वव्यापित्वात्, तत् अतिरिक्तं किम् अस्ति यत् वस्तु अपेक्ष्य ततो विश्लिष्टः अन्यत्र भिन्ने संसरणं गमनं कुर्यात्? यतो देह-आदि- प्रमातृता-अभिमान-अवच्छिन्नस्य किल अपादान-अधिकरण-आदि-कारक-संभवः, यः पुनः चित्-एकघनः, ब्रह्मभूतः, अनवच्छिन्न-देश-कालः प्रमाता तस्य संसरणे वाचोयुक्तिः अपि न भवेत्–इति।

अनुवाद : शंका यह है कि यदि केवल चिन्मयमूर्ति स्वात्मदेव साथ ही संसरणशील (संसारी) भी हो, तो उसमें दोष ही क्या होगा?-इसके समाधान में 'वितत' इत्यादि कारिकाभाग प्रस्तुत कर रहा है–जो प्रमाता देश, काल एवं आकार के अवच्छेदों को लांघकर सर्वव्यापक भाव पर आरूढ हुआ हो, वह, ज्ञान-प्राप्ति से पहले, शरीर इत्यादि पर आत्म-अभिमान रखने से स्वयं ही उपजाई हुई वासनाओं का समूल नाश होने के कारण पूर्ण परमेश्वरस्वरूप बना होता है, इसलिए सर्वव्यापक होने के कारण कहां से सरण करे? उसके अपने स्वरूप से बढ़कर कौन-सा पदार्थ है जिसकी अपेक्षा से वह स्वरूप को (कथित स्वरूप से अतिरिक्त पदार्थ से) अलगाकर किसी दूसरे (कथित स्वरूप से अतिरिक्त) भिन्न पदार्थ की ओर सरण करे। कारण यह कि शरीर इत्यादि पर निजी प्रमातृभाव (आत्मभाव) की मानिता रखने से अवच्छेदों में पड़े प्रमाता के परिप्रेक्ष्य में निश्चयपूर्वक 'अपादान कारक=से, और अधिकरण कारक=में, पर', का उपयोग किया जाना संभव है, परन्तु जो प्रमाता केवल चित्-घन, पर- ब्रह्मस्वरूप और देश-काल के अवच्छेदों रहित हो उसके बारे (कहीं से, कहीं की ओर) सरण करने की चर्चा छेड़ना भी संभव नहीं है।

मूलग्रन्थ : कीदृशं शिवरूपम् आत्मानं विबुध्येत?-इति आह 'अमलं बोधम्'-इत्यादि–

अपगतः आणव-आदि-मल-प्रचयो यस्य तम्, अत एव वैमल्यात् बोधं शुद्धचैतन्यम्। तथा सर्व-समुत्तीर्णं निरतिशयं ज्ञान-क्रिया-स्वातन्त्र्यं प्रकृतं यस्य–इति तम्, विततं देश-आदि-कृत-विच्छेद-अभावात् व्यापिनम्, तथा अविद्यमाने अस्त-उदिते प्रलय-उदयौ यस्या भासो बोधदीप्तेः सा एव रूपं देहो यस्य तम्, अन्यत् च सत्याः परमार्थाः सङ्कल्पाः स्व-इच्छा-विहारा यस्य-यत् यत् यथा इच्छति तत् तथा एव भवति–इति तम् एवंविधम्–

अनुवाद : (जिज्ञासु जन) स्वात्मदेव को कैसे शिवरूप में जान पाए?–इस संदर्भ में 'अमलं बोधम्' इत्यादि कारिकाभाग प्रस्तुत कर रहा है–

जिस पर जमी हुई आणव इत्यादि तीन मलों की सघन परतें हट गई हों, इसी कारण से जो निर्मल चैतन्य के रूप में दीप्तिमान हो, जिसके स्वाभाविक ज्ञानमय एवं क्रियामय स्वातन्त्र्य की कोई निर्धारित सीमा न हो,

जो देश इत्यादि उत्पादित विच्छेदों से रहित होने के कारण सर्वव्यापक हो, कभी भी अस्त या उदित न होनेवाली अनादि बोधमयी प्रकाशमानता ही जिसका मात्र रूप हो और जिसके संकल्प परमार्थसत् हों अर्थात् स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के विहार निर्बाध हों–तात्पर्य यह कि स्वरूप में जिसप्रकार का इच्छा-स्पन्दन होता हो उसी के अनुरूप पदार्थवर्ग की रूपरेखा बनती जाती हो-(ऐसे शिवरूप में अनुभव करे)।

मूलग्रन्थ : तथा दिक्-काल-आकार-कलनाभिः चर्चाभिः विरहितं व्यापित्व-नित्यत्व-धर्म-योगात्, अत एव ध्रुवं कूटस्थम्, अव्ययम् अविनाशिनम्, तथा ईश्वरं स्वतन्त्रम्, अन्यत् च तथा सुपरिपूर्णं सुष्ठु निराकाङ्क्षम्, तत् अनु बहुतराणि प्रभूतानि शब्द-राशि-समुत्थानि ब्राह्मी-आदि-शक्ति-अधिष्ठितानि घटपट-आदि-शक्ति-व्रातानि तेषां लय-उत्पत्ति-विधौ स्वतन्त्रम्, अन्यत् च सृष्टि-आदि-विधि-सुवेधसं सुप्रवीणं विधातारम्,

इति एवम्-आदि-विशेषणैः सर्वतः परिपूर्णं स्वात्ममहेश्वरं जानानो, यत् किञ्चित् अपि कुर्वाणो, दग्धकर्मबीजो न पुनः संसारभाक्–जीवन् एव विमुक्तो भवेत्–इति यावत्।

अनुवाद : इसके अतिरिक्त सर्वव्यापकता एवं नित्यता जैसे माहेश्वर धर्मों से युक्त होने के कारण दिशा, समय इत्यादि की कल्पनाओं से रहित, इसी हेतु से अविचल (कूटस्थ) अविनश्वर (अपरिणामी) एवं सब कुछ करने में स्वतन्त्र, (सारी ईश्वरीय विभूतियों से) परिपूर्ण होने के कारण आकांक्षाओं से रहित, 'अ' से लेकर 'क्ष' तक की शब्दराशि से उद्भव पानेवाली ब्राह्मी इत्यादि मातृकाशक्तियों के द्वारा अधिष्ठित घड़ा, कपड़ा इत्यादि प्रमेयभावों के रूपवाली अनन्त शिवशक्तियों के समूह का संहार एवं सृष्टि करने में स्वतंत्र और सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान एवं अनुग्रह–इन पांच ईश्वरीय कृत्यों को यथावत् रूप में संपन्न करनेवाले अतिचतुर ब्रह्माजी–

ऐसे ऐसे विशेषणों से अलंकृत स्वात्ममहेश्वर को ही (वास्तविक) परमशिव के रूप में अनुभव करनेवाला (सिद्धजन) चाहे जो कोई भी कर्म करे (उसके ज्ञान की आग में) उस कर्म के बीज भी राख हो जाते हैं जिससे वह फिर कभी संसरण का भागी नहीं बन जाता है अर्थात् वह जीवित होता हुआ ही मुक्त=जीवन्मुक्त बन जाता है।

कारिका-६७

उपक्रमणिका : 'एवं स्वात्म-प्रत्यवमर्श-युक्त्या ज्ञानिना विगलित-कर्मफल-अभिलाषेण कृतम् अपि कर्म न फलाय'-इति आवेदयन् स्व-अनुभव-सिद्धं लोकदृष्टान्तम् आह-

अनुवाद : 'इस प्रकार अपने एकतान विमर्श की धारा को स्वात्म-महेश्वरदेव के अभिमुख बनाने के उपाय के द्वारा मनचाहे कर्म से मनचाहे फल को पाने की अभिलाषा का सर्वथा परिहार करनेवाले ज्ञानीजन के द्वारा किया जानेवाला कोई भी कर्म कभी भी फलित नहीं होने पाता है'-इस तथ्य का प्रस्तुतिकरण करते हुए स्वयं परखे हुए लौकिक दृष्टान्त का उल्लेख करता है-

मूलकारिका

इति युक्तिभिरपिसिद्धं यत्कर्म ज्ञानिनो न सफलं तत्।
न ममेदमपि तु तस्येति दार्ढ्यतो न हि फलं लोके॥

अन्वय/पदच्छेद : 'ज्ञानिनः यत् कर्म तत् सफलं न' -इति लोके युक्तिभिः अपि सिद्धं (अस्ति), इदं मम न, अपितु तस्य इति दार्ढ्यतो फलं हि न (लभ्यते)।

अनुवाद : 'ज्ञानी पुरुष का जो भी कर्म हो वह फलित नहीं होता है' यह बात लौकिक युक्तियों के द्वारा भी सिद्ध ही है, (उदाहरणार्थ-) 'यह (यज्ञ आदि) कर्म मेरा नहीं, प्रत्युत उस (यज्ञ करानेवाले यज्ञमान का है'-इस दृढप्रतीति के कारण (ऋत्विज् को) उसका (यज्ञ आदि कर्म का) फल, निश्चय से, नहीं मिलता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : 'अहम् एव चित्-घनः स्वतन्त्रः सर्व-प्रमातृ-अन्तरत्वेन सर्वकर्मकारी, न अहम् वा कर्ता, पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य-शक्तिः इत्थं करोति'-इति मम शुद्धचैतन्यस्य किम् आयातम्?

इति युक्तिभिः प्राक् प्रतिपादित-स्वरूपाभिः उपपत्तिभिः व्याख्यात-स्वात्म-स्वरूपविदः प्रमातुः उभयथा देह-आदि-अंहभाव-अभावात् हेय-उपादेय-शून्यत्वेन यत् सिद्धं कर्म निष्पन्नम् अपि कृतं न सफलं न तत् फलेन युज्यते।

अनुवाद : "चित्-भाव की सघनता से ओत-प्रोत और स्वतंत्र 'अहम्=पर-अहंभाव'-अर्थात् सारे जड-चेतनमय जगत-प्रपंच को स्वरूपमय अनुभव करनेवाला परमशिव, सारे प्रमाताओं के अंतरतम में चेतना के रूप में व्याप्त रहने के कारण स्वयं सारे कर्मों को संपन्न करनेवाला कर्ता है,' अर्थात् मैं शरीर, प्राण इत्यादि के कंचुक से आच्छन्न जीव, कर्ता नहीं हूँ, (वास्तव में) परमेश्वर की स्वातंत्र्यशक्ति ही सारे जगत्-व्यवहार को संपन्न कर लेती है, मैं निर्मल चित्-स्वरूप हूँ, मुझे इस (स्वभाव से ही चलने वाले) कर्म-प्रपंच से क्या लेना-देना है?"

पहले समझाई गई ऐसी ही आत्मविमर्श की युक्तियों के द्वारा, पूर्व व्याख्यान में वर्णित स्वभाव वाले 'स्वरूपवित्' अर्थात् आत्मस्वरूप के अनुभवी प्रमाता की इतिकर्त्तव्यताओं में जहां एक ओर शरीर इत्यादि के साथ संबन्धित अहंमानिता का पूरा अभाव होता है, वहीं दूसरी ओर (स्वार्थान्धता से) किसी कर्मविशेष का दुतकार या अङ्गीकार करने के रूपवाली प्रवत्ति भी नहीं होती है। अतः वह जो कुछ भी करे वह फलित नहीं होने पाता है।

मूलग्रन्थ : तस्य आत्मज्ञानिनः प्रतिपादितवत्, उभयथा कृत्रिमत्व-अभावात् कृतम् अपि कर्म कुत्र फलेन योगं कुर्यात्? देह-आदि-प्रमातृता-अभिमान-स्वभाव-आश्रय-अभिमान- अभावात् न कुत्रचित्, इति यावत्। कृतस्य कर्मणो या प्रमातुः फल-अभिमान-रूढ़िः एष एव आश्रयः, ज्ञानिनः तु अभिमान-अभावात् स्वस्मिन् रूप एव प्रक्षीणं कर्म न फलेन संबध्यते-इति।

अनुवाद : उल्लिखित मंतव्य के अनुसार आत्मज्ञानी के अंतस् में दो प्रकार के मिथ्याभासों, (१- देह, प्राण, पुर्यष्टक इत्यादि जड़ पदार्थों पर आत्ममानिता का अंहकार, और २- सकाम वृति से किन्ही कर्मों को त्याज्य और किन्ही को ग्राह्य मानने का पाखंड), का पूरा अभाव होता है अतः समस्या यह है कि उसके द्वारा (लोकहित के) कर्म किए जाने पर भी उनके फल की टिकान कहां होने की संभावना है? तात्पर्य यह है कि शरीर इत्यादि पर आत्ममानिता रखने का स्वभाव कर्मफल की टिकान है, जब वह टिकान ही कहीं न हो तो कर्मफल भी कहीं चिपक नहीं सकता है। प्रमाता के अंतस् में विद्यमान अपने किए हुए कर्मों से मनचाहा फल पाने के अभिमान का दृढनिश्चय ही कर्मफल का आश्रय होता है, परन्तु

आत्मज्ञानी में किसी भी प्रकार का अभिमान न होने के कारण कर्म अपने कर्मरूप में ही क्षीण होकर फल के साथ संबन्धित नहीं होने पाता है।

मूलग्रन्थ : ननु अभिमानात् एव कर्मफलेन युज्यते–इति कुत्र? यथा–इति आह 'न ममेदमपि' इत्यादि–

दृष्टं च एतत् न अपूर्वम्। यथा– 'न मम इदं यज्ञ-आदिकं कर्म अपि तु तस्य कस्य अपि अर्थवतो यजमानस्य'–इति अनया बुद्ध्या कृतम् अपि यज्ञ-आदिकं कर्म लोके मूल्य-अर्थितया फल-अभिमान- अभावात् न, यतः तत् कर्म पारलौकिकेन फलेन युक्तं कल्पते।

अनुवाद : प्रश्न यह है कि 'अंतस् में कर्तृत्व-अभिमान होने के कारण ही कर्म फल के साथ जुड़ जाता है'– यह बात कहां से आ गई? –उदाहरण के द्वारा इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने के अभिप्राय से 'न ममेदमपि'–इत्यादि कारिकाखंड बतला रहा है–

यह तो कोई अपूर्व बात नहीं है। लोकव्यवहार में भी प्रायः ऐसा देखा जाता है। उदाहरणार्थ- 'यह यज्ञ आदि कर्म मेरा नहीं, प्रत्युत किसी दूसरे यजमान का है जो किसी अभीष्ट फल को पाने के लिए इस पर धन खर्च कर रहा है'–(किसी ऋत्विज् के द्वारा) इसी विचार से संपन्न किए जाने वाले यज्ञ आदि का पारलौकिक फल उस ऋत्विज् के साथ संबन्धित नहीं होने पाता, क्योंकि (यज्ञ कराने के बदले में) केवल दक्षिणा पाने का इच्छुक होने के कारण उसके मन में उस कर्म के फल को प्राप्त करने का अभिमान (वासना) बिल्कुल नहीं होता है। इसी कारण से (ऋत्विज् के संदर्भ में) उस कर्म के पारलौकिक फल से युक्त होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

मूलग्रन्थ : तथाहि– 'यजन्ति याजकाः, यजते यजमानः' –इति न्यायेन यजताम् ऋत्विजां यज्ञकर्म स्वयं कृतवताम् अपि-'इदम् अश्वमेध -आदिकं यज्ञकर्म न अस्माकं किञ्चित्, अपि तु दीक्षितस्य पुण्यवतः वयं किल इह यज्ञकर्मणि नियमित-मूल्यमात्र-अर्थिनः अत्र न केचन एव, यजमानः पुनः अमुना कर्मणा स्वर्ग-आदि-फल-भाक् अपि' –इति तेषां कर्म-फल-अभिमान-अभावत् न स्वयं कृतम् अपि कर्म तदीयेन स्वर्ग-आदिना फलेन युज्यते।

ध्यानाकर्षण : यहां पर संस्कृत व्याकरण का यह नियम ध्यान में रखना आवश्यक है–

१- 'यजन्ति याजका:' : इस परामर्श में 'यजन्ति' इस क्रिया पद को परस्मैपद में रखने का अभिप्राय यह है कि ऋत्विज् लोग तो यज्ञ कर रहे हैं परन्तु उसका फल उनको मिलने वाला नहीं है–कर्त्रनभिप्राये क्रियाफले।

२- 'यजते यजमान:' इस परामर्श में 'यजते' इस क्रियापद को आत्मनेपद में रखने का अभिप्राय यह है कि यजमान बदले में धन देकर अपने लिए यज्ञ करवा रहा है अत: यज्ञ का फल उसीको मिलना है- कर्त्रभिप्राये क्रियाफले।

अनुवाद : 'यजन्ति याजका: = यज्ञ करवाने वाले (पुरोहित यजमान से धन लेकर) यज्ञ कर रहे हैं, यजते यजमान:= यजमान स्वयं (फल की अभिलाषा से पैसा लगाकर) यज्ञ कर रहा है'= इन दोनों परामर्शों में यद्यपि ऋत्विज् लोग ही यज्ञीय कर्म संपन्न करते हैं तो भी उनके मन में यह अखंड धारणा बनी रहती है कि–'इस यज्ञीय कर्म के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत इसका संबन्ध किसी दूसरे दीक्षित पुण्यकर्त्ता के साथ है। इस यज्ञीय कर्म में हम केवल निश्चित मूल्यमात्र (दक्षिणा) पाने के इच्छुक हैं, अत: इसमें हमारा कोई दायित्व नहीं है। इसके उल्टे में (यज्ञीय कर्म करवाने वाला) यजमान इस कर्म से स्वर्ग आदि फलों को भी पा सकता है'। इसलिए ऋत्विजों के मन में यज्ञकर्म से मिलने वाले फल की अधिकारिता के अभिमान का पूरा अभाव होने के कारण अपने हाथों से किया जानेवाला कर्म भी अपने स्वर्ग आदि फलों के साथ उनका संबन्ध स्थापित नहीं कर सकता है।

मूलग्रन्थ : यजमानः तु तत्र स्वयं अकुर्वाण ऋत्विङ्-निर्वर्त्य-कर्म-मुखप्रेक्षी अपि 'मम इदम् अश्वमेध-आदिकं यज्ञकर्म, मदीयेन धनेन अमी ऋत्विजः कर्मणि प्रवत्ताः–इति मम एवं स्वर्ग-आदि-फलं देहपातात् अवश्यंभावि'–इति अकुर्वाणस्य अपि यथा-समीहित-कर्मफल-अभिमान-दार्ढ्यात् तत् तस्य कर्मफलेन युज्यते।

अनुवाद : दूसरी ओर यद्यपि वह यजमान यज्ञीय कर्म को स्वयं संपन्न न भी करता है और ऋत्विजों के ही सहयोग से सिद्ध हो सकने वाले कर्म को पूरा करवाने के लिए उनका मुखप्रेक्षी भी बना रहता है, तो भी– 'यह अश्वमेध इत्यादि यज्ञीय कर्म मेरा है, ये ऋत्विज् लोग मुझसे धन लेकर इस कर्म को संपन्न कर रहे हैं, इसलिए मरणोपरान्त इससे मिलने वाले स्वर्ग इत्यादि फल का भागी मैं ही बनने जा रहा हूँ'–इस

प्रकार मनोनीत कर्म से मनोनीत फल को पाने के अभिमान की दृढ़ता के कारण वह उसका कर्म अवश्य उसको अपने फल के साथ योग करा देता है।

मूलग्रन्थ : अत एव 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले'–इति दीक्षितात् कर्तुः 'यजते यजमानः'–इति आत्मनेपदम्, कर्त्रनभिप्राये तु परस्मैपदं 'यजन्ति याजकाः'–इति।

अनुवाद : इसलिए 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले'–इस व्याकरणनियम के अनुसार (यज्ञकर्म में) दीक्षित कर्त्ता के अभिप्राय से 'यजते यजमानः' -इस परामर्श में आत्मनेपद, और (ऋत्विजों के संदर्भ में) वास्तविक कर्त्ता का अभिप्राय न होने के कारण 'यजन्ति याजकाः' –इस परामर्श में परस्मैपद का प्रयोग किया गया है– कर्त्रनभिप्राये क्रियाफले।

मूलग्रन्थ : इयान् महिमा दुर्लङ्घ्यो विकल्पस्वातन्त्र्यस्य-यत् स्वयं कृतम् अपि कर्मफल-अभिमान-अभावात् तत्-फलेन न युज्यते, अन्यैः कृतम् अपि कर्म 'मम इदम्'–इति अभिमानदार्ढ्यात् फलयुक्तं स्यात्, तस्मात् ऋत्विक्-व्यापारवत् क्रियमाणं योगिना कर्म फल-अभिमान- अभावात् न तत् सफलं भवेत्–इति।

अनुवाद : 'विकल्प स्वातन्त्र्य'-अर्थात् साधनामार्ग पर चलकर अपने विकल्पों में स्वातंत्र्य शक्ति का विकास करने से साधक के मन में अपनी इच्छा के अनुसार विकल्पों का उद्भव'। उस विकल्प-स्वातंत्र्य की इतनी अतर्क्य और अनतिक्रमणीय महिमा होती है कि स्वयं किसी कर्म को संपन्न कर लेने पर भी मन में उसका फल पाने की कामना न होने पर उसके फल के साथ संबन्ध नहीं हो जाता है, जब कि (ऋत्विज्) इत्यादि इतर लोगों के द्वारा संपन्न किए जानेवाले कर्म पर भी 'यह मेरा कर्म है'–ऐसे अभिमान की दृढता से कर्मफल के साथ संबन्ध हो जाता है।

फलतः, ऋत्विजों के व्यवहार की तरह, फल की अभिलाषा के बिना किया जाने वाला योगी का कर्म कभी भी फलदायक नहीं बन जाता है।

कारिका-६८

उपक्रमणिका : एवं सर्वकर्मसु हेय-उपादेय-कल्पना-कलङ्क-परित्यक्त-बुद्धिः ज्ञानी दीप्तः स्यात्–इति आह–

अनुवादः 'इस प्रकार सारे कर्म करने में अपनी बुद्धि को हेयता और उपादेयता की कल्पनाओं की कालिख से बचाकर रखनेवाला ज्ञानीजन ज्योतिर्मय बन जाता है'–इस विषय में (अगली कारिका) बतला रहा है–

मूलकारिका

इत्थं सकलविकल्पान् प्रतिबुद्धो भावनासमीरणतः।
आत्मज्योतिषि दीप्ते जुह्वज्ज्योतिर्मयो भवति॥

अन्वय/पदच्छेद : प्रतिबुद्धः इत्थं भावना-समीरणतः दीप्ते आत्मज्योतिषि सकल-विकल्पान् जुह्वत् ज्योतिर्मयः भवति।

अनुवाद : प्रबुद्ध प्रमातृभाव पर पहुंचा हुआ (ज्ञानी/योगी), इसी सरणी का आश्रय लेकर, अद्वैतभावनारूपी समीर के झोंकों से भड़काई हुई आत्मविमर्शरूपी ज्वाला में, सारी विकल्पसामग्री का होम करता हुआ, (सर्वभाव से) ज्यातिर्मय बन जाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : **इत्थं व्याख्यातेन प्रकारेण या भावना- 'अहम् एव चैतन्यमहेश्वरः सर्वात्मना सर्वदा एवं स्फुरामि'-इति या आत्मनि विमर्शरूढ़िः, सैव शनैः प्रसरन्ती समीरणो वायुर् इव, तेन ज्ञानी प्रतिबुद्धो भस्मच्छन्नो वायुना प्रतिबोधितो वह्निः यथा सकल-विकल्पान्-'पशु अस्मि कर्म-बन्ध -बद्धो देहरूपी, मम इदं पुत्र-दारा-आदि, अमुना कर्मणा स्वर्गो निरयो वा भविष्यति'–इत्यादि सर्वाः कल्पना 'अहम् एव इदं सर्वम्'–इति परामर्शशेषीभूताः आत्मज्योतिषि चैतन्यकृशानौ दीप्ते पर-अहन्ता-चमत्कार-सारे जुह्वत् अविकल्प-संवित्-रूप-अनुप्रवेशेन समर्पयन् स ज्योतिर्मयो भवति दाह्य–विकल्प-इन्धन-परिक्षयात् दाहक–आकारः चित्-अग्निः एव संपद्यते, पर-प्रमातृ-एक-वपुः असौ अवशिष्यते–इति यावत्।**

अनुवाद : 'इस प्रकार 'मैं ही चैतन्य-महेश्वर नित्य विश्रात्मभाव से स्फुरणशील चेतना हूँ'–इस ऊपर वर्णित भावना का निरंतर अभ्यास करने से ज्ञानीजन का अन्तःविमर्श मात्र आत्मभाव पर स्थिर हो जाता है। वह स्थिरता (नियमित अभ्यास क्रम से) शनैः शनैः अग्रसर होती हुई उस ('समीरण' अर्थात् सम्=पूरी शक्ति से, ईरण=झंझोडना, गति प्रदान कर देना) वायु का रूप धारण कर लेती है जिस की अन्तः-प्रेरणा से वह

(ज्ञानी) प्रबुद्ध प्रमातृभाव पर प्रतिष्ठित हो जाता है। तात्पर्य यह कि उसके अंतस् में ज्ञानज्योति उसी प्रकार प्रज्वलित हो जाती है जिस प्रकार राख से आच्छन्न आग समीर के झोंकों से धधक उठती है। फलस्वरूप वह (धीर पुरुष) "मैं शरीररूपी कर्मबंधन में फंसा हुआ पशु हूँ, ये मेरे पुत्र, पत्नी इत्यादि (परिवारजन) हैं, अमुक कर्म करने से मुझे स्वर्ग या नरक मिलेगा"—ऐसी अपनी सारी (अज्ञानकालीन) विकल्प कल्पनाओं को, 'यह सारा इदंभाव मैं = अहम् ही हूँ—ऐसे आत्मपरामर्श में निःशेषित करके, पर-अहंभाव की रसमयता के सारवाली 'आत्मज्योति' अर्थात् चैतन्यरूपी अग्नि में आहुति की तरह डालता हुआ—तात्पर्य यह कि विकल्पवर्जित संवित्-भाव में (आत्मबल से) घुसेड़ता हुआ-(अंतः-बहिः) ज्योतिर्मय ही बन जाता है। कहने का भाव यह कि जलाकर राख बनाए जाने के योग्य विकल्परूपी इंधनसंभार को जला सकने वाले चित्-अग्नि के ही रूप को धारण कर लेता है और अंततोगत्वा परमशिवभाव के साथ एकाकर बनकर विशुद्ध परप्रमाता के रूप में अवशिष्ट रह जाता है।

कारिका-६९

उपक्रमणिका : एवं व्याख्यातेन प्रकारेण यः प्रकृष्ट-ज्ञान-योग-अभ्यास-रतः स शेषवर्तनया कथं कालम् अतिवाहयति-इति आह–

अनुवाद : इस प्रकार उल्लिखित व्याख्या में समझाई गई सरणि पर जो साधक अति उत्तम ज्ञानमार्ग या योगमार्ग का अभ्यास करने पर कटिबद्ध हो, उसके लिए किस प्रकार की शेषवर्तना को अपनाकर समय बिताने की व्यवस्था है?– इस विषय को छेड़ता है–

*(**संकेत** : शेषवर्तना=आत्मज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त ज्ञानी पुरुष को अवशिष्ट कर्मफल का उपभोग करने के लिए जब तक शरीर में रहना पड़े तब तक के लिए अपनाया जानेवाला विशेष जीवन-व्यवहार)*

मूलकारिका

अश्नन् यद्वा तद्वा संवीतो येन केनचिच्छान्तः।
यत्र क्वचन निवासी विमुच्यते सर्वभूतात्मा॥

अन्वय/पदच्छेदः शान्तः सर्व-भूत-आत्मा यत् वा तत् वा अश्नन्, येन केनचित् संवीतः, यत्र क्वचन निवासी विमुच्यते।

अनुवादः शान्तस्वभाव और सारे प्राणिवर्ग में आत्मरूप से व्यापक रहनेवाला (जीवन्मुक्त पुरुष) जो भी मिले वही खाता हुआ, जिस किसी भी पहनावे से तन ढांपता हुआ और जिस किसी भी स्थान पर रहता हुआ (पर्यन्ततः) परमशिवभाव में लय हो जाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : यत् किञ्चित् पुरः पतितम् अदनयोग्यं पदार्थम् अश्नन् चमत्कुर्वन्, न पुनः नियमेन– 'इदं पवित्रम्, इदम् अपवित्रम्, इदं कदन्नम्, इदं मिष्टान्नम्' –इति हेय-उपादेय-कल्पना-विरहात् अयत्नेन आपतितं यत् अपि तत् अपि समाहरन्,–

अनुवाद : ज्ञानीजन आहार की किसी नियमबद्ध व्यवस्था का वशवर्ती बनने के बिना जिस किसी भी खाने के योग्य पदार्थ का आस्वाद लेता हुआ, अर्थात् मन में 'यह पवित्र है, यह अपवित्र है, यह बासी या घटिया अन्न है, यह स्वादिष्ट अन्न है'–ऐसी हेयता या उपादेयता की कल्पनाओं का अभाव होने के कारण माथापच्ची करने के विना जो कुछ भी सामने आजाए उसी का आहार करता हुआ (जीवन के शेष दिन बिता देता है)।

मूलग्रन्थ : तथा 'संवीतो येन' इत्यादि–

कन्थया, चर्मणा, वल्कलेन वा तूलपट-आदिना दिव्यतम-वस्त्रैः वा समाच्छादितः'–इति उभयथा उत्कर्ष-अपकर्ष-अभावात् शरीर-आच्छादन-अर्थक्रिया-अर्थी भूत्वा न अपि किञ्चित् द्वेष्टि, न अपि स्तौति–इति।

कथम् एतत्?

यतः स शान्तः सुख-दुःख-आदि-विकल्पन-अतिक्रान्तः, –इति।

अनुवाद : और 'संवीतो येन' इत्यादि शब्दों का तात्पर्य इस प्रकार है-

गुदड़ी, मृगछाला, भोजपत्र या सूती चद्दर इत्यादि अथवा दिव्य पहनावे से शरीर को ढांपता हुआ-(जीवन के शेष दिन बिता देता है)। उसके मन में उत्कर्ष या अपकर्ष दोनों प्रकार की भावनाओं का अभाव होता है, अतः वह मात्र तन ढांपने की अर्थक्रिया को निभाने का इच्छुक बनकर न तो किसी पहनावे के प्रति रुचि और न किसी के प्रति अरुचि का भाव ही रखता है।

(प्रश्न) वह ऐसे कैसे कर सकता है?

(उत्तर) क्योंकि उसका स्वभाव शान्त होता है अर्थात् वह सुख, दु:ख इत्यादि द्वन्द्वात्मक विकल्पों से बहुत ऊपर उठा होता है।

मूलग्रन्थ : तथा 'यत्र क्वचन निवासी'–इति–

यत्र क्वचन यादृशे तादृशे स्थाने स्व-परिश्रय-मात्र-अर्थी, न पुनः तस्य क्षेत्र-आयतन-तीर्थ-आदि पवित्रत्वात् स्वीकार्यं भवति, न अपि श्मशान-श्वपच-सदन-आदि अपवित्रत्वात् परिहार्यं स्यात्। अयत्नेन यत् तत् स्थानम् आपतितं तत् तत् अधिवसति पवित्र-अपवित्र-कल्पना-कलङ्क-विरहात्।

अनुवाद : उसी प्रकार 'यत्र क्वचन निवासी'–इस पद्यभाग का भाव इस प्रकार है–

जहां कहीं भी ऐसे या वैसे स्थान पर वह अपने लिए छोटी सी, धूप-वर्षा से सुरक्षित, झोंपड़ी तक ही अपनी इच्छा को सीमित रखकर-(जीवन के शेष दिन बिताता है)।

ऐसा कुछ नहीं कि उसको कोई क्षेत्र (धार्मिक स्थल), देव-मन्दिर, तीर्थ इत्यादि पवित्रता की दृष्टि से स्वीकार्य, और श्मशान, चंडाल का घर इत्यादि अपवित्र समझे जाने के कारण परिहार्य हों। इस दिशा में किसी प्रकार की माथापच्ची करने के बिना उसको जो भी कोई स्थान मिले वहीं जाकर निवास करता है क्योंकि उसके मन में किसी स्थान की पवित्रता या अपवित्रता की कल्पना की कालिख नाम के लिए भी छाई नहीं होती है।

मूलग्रन्थ : 'विमुच्यते'–इति–

एवम् अपि शेषवर्तनया पर-अनुग्रह-अर्थ-प्रवृत्तः कालम् अतिवाहयन् 'विमुच्यते' परमशिवी भवति। उक्तं च–

'येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः।
यत्र क्वचन शायी यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥'

इति। मोक्षधर्मेषु अपि–

'अनियत फलभक्ष्य भोज्य पेयं
विधिपरिणाम विभक्त देश कालम्।
हृदय सुखमसेवितं कदर्यै-
र्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥' इति-

अनुवाद : 'विमुच्यते' इस क्रिया से यह ध्वनित हो रहा है–दूसरों पर अनुग्रह करने के लिए ही कर्म करता हुआ ज्ञानी, 'यों भी अर्थात् अपने लिए किसी भी सुविधा को जुटाने की दिशा में तटस्थ बनकर भी, शेषवर्तना को अपनाकर समय बिताता हुआ(मरणोपरान्त) परमशिवभाव में लीन हो जाता है। कहा भी है–

''देवता उसी व्यक्ति को ब्राह्मण समझते हैं जो जिस किसी भी वस्त्र आदि से तन को ढांपता हो, जिस किसी भी भक्ष्य पदार्थ का आहार करता हो और जिस किसी भी स्थान पर सोता हो।'' मोक्षधर्म में भी यह कहा गया है-

''मैं पूतात्मा बनकर इस अजगरी व्रत का पालन कर रहा हूँ– इसमें नियमित लीक पर न चलते हुए किसी भी फलाहार, भोज्य एवं पेय पदार्थ पर गुज़ारा किया जाता है, विधि के द्वारा निश्चत परिणाम प्रक्रिया के अनुसार चलते हुए देश-काल के विभाग को स्वीकारा जाता है, यह हृदय को सुखी बनाता है और संकुचित स्वभाव वाले व्यक्ति इसका सेवन नहीं करते हैं''।

मूलग्रन्थ : कथम् एवम् अपि कुर्वन् ज्ञानी स्वयं मुच्येत?–इति आह– 'सर्वभूतात्मा' –इति–

यतः स ज्ञानी 'सर्वभूतात्मा', – सर्वेषां भूतानाम् आत्मा, सर्वाणि च भूतानि तस्य आत्मा–इति कृत्वा न किञ्चित् बन्धकतया भवति, सर्वं विमुक्तये अस्य संपद्यते–इति।

अनुवाद : इस प्रकार की शेषवर्तना का पालन करते हुए भी ज्ञानीजन के लिए स्वयं मुक्त होने की कौन सी संभावना है? इस बारे 'सर्वभूतात्मा' यह कारिकांश प्रस्तुत कर रहा है–(यहां पर व्याख्याकार ने 'सर्वभूतात्मा'-इस शब्द की दो प्रकार से व्याख्या करके ज्ञानीजन और शेष विश्व का पारस्परिक समन्वय प्रकट किया है। व्याख्या इस प्रकार है–)

१- 'सर्वभूतात्मा'= सर्वेषां भूतानाम् आत्मा–वह ज्ञानी सारे जड़ एवं चेतन पदार्थों में आत्मा के रूप में व्यापक होता है।

२- 'सर्वभूतात्मा'= सर्वाणि भूतानि तस्य आत्मा–सारे जड़-चेतन पदार्थ उसके आत्मरूप होते हैं।

इस प्रकार सर्वभूतात्मा होने के कारण कोई भी पदार्थ (उसके

स्वरूप से भिन्न न होने के कारण) उसको बंधन में नहीं डाल देता है, प्रत्युत सारा शेष विश्व मुक्ति की ओर अग्रसर होने में उसका सहयोगी बन जाता है।

कारिका-७०

उपक्रमणिका : 'न अपि एवंरूपस्य निरभिमानस्य यत् किञ्चित् कुर्वतः अपि पुण्य-पाप-संभवः' -इति आह-

अनुवाद : 'ऐसी भी कोई आशंका नहीं है कि ऐसे पहुँचे हुए और (देह आदि के) अभिमान से रहित ज्ञानी को, (केवल लोक-उपकार के लिए) जो कोई भी कर्म करते रहने पर, पुण्य या पाप दोनों स्पर्श कर सकें'-इस विचार को प्रस्तुत कर रहा है-

मूलकारिका

हयमेधशतसहस्त्राण्यपि कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः॥

अन्वय/पदच्छेद : विमलः परमार्थवित् हयमेध-शत-सहस्त्राणि ब्रह्मघात-लक्षाणि अपि कुरुते, च न पुण्यैः न पापैः स्पृश्यते।

अनुवाद : निर्मल अंतःकरणोंवाला 'परमार्थवित्' अर्थात् द्वैतहीन चिन्मय आत्मस्वरूप का जानकार पुरुष चाहे सैकड़ों या हज़ारों अश्वमेध यज्ञ अथवा लाखों ब्रह्मघात भी क्यों न करे, उसको पुण्य या पाप दोनों छू भी नहीं सकते।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : य एवं परमार्थवित् स्वात्ममहेश्वर-स्वभाव-सतत्त्वज्ञः, स अश्वमेध-राजसूय-आप्तोर्याम-आदि यज्ञान् निःसंख्याकान्, फल-कामना-अभिमान-विरहात् 'कर्तव्यतामात्रम् इदम्' -इति एवं कृत्वा क्रीडार्थं यदि कदाचित् विहितानि कर्माणि विदधाति, अथवा ब्रह्महनन-सुरापान-स्तैन्य-आदीनि प्रमाद-उपनतानि महापातकानि अविहितानि अपि, अशरीरतया च, इति उभयथा '-अहं, मम' इति अभिमान-अभावात् 'परमेश्वर-इच्छा-एव इत्थं विजृम्भते, मम किम् आयातम्' -इति बुद्ध्या न पुण्यैः शुभफलैः न अपि पापैः अशुभैः स ज्ञानी मलिनीक्रियते,-इति।

अनुवाद : इस प्रकार जो (ज्ञानी/योगी) 'परमार्थ' अर्थात् आत्म-महेश्वर रूप स्वयंसिद्ध स्वभाव का ज्ञानी हो, वह यदि कभी तीव्र आवश्यकता पड़ने पर, केवल (जनहितकार की) क्रीडा को निभाने के हेतु, अश्वमेध, राजसूय, एवं आप्तोर्याम इत्यादि बहुतेरे शास्त्रविहित यज्ञ-कर्मों को, निजी फलकामना से नहीं, प्रत्युत, केवल कर्त्तव्यमात्र समझकर, संपन्न करें, अथवा (यही जनहित का लक्ष्य पूरा करने की अभिलाषा से) ब्रह्मघात, मदिरापान, चोरी इत्यादि शास्त्रनिषिद्ध महान पापकर्मों को भी, देह-अभिमान को सर्वथा भूलकर, करे, तो ये दोनों प्रकार के कर्म करने में एक ओर 'मैं, मेरा'–ऐसे देह-अभिमान का अभाव, और दूसरी ओर 'यह तो मात्र परमेश्वर की इच्छा का विकास है, मुझे इससे क्या लेना-देना है?– ऐसी बुद्धि होने के कारण अच्छे या बुरे कर्मफल उसको कलुषित नहीं बना पाते।

मूलग्रन्थ : कथम् एतत्?–इति आह 'विमलः' –इति–

यतः तस्य विगताः प्रक्षीणा आणव-मायीय-कार्ममलाः संसरण-हेतवः-इति।

एवं मलिनस्य हि प्रमातुः विच्छिन्न-देह-आदि-प्रमातृतया आत्म-आत्मीय-अभिमानभावो येन 'मम इदं कर्म शुभम्, इदम् अशुभम्'–इति अभिमान-दौरात्म्यात् पुण्य-पाप-संचय-योगः स्यात्। यस्य कर्मफलसंचयो ममत्वहेतुः मलप्रचयो विगतः स्यात्, तस्य अभिमान-अभावात् कथं पुण्य-पाप-स्पर्शः? यथा श्रीभगवद्गीतासु-

'यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता, अ० १८, श्लोक १७) इति।

अनुवाद : यह कैसे होता है?- इसके उत्तर में 'विमलः' यह विशेषण प्रस्तुत करता है– क्योंकि उसके आणव, मायीय और कार्म तीनों मल, जो कि (जीव को) आवागमन करवाने के मूलहेतु होते हैं, पूर्णतया नष्ट हुए होते हैं।

तीन मलों से लिप्त प्रमाता के परिप्रेक्ष्य में स्थिति इस प्रकार की होती है कि शरीर इत्यादि परस्पर भिन्न जड़ पदार्थों पर टिका हुआ प्रमातृभाव उसके अंतस् में 'मैं, मेरा' ऐसे ममत्व-अभिमान की भावना उजागर रखता है जिसके फलस्वरूप वह 'मेरा यह कर्म पुण्यकर्म और यह

पाप कर्म हैं–ऐसी अहंमानिता की कुत्सित चित्तवृत्ति का शिकार बनने के कारण, ढेर सारे पुण्य फलों या पाप फलों का उत्तरदायी बन जाता है। इसके प्रतिकूल जिस प्रमाता के कर्मफलों, और ममकार की वृत्ति को जन्म देने-वाले मलों का अटाला नष्ट हुआ हो, तो 'किसी भी प्रकार के अहंभाव से लिप्त न होने के कारण',–उसको पुण्य या पाप कैसे छू सकते हैं? जैसा कि गीता में कहा गया है–

'जिस पुरुष के अंतस् में अंहभाव न हो, जिसकी बुद्धि मलों से लिप्त न हो, वह इन सारे लोगों को मारने पर भी (वस्तुतः) न किसी को मारता है और न किसी के द्वारा बंधन में जकड़ा जाता है।'

(गीता अ० १८, श्लोक १७)

कारिका-७१

उपक्रमणिका : एवं विधस्य ज्ञानिनो नियतचर्या परामृशन् आह–

अनुवादः ऐसे ज्ञानीजन के लिए (शास्त्रों में) निश्चित दिनचर्या का विवेचन करते हुए कहता है–

मूलकारिका

मदहर्षकोपमन्मथविषादभयलोभमोहपरिवर्जी।
निःस्तोत्रवषट्कारो जड इव विचरेदवादमतिः॥

अन्वय/पदच्छेद : (ज्ञानी) मद, हर्ष, कोप, मन्मथ, विषाद, भय, लोभ, मोह, परिवर्जी, निः-स्तोत्र, (निः)वषट्कारः अवादमतिः जडः इव विचरेत्।

अनुवाद : (ज्ञानी पुरुष) अभिमान (नशा), हर्ष (खुशी), क्रोध , कामेच्छा, दुःख, डर, लोभ, मोह–इन वृत्तियों को तिलाञ्जलि देकर, स्तोत्रों का पाठ करने एवं 'वषट्'–इस मंत्र से यज्ञाग्नि में आहुतियां डालने से विमुख होकर वाद-विवाद करानेवाली बुद्धि पर अंकुश लगाकर तटस्थ भाव से विचरण करता रहता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : मदो देहप्रमातृता-अभिमानः, हर्षः अलब्धस्य लाभात् प्रमोदः, कोपः क्रोधः मन्मथः संभोग-अभिलाषः, विषादः इष्टवियोगात्

मूढत्वम्, भयं शत्रोः सिंह-व्याघ्रादेः वा दरः, लोभः कार्पण्यम्, मोहो भूतेषु आत्म-आत्मीय-भावः–इति एतान् देह-संस्कार-प्रत्यवमर्शान् मध्ये मध्ये समायातान् अपि 'सर्वं ब्रह्मास्मि' इति परिवर्जयति अविकल्प-संवित्-रूप-अनुप्रवेशेन स्वात्म-प्रत्यवमर्श-शेषीभूतान् संपादयति।

अनुवाद : (ज्ञानीजन) 'मद'–अर्थात् काया पर ही आपा टिकाये रखने का नशा, हर्ष-अर्थात् कभी न पाए हुए वस्तु के आकस्मिक लाभ की खुशी, क्रोध, स्त्री समागम की इच्छा, 'विषाद'-अर्थात् किसी प्रियजन से बिछुड़ने से जनित जड़ता, 'भय'-अर्थात् शत्रु, शेर, बाघ इत्यादि का डर, लालच, 'मोह'-अर्थात्-संसार के जड़-चेतन पदार्थों पर अपनपौ का भाव'– पग पग पर उछलने वाले इन कायिक संस्कारों से जनित आवेगों को 'मैं अंखड परब्रह्मस्वरूप हूँ'–इस शुद्धविमर्श के बल से झाड़ देता हैं। तात्पर्य यह कि इन सबों को विकल्पहीन संवित्-रूप में घुसेड़ कर संस्कारों के साथ आत्मविमर्श में लीन कर देता है।

मूलग्रन्थ : तथा निर्गतः स्तोत्र-वषट्कारेभ्यः स, एवं स्तुत्यस्य व्यतिरिक्तस्य अभावात् न तस्य स्तोत्र-आदि-उपयोगः, न अपि वषट्-आदि-मंत्र-संश्रयो भिन्नस्य देवता-विशेषस्य विरहात्।

अनुवाद : इसके अतिरिक्त वह (ज्ञानी) स्तोत्रों का पाठ करने या 'वषट्कारों से यज्ञादि में आहुतियां डालने के झमेलों से निकला होता है। उसको स्तोत्र इत्यादि की कोई उपयोगिता नहीं होती है क्योंकि उसकी दृष्टि में स्वात्ममहेश्वर से भिन्न और कोई स्तुत्य देवता नहीं होता है। साथ ही आत्मभाव से भिन्न कोई इतर विशेष देवता न होने के कारण उसको 'वषट्' इत्यादि मंत्रों का सहारा लेने की कोई अपेक्षा नहीं होती है।

मूलग्रन्थ : केवलं स 'जड़ इव विचरेत् अवादमतिः'–इति पूर्णत्वात् आकाङ्क्षा-विरहात् च उन्मत्त इव इतिकर्तव्यतारूपे शास्त्रीये कर्मणि प्रमाण-उपपन्ने वा प्रमेय-सतत्त्वे प्रमातृभिः सह 'इदम् उपपन्नम् इदं न'–इति विचार-बहिष्कृत-बुद्धिः, न अपि स्वात्मनि उपदेशम् अपेक्षते, परान् उपदेष्टुं वा प्रमेयम् उपन्यस्यति–इति दान्तप्रायो भूत्वा सर्वं ब्रह्म अवलोकयन् क्रीडार्थं विहरेत् एव–इति जडत्वेन निरूपितः।

अनुवाद : वह केवल निःसंग रहकर और अपनी बुद्धि को वाद-विवाद करने की कुटेव से दूर रखकर विचरण करता रहता है।

वह अपने आपमें परिपूर्ण होता है अतः और कुछ पाने की आकांक्षा न होने के कारण 'उन्मत्त जैसा' अर्थात् लोगों की दृष्टि में सिड़ी जैसा दिखाई देता है। वह अवश्य करणीय शास्त्रीय कर्मों के बारे में, अथवा प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किए गए प्रमेय तत्त्व के बारे में, दूसरे प्रमाताओं के साथ 'अमुक विषय युक्तिसिद्ध है, यह विषय तर्कसिद्ध नहीं है'-ऐसा वाद-विवाद करने की लत से अपनी बुद्धि को दूर रखकर, न अपने लिए किसी उपदेश की अपेक्षा रखता है, और न दूसरों को उपदेश देने के लिए प्रमेयतत्त्व (आत्मा इत्यादि) को समझाने लगता है।

फलतः (कारिका में) उसका निरूपण जड़रूप में करने का अभिप्राय यह है कि वैसा ज्ञानी, इन्द्रियों को वश में रखकर, सारे (जगत्) प्रपंच को ब्रह्मरूप ही देखता हुआ (जन-उद्धार की) क्रीड़ा संपन्न करने के लिए रमता रहता है।

कारिका-७२

उपक्रमणिका : 'एवम् अपि परिवर्ज्यमानेन अपि मद-आदि-वर्गेण, वयम् इव, ज्ञानी, सति शरीरे, किम् इव न स्पृश्यते'?-इति अत्र कारणम् आह-

अनुवाद : 'ऐसा होने पर भी यह प्रश्न उठता है कि ज्ञानीजन से छूटता हुआ यह मद आदि मानसिक कुत्साओं वर्ग, उसका (भौतिक) शरीर रहते हुए भी, हम जैसे पशुजनों की भांति उसको भी आक्रान्त क्यों नहीं कर सकता है?-इसका कारण प्रस्तुत करता है-

***संकेत** : स्मरण रहे कि ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त ज्ञानी जीवन्मुक्त अवस्था में प्रवेश करता है। तात्पर्य यह कि यद्यपि वह सारे बंधनों से मुक्त हुआ होता है, तो भी उसको अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मफल का उपभोग समाप्त करने तक भौतिक शरीर में ही रहना पड़ता है। यही अवधि उसकी जीवन्मुक्ति होती है। यहां पर वादी के प्रश्न का तात्पर्य यह है कि इसी शरीर की वर्तमानता की अवधि में ज्ञानी को भी सर्वसाधारण अज्ञानी जनों की भांति ये कुत्साएँ क्यों नहीं कर सकती हैं?*

मूलकारिका

मदहर्षप्रभृतिरयं वर्गः प्रभवति विभेदसंमोहात्।
अद्वैतात्मविबोधस्तेन कथं स्पृश्यतां नाम?॥

अन्वय/पदच्छेद : अयं मद-हर्ष-प्रभृतिः वर्गः विभेद-संमोहात् प्रभवति, नाम अद्वैत-आत्मबोधः तेन कथं स्पृश्यताम्?।

अनुवाद : यह मद, हर्ष इत्यादि का समूह, मन में (अपना और पराया के रूपवाले) भेदभाव से जनित अज्ञान छाया रहने के कारण सिर उठा लेता है, भला, (जीवन्मुक्त प्रमाता के मन में वर्तमान रहने वाले) द्वैतभाव से रहित आत्मबोध को ये कुत्सित वृत्तियां क्योंकर छू सकती हैं?।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : समनन्तर-कारिका-व्याख्यातो 'मद-आदि-वर्गः अयं विभेद-संमोहात्'-इति आत्मा-आत्मीय-रूपो यो विभेदसंमोहः अपूर्णत्वख्यातिः, ततः प्रभवति पशुप्रमातृभ्यो द्वैतभ्रान्त्या हेय-उपादेयतया समुत्पद्यते।

अनुवाद : यह मद आदि कुत्सित वृत्तियों का समूह, जिसका वर्णन पिछली कारिका में किया गया है, 'विभेदसंमोह' अर्थात् अपना और पराया समझने के रूपवाले भेदभाव से जनित 'मतिभ्रम'–अर्थात् अपने आप में अपूर्णत्व की भावना से सिर उठाता है। तात्पर्य यह कि द्वैतभाव के भ्रम में पड़े हुए पशुप्रमाताओं में पनपी हुई त्याज्यबुद्धि या ग्राह्यबुद्धि से उत्पन्न हो जाता है।

मूलग्रन्थ : यः पुनः 'सर्वं ब्रह्मास्मि'-इति परम-अद्वय-बोधः प्रकृष्टज्ञानी आकाशकल्पः, स तेन मद-आदि-वर्गेण कथं नाम स्पृश्यतां केन प्रकारेण आबिलीक्रियताम्?

अनुवाद : इसके प्रतिकूल जो ज्ञानी 'मैं परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस अखंड-वाक्य से बोध में आनेवाले उच्चतम कोटि के 'परम-अद्वैतज्ञान' से अंतः-बहिः प्रकाशमान हो और महाकाश की भांति सर्वव्यापक दशा पर पहुंचा हुआ प्रमाता हो, भला वह उस मद आदि के समूह के द्वारा कैसे कलुषित बनाया जा सकता है?

मूलग्रन्थ : भिन्नं वस्तु भिन्नस्य हि कदाचित् स्वरूप अर्पयताम्, ब्रह्म-भूतत्वेन गृहीतो मद-आदि-वर्गो ब्रह्मभूतस्य ज्ञानिनः समानजातेः कथं विरोधाय स्यात्? –इति।

अनुवाद : किसी परिस्थिति में ऐसी संभावना हो सकती है कि एक 'भिन्न' अर्थात् विजातीय पदार्थ दूसरे भिन्न पदार्थ में स्वरूप-संक्रमण (विजातीयता का संक्रमण) कर सके, परन्तु जब यह मद आदि वृत्तियों का समूह भी परब्रह्मरूप में ही ग्रहण किया जाता हो, तो परब्रह्मस्वरूप ही बने हुए ज्ञानी का सजातीय होकर उसी का (ज्ञानी का) विरोध कैसे कर सकता है?

कारिका-७३

उपक्रमणिका : 'बाह्य-स्तवन-हवन-वर्गः अपि द्वैत-समाश्रयः एव न तस्य परितोषाय अलम्' –इति आह–

अनुवाद : 'बाहरी लोकव्यवहार में प्रचलित स्तोत्रपाठ एवं यज्ञ के रूपवाली इतिकर्त्तव्यताओं का समूह भी, निरा द्वैतभाव पर आधारित होने के कारण, उस ज्ञानी को मानसिक संतोष प्रदान करने में पर्याप्त नहीं होता है'–इस विषय में कहता है–

मूलकारिका

स्तुत्यं वा होतव्यं नास्ति व्यतिरिक्तमस्य किंचन च।
स्तोत्रादिना स तुष्येन्मुक्तस्तन्निर्नमस्कृति वषट् कः॥

अन्वय/पदच्छेद : अस्य किञ्चन च व्यतिरिक्तं स्तुत्यं वा होतव्यं (देवतादिकं) न अस्ति (यस्य) स्तोत्र-आदिना स तुष्येत्, तत् निर्नमकृतिः (निर्) वषट्कः मुक्तः (भवति)।

अनुवाद : इस ज्ञानी के लिए (स्वात्ममहेश्वर से) व्यतिरिक्त और कोई स्तुति किये जाने या हवन में आहुति डाले जाने के योग्य देवता नहीं होता है, जिसकी स्तुति करने से उसको मानसिक संतोष प्राप्त होता, अतः वह इन नमस्कारों एवं वषट्कारों के बंधनों को काटकर जीवन्मुक्त बना होता है।

*(**संकेत** : श्रीयोगराज ने इस कारिका के तीसरे और चौथे चरणों का अर्थ वेदान्त दृष्टिकोण से लगाया है, नीचे योगराजीय व्याख्या में स्वयं स्पष्ट होगा।)*

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : स्तुत्यं किञ्चित् देवतारूपं, होतव्यं वा किञ्चित् अद्वय-बोधरूपस्य, न व्यतिरिक्तं भिन्नरूपं विद्यते, यत् स्तूयते हूयते वा–इति। न अपि 'कर्तव्यम्' इति एवंरूपतया च स्तोत्रादिना स आत्मज्ञः परितोषं याति–अभेद-बोध-संभोगेन हि नित्य-आनन्दमयत्वात् कृत्रिमम् आनन्दं न आद्रियते, तस्मात् निर्गतो नमस्कृति-वषट्केभ्यो यः स एव मुक्तो-वेदान्तेषु एवं स्तुतः, इति।

अनुवाद : 'स्तुत्यं' शब्द से स्तुति किये जाने के योग्य, और 'होतव्यं' शब्द से यज्ञ में आहुति डालने से अभिमुख बनाए जाने के योग्य देवता का अभिप्राय ध्वनित होता है। निपट आत्मबोध के रूपवाले ज्ञानीजन के लिए स्वरूप से अतिरिक्त या भिन्न किसी (देवता इत्यादि) पदार्थ का सद्भाव ही नहीं होता है, जिसके लिए स्तुतिपाठ या हवन का आयोजन किया जाए। साथ ही वह आत्मज्ञानी पुरुष आवश्यक कर्तव्य की भावना से भी स्तुतिपाठ इत्यादि अनुष्ठानों का पालन करने से संतुष्ट नहीं होता है–क्योंकि वह अद्वैतबोध का रसपान करने से नित्य आनन्दमय होने के कारण इन थोथे आनन्द कणों का आदर नहीं करता है। अत: वेदान्त-दर्शन की मान्यता के अनुसार जो (वीर) पुरुष नमस्कारों और वषट्कारों को लांघ चुका हो, वही 'मुक्त' कहलाता है।

कारिका–७४

उपक्रमणिका : 'न च तस्य भिन्नेन देवगृहेण उपयोगः, स्वशरीरम् एव आत्मदेवता-अधिष्ठानं संवित्-आश्रयो वा न अन्यः कश्चित्–इति नो भिन्नं देवगृहम् अस्य'–इति आह–

अनुवाद : 'उस ज्ञानी के लिए किसी अलग-थलग देवमन्दिर की भी कोई उपयोगिता नहीं होती है। उसकी अपनी काया ही स्वात्मदेवता का अधिष्ठान या संवित् का आलय होती है, उससे भिन्न और कोई पूजास्थान नहीं होता है। इसी कारण उसको अपनी काया से भिन्न देवालय की आवश्यकता नहीं पड़ती है'–इस विषय में बतला रहा है–

मूलकारिका

षट्त्रिंशत्तत्त्वभृतं विग्रहरचनागवाक्षपरिपूर्णम्।
निजमन्यदथ शरीरं घटादि वा तस्य देवगृहम्॥

अन्वय/पदच्छेद : तस्य षट्त्रिंशत्-तत्त्व-भृतं विग्रह-रचना-गवाक्ष-परिपूर्ण निजं शरीरं अथ अन्यत् घट-आदि वा देवंगृहम् (भवति)।

अनुवाद : उस ज्ञानी का, छत्तीस तत्त्वों से पुष्टि पाने वाला और कायिक बनावट के अनुरूप (इन्द्रियरूपी) झरोखों से भरित अपना शरीर, अथवा शरीर से इतर कलश इत्यादि, देवालय के प्रयोजन को संपन्न कर लेता है।

संकेत : *जीवात्मा का अधिष्ठान बने हुए दो प्रकार के शरीर होते हैं : १- भूत शरीर और भाव शरीर। भूत शरीर से स्थूल पाञ्चभौतिक काया का अभिप्राय है जिसमें आत्मा मृत्युक्षण तक अधिष्ठित रहता है। भावशरीर से किसी भी शब्द आदि विषय एवं घट आदि पदार्थ का अभिप्राय है जिसका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करते समय, वास्तव में, आत्मा उसमें अनुप्रवेश करके उसको भी अपना शरीर बना लेता है। किसी भी पदार्थ का ग्रहण करते समय यदि आत्मा उसमें अनुप्रवेश (प्रतिबिम्ब रूप में) न करे तो उसका ग्रहण ही नहीं हो सकेगा। इसी कारण से कारिका में यह उपदेश दिया गया है कि ज्ञानी को कल से इत्यादि में भी आत्मविभूति का साक्षात्कार होता रहता है इसलिए उसको देवालय इत्यादि की आवश्यकता नहीं पड़ती है।*

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : तस्य ज्ञानिनो निजः परकीयो वा देह एव देवतावेश्म-स्वात्मदेवतायाः भोग्य-आधारत्वात्। बाह्यः तु मेरु-आदि-प्रासादः तदा देवगृहीभवति यदा गुरुणा शरीरव्याप्त्या षट्त्रिंशत्-तत्त्व-कलन-रूपया परिकल्पितः स्यात्। तद्गतो बाह्यः अपि देवः स्व-आत्म-व्यप्त्या चित्-घनत्वेन परिगृहीतः चेत् तदा स अपि तत्र देवो भवेत्, अन्यथा उभयम् एतत् जडं शिला-शकल-कल्पम् एव कथं भक्तान् उद्धरेत्, मृतान सामीप्य आदि वा नयेत्? इति एवं मुख्यया वृत्त्या शरीरं संवित्-आश्रयत्वात् देवगृहम्, तद्गतः सर्वेषाम् अपि स्व-आत्मा देवः –इति देह एव संप्रबुद्धस्य देव-गृहम्।

अनुवाद : उस ज्ञानी का अपना अथवा और किसी प्रमाता का

शरीर ही देवमन्दिर होता है –क्योंकि शरीर स्वात्मदेव के भोग्य विषयों का उपभोग करने का आधार होता है। (पाञ्च-भौतिक शरीर से इतर) कोई बाहरी सुमेरु पर्वत इत्यादि अथवा कोई भव्य मंदिर केवल उसी सूरत में 'देवगृह' के रूप में मान्यता प्राप्त कर लेता है, जब किसी सिद्धगुरु महाराज ने (आत्मभाव से उसमें अनुप्रवेश करके) छत्तीस तत्त्वों की संरचना के रूपवाले भावशरीर की व्याप्ति के द्वारा उसको प्रतिष्ठित किया हो। (तात्पर्य यह कि उसको आत्मविमर्श के द्वारा अपने भावशरीर के रूप में परिकल्पित किया हो।) मंदिर इत्यादि में प्रतिष्ठित कोई बाहरी (गणेश जी इत्यादि की) देवप्रतिमा भी यदि चित्-घन परमेश्वर के रूप में विमर्श का विषय बनाई गई हो (किसी सिद्ध पुरुष के द्वारा), तो उसी सूरत में उसमें देवत्व अनुस्यूत हो जाता है, नहीं तो ये दोंनों अर्थात् मेरु-मन्दिर और वहां प्रतिष्ठित देवमूर्ति पाषाण-खंडों के समान होने के कारण किस प्रकार (जीवित) भक्तजनों का उद्धार कर सकते हैं, अथवा मृत आत्माओं को सायुज्य मुक्ति इत्यादि की ओर अग्रसर बना सकते हैं? (कारिका के) वाच्यार्थ (अभिधा-वृति) से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संवित् (सर्वव्यापिका चित्-शक्ति) का आश्रय होने के कारण शरीर ही देवमंदिर और हरेक प्राणी की काया में प्रतिष्ठित आत्मा ही स्वात्ममहेश्वर देव है। इसी कारण संप्रबुद्ध-प्रमाता के लिए अपना शरीर ही देवालय (आत्मदेव की अर्चना का मंदिर) होता है।

मूलग्रन्थ : कीदृशं तत्?– इति आह 'षट्त्रिंशत्तत्त्व' इति– बाह्यं षट्त्रिंशत्-तत्त्व-व्याप्त्या परिकल्प्यते, परं देह-देवगृहं पुन साक्षात् षट्त्रिंशता तत्त्वैः भृतं पोषितम्। बाह्य-देवगृहे गवाक्ष रचना भवति, इदं तु 'विग्रह रचना गवाक्ष-परिपूर्णम्' इति। विग्रहे शरीरे रचना इन्द्रिय-द्वार-परिपाटिः, सा एव तमोरि-कल्पना तया परिपूर्णम् अक्षुण्णम्–इति बाह्य–देवगृह-सदृशम्।

अनुवाद : वह (देहरूपी देवगृह) कैसा होता है? इसकी समीक्षा करते हुए 'षट्त्रिंशत्तत्त्व'- इत्यादि कारिकाभाग प्रस्तुत कर देता है। तात्पर्य इस प्रकार है–

बाहरी मंदिर इत्यादि को देवगृह इस आधार पर परिकल्पित किया जाता है कि उसमें भी (भौतिक काया की भांति) छत्तीस तत्त्वों की व्यापकता होती है। इसके प्रतिकूल (भौतिक) शरीररूपी देवगृह साक्षात्

रूप में छत्तीस तत्त्वों से पुष्टि पाता है। बाहरी देवगृह झरोखों की रचना से सुसज्जित होता है, लेकिन यह (शरीर रूपी देवगृह) इन्द्रियों के द्वाररूपी मोखों से परिपूर्ण होता है। फलत: शरीररूपी देवालय भी इन्द्रिय- मार्गों के श्रेणीबद्ध झरोखों की परिकल्पना से भरित होने के कारण बाहरी देवालय के समान होता है।

मूलग्रन्थ : **न केवलं 'शरीरं संविद आश्रय:'– इति कृत्वा देवगृहं, यावत् यत् किञ्चित् वा संवित्-अधिष्ठितं तत् सर्वं तस्य देवगृहम्–इति आह 'घटादि वा'– इति। घट-आदि-उपलक्षितं विषय-पञ्चकम् इदं भोग्यरूपं चक्षु: आदि-द्वारेण संविदा-अधिष्ठितम्-**

'भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थित:'

(स्पं० का० ३/२)

इति स्पन्द-शास्त्र-उपदेश-दृशा संविन्मयम् एव।

अनुवाद : 'पञ्चभौतिक शरीर संवित्-शक्ति की टिकान होता है'–केवल इतने से ही उसको देवमंदिर नहीं माना जाता है, क्योंकि जो कोई भी पदार्थ संवित् के द्वारा आश्रित हो वह उस ज्ञानी के लिए देवमंदिर होता है'– यह जताने के लिए (कारिका में) 'घटादि वा'– इस शब्द का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि यहां पर 'घट आदि'– इन शब्दों से शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध–इन पांच प्रमेय-विषयों के रूपवाले और इदं शब्द से वाच्य सारे भोग्य-विश्व का ग्रहण किया गया है। ये सारे प्रमेय-भाव आंख इत्यादि इन्द्रियों के द्वारों से अंदर प्रवेश पाकर संवित्मय ही बन जाते हैं जैसा कि निम्नलिखित स्पन्दशास्त्र के उपदेश की दृष्टि से स्पष्ट हो जाता है–

'प्रत्येक स्थान पर 'भोक्ता'–अर्थात् आत्म-संवित् ही 'भोग्य'– अर्थात् प्रमेय-भावों के रूप में विकसित होकर वर्तमान है'।

(स्प० का० ३/२)

मूलग्रन्थ : **ज्ञानिनो भूतशरीरवत् घटादि विश्वं भावशरीरम्– इति कृत्वा तत् अपि अभिन्नं स्वशरीरवत् देवगृहं देवस्य क्रीडावत: स्वतन्त्रयस्य स्वात्ममहेश्वरस्य गृहं भोग्य अधिष्ठानम्– इति।**

अनुवाद : ज्ञानी पुरुष के लिए पांच महाभूतों से बने हुए भूत-शरीर की भांति घट आदि भावों का विश्व भी भावशरीर बना होता है। इस दृष्टि से वह भी उसके लिए वैसा ही अपने से अभिन्न देवमंदिर होता है

जैसा उसका भूत शरीर। 'देवगृह'– इस शब्द से, 'देव'– अर्थात् स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा क्रीड़ाशील स्वात्ममहेश्वरदेवता के 'गृह'- अर्थात् (सुख, दु:ख) आदि भोगों का उपभोग करने के स्थान का अर्थ अभिव्यंजित होता है।

कारिका-७५

उपक्रमणिका : 'बाह्यदेवगृहे किल भक्त: पुष्प-आदि-आहरणपूर्वं देव-पूजा-परो दृष्ट:, देहदेवगृहे पुन: ज्ञानी किं कुर्वन् अधितिष्ठति?– इति आह–

अनुवाद : 'प्राय: देखा गया है कि भक्तजन किसी बाहरी देवमंदिर में जाकर पहले फूल इत्यादि पूजा की सामग्री एकत्रित करता है और उसके उपरान्त पूजा-अर्चना करने में व्यस्त हो जाता है'–परन्तु ज्ञानी जन शरीररूपी देवमंदिर में बैठकर क्या करता रहता है?'–इसकी समीक्षा कर रहा है–

मूलकारिका

तत्र च परमात्ममहाभैरवशिवदेवतां स्वशक्तियुताम्।
आत्मामर्शनविमलद्रव्यै: परिपूजयन्नास्ते।।

अन्वय/पदच्छेद : तत्र च आत्म-आमर्शन-विमल-द्रव्यै: स्व-शक्ति-युतां परमात्म-महाभैरव-शिव-देवतां परिपूजयन् आस्ते।

अनुवाद : (ज्ञानीजन) भी वहां (शरीर रूपी देवमंदिर में) आत्मविमर्श के द्वारा अति निर्मल बनाए हुए (शब्द, स्पर्श इत्यादि पांच) उपचारों से, सारी करणशक्तियों की मूल संचालिका स्वातन्त्र्यशक्ति के समेत, परमात्मा महान भैरव शिवदेव की अर्चना करने में व्यस्त रहता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : तस्मिन् स्वदेह-देवगृहे प्रकृष्टयोगी, परम: सर्व-अतिशायी य: चैतन्यलक्षण: आत्मा स एव नि:शेष-शब्द-आदि-विषय-उपभोग-विलायन-प्रगल्भत्वात् भैरव: भरण-रवण-वमन-स्वभाव:, स एव शिवदेवता प्रकृष्ट-श्रेयो-रूपो देव:, तां परिपूजयन् आस्ते अनवरतं वक्ष्यमाणेन क्रमेण तां तर्पयन् परिस्फुरेत्।

अनुवाद : वह उच्चतम भूमिका पर पहुंचा हुआ योगी उस अपने शरीर रूपी देवमंदिर में, सब से अतिशयशाली 'चैतन्य' (अविराम-चलते रहने वाले ज्ञान-क्रियामय स्पन्दन) से लक्षित 'आत्मा'-अर्थात् स्वात्महेश्वर, जो (बहिर्मुख अवस्था में) शब्द आदि पांच विषयों का उपभोग करने, और (अंतर्मुख अवस्था में) उन्ही पांच विषयों को स्वरूप में ही विलयन करने की अदम्य क्षमता से भरित होने के कारण, 'भरण'-हरेक जड़-चेतन भाव को पुष्टि देने, 'रवण'- स्वयं-सिद्ध सर्वभावमय अभेदविमर्श में मग्न रहने और 'वमन'- स्वरूप का ही बहिरंग विश्वरूप में प्रसार एवं अंतरंग चिदाकाश में संहार करने का स्वभाव बना हुआ 'भैरव'–अर्थात् अलोकसामान्य श्रेयस् (अनुग्रहशक्ति) के आकारवाला और निरन्तर रूप में (सृष्टि इत्यादि पांच माहेश्वर कृत्यों की क्रीड़ा करनेवाला साक्षात् शिवदेव है, की पूजा-अर्चना करने में व्यस्त रहता है। पूजा करते रहने का तात्पर्य यह कि आगे समझाए जानेवाले ढंग के अनुसार उसी स्वात्मदेव को संतुष्ट करता हुआ अंत:स्पन्दन की दशा में निमग्न रहता है।

मूलग्रन्थ : (शंका) ननु बाह्यदेवता परिवारयुता भवति, एतां किं परिवारयुतां समर्चयेत्? –इति आह 'स्वशक्तियुताम्', इति–

स्वाः चैतन्यरश्मिरूपाः चित्, निर्वृति, इच्छा, ज्ञान, क्रिया-शक्तीनां विभवात्मिका चक्षुः-आदि-करणशक्तयः ताभिः युतां समन्तात् आवृताम्।

अनुवाद : (शंका) पूछना यह है कि बाहरी मंदिर इत्यादि में प्रतिष्ठित किसी भी देवता के साथ अपना एक परिवार होता है, (योगी) इस आत्मदेव को किस परिवार के साथ अर्चना करता रहता है?–इसका समाधान 'स्वशक्तियुताम्' इन शब्दों से कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

(वह योगी) अपने ही चित्-भाव की किरणमाला के आकार वाली चित्, निर्वृति, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया इन पांच परमेश्वरशक्तियों का 'विभवस्थान' –अर्थात् बहिरंग प्रसार बनी हुई और नेत्र इत्यादि इन्द्रियों को संचालित करनेवाली पांच करणशक्तियों (श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, आस्वादन और जिघ्रण) के परिवार के द्वारा घेरे हुए आत्ममहेश्वर की अर्चना करता रहता है)

मूलग्रन्थ : कैः परिपूजयन् आस्ते,–इति आह 'आत्मामर्शन'–इत्यादि 'स्वात्मा एव इदं सर्वम्'–इति यत् आमर्शनं सर्व-पदार्थानां संवित्-रूपतया

पूर्ण-अहन्ता-विश्रान्ति-लक्षणो यः परामर्शः तेन द्वैत-कालुष्य-कलङ्क-परिक्षयात् विमलानि यानि शब्द-आदि-विषय-पञ्चक-रूपाणि पूजार्थं द्रव्याणि जाड्य-अपगमेन विशुद्धानि, तैः आत्म-आमर्शन-विमल-द्रव्यैः-इति।

अनुवाद : (शंका) किन उपचारों से अर्चना करता रहता है? इस परिप्रेक्ष्य में 'आत्मामर्शन'-इत्यादि कारिकांश प्रस्तुत कर रहा है। भाव इस प्रकार है-

'यह समूचा इदं-भाव मेरा आत्मरूप ही है'-ज्ञानीजन के अंत:विमर्श का यही रूप होता है जिसके बल से वह सारे (जड़-चेतन) पदार्थों का (विशुद्ध) संवित्-रूप में ही अनुभव करता रहता है। तात्पर्य यह कि उसके परामर्श की पहचान ही यही होती है कि वह हरेक पदार्थ का विलयन (प्रथमाभासिक साक्षात्कार क्षण पर ही) पूर्ण अहंभाव में कर लेता है। उसके ऐसे ही परामर्श के बल से द्वैतभाव की कालिख का कलंक मिट जाने के कारण शब्द आदि पांच प्रमेयविषयों के रूपवाले आत्मपूजन के अर्चनाद्रव्यों की जड़ता पूर्णतया मिट जाती है और वे 'विशुद्ध'-अर्थात् निर्मल संवित्-रूप ही बन जाते हैं। आत्मविमर्श के द्वारा स्वच्छातिस्वच्छ बनाए गए उन्हीं अर्चना के उपचारों से (वह आत्ममहेश्वर की अर्चना करता रहता है।)

मूलग्रन्थ : अयम् आशयः-

ज्ञानी हेय-उपादेय-भेद-कलङ्क-परित्यागेन अयत्न-उपनतं शब्द-आदि-विषय-पञ्चकं श्रोत-आदि-करणदेवीभिः समाहृत्य अंतः चमत्कुर्वन् स्वात्मना अभेदम् आपादयति-इति। एवम् अनवरतं प्रति-विषय-स्वीकार-काले यः अंतः अभेदेन चमत्कारः पूर्ण-अहन्ता-स्फुरणम् एतत् एव स्वात्मदेवता-पूजनम् अत एव शब्दादयो विषयाः पूजा-उपकरणम् इति अवधानवता विषयग्रहणकाले प्रतिक्षणं स्वात्मदेवता-पूजकेन भाव्यम्-इति रहस्यविदः।

अनुवाद : सारांश इस प्रकार है-

(इस आंतरिक परापूजा के) रहस्य से परिचित गुरुवर्यों की मान्यता यह है कि ज्ञानी-जन (साधना के पथ पर आगे बढ़ता हुआ) किसी विषय का त्याग करने (द्वेषवृति) अथवा किसी विषय को अपनाने (रागवृत्ति) के भेदभाव के कलंक को मिटाने के फल-स्वरूप, प्रयत्न करने के बिना स्वाभाविक रूप में पास आते हुए शब्द आदि पांच विषयों

को, कान इत्यादि पांच करणदेवियों (योगियों की शक्तिरूप इन्द्रियां) के द्वारों से संगृहीत करके, अंतस् में रसमय बनाता हुआ, निज आत्मभाव के साथ समरस बना देता है। निरंतर रूप में इसी अभ्यासक्रम पर कटिबद्ध रहकर, प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न विषयों का ग्रहण करने की वेलाओं पर, अपने ही अंतस् में जो अभेद-चमत्कारिता (योगियों के द्वारा गम्य आत्मिक आनन्दमयता) की, अथवा यों कहिए परिपूर्ण अहंभाव के स्पन्दन की अनुभूति (योगी को हो जाती) है, उसी को स्वात्ममहेश्वरदेव की पूजा कहते हैं। यही कारण है कि ऐसी (आंतरिक) परापूजा में शब्द आदि पांच प्रमेय-विषयों को ही अर्चना के द्रव्य माना जाता है। अतः आध्यात्मिक सावधानता से युक्त योगी को क्षण क्षण विषयों का ग्रहण करने के वेलाओं पर, पूरे मनोयोग से, इसी क्रम के अनुसार स्वात्मदेव की अर्चना करते रहना चाहिए।

मूलग्रन्थ : एतत् एव स्तुतिद्वारेण राजानकरामो दृब्धवान्-
'नित्योद्दामसमुद्यमाहृतजगत्भावोपहारार्पण-
व्यग्राभिस्तव तैजसी-प्रभृतिभिर्यच्छक्तिभिस्तर्प्यते।
तन्मांसास्रवसास्थिकूटकलिले काये श्मशानालये
रूपं दर्शय भैरवं भवनिशासंचारवीरस्य मे॥'

(उद्धरणपद्य का अन्वय/पदच्छेदः (हे देव!) भव-निशा-संचार-वीरस्य मे, मांस, अस्र, वसा, अस्थि, कूट, कलिले श्मशान-आलये काये तत् भैरवं रूपं दर्शय, यत् उद्दाम-समुद्यम-आहृत-जगत्-भाव-उपहार-अपर्ण-व्यग्राभिः तव तैजसी-प्रभृतिभिः शक्तिभिः नित्यं तर्प्यते)

अनुवाद : इसी भाव को राजानक राम ने स्तुतिपाठ के रूप में पद्यबद्ध करके प्रस्तुत किया है-

''(हे देव!) संसार रूपी अंधरात्रि में संचार करते रहने की वीरता से भरे हुए मुझको, मांस, आंसू, रक्त, वसा/चरबी, हड्डियां, खोपड़ी इत्यादि से भरा हुआ होने के कारण श्मशान जैसा दिखाई देने वाले शरीर के मध्य में ही उस अपने परभैरवीय रूप का साक्षात्कार करवा दीजिए, जिसको अति कष्टसाध्य (भैरवीय) उद्यम के द्वारा एकत्रित की गई, विश्वभर के पदार्थ रूपी भेंटों को अपर्ण करने पर लगी हुई, आपकी अपनी ही तैजसी इत्यादि शक्तियां नित्य तृप्ति प्रदान करती रहती हैं।

कारिका–७६

उपक्रमणिका : 'पूजा-अन्ते तावत् अग्निहवनेन भाव्यम्' –इति ज्ञानिनः कथं तत्'? –इति आह–

अनुवाद : पूजा समाप्त हो जाने पर अग्निहोत्र भी किया जाना चाहिए, परन्तु ज्ञानी के द्वारा यह विधान कैसे संपन्न किया जा सकता है? –इस अभिप्राय से कहता है–

मूलकारिका

बहिरन्तरपरिकल्पनभेदमहाबीजनिचयमर्पयतः।
तस्यातिदीप्रसंविज्जवलने यत्नाद्विना भवति होमः॥

अन्वय/पदच्छेद : अतिदीप्त-संवित्-ज्वलने बहिः अन्तः परिकल्पन-भेद-महा-बीज-निचयम् अर्पयतः तस्य यत्नात् विना होमः भवति।

अनुवाद : प्रचंडता से धधकती हुई संवित्-रूपी आग में, बाहरी इन्द्रियों से ज्ञेय घट, पट आदि, एवं अंतःकरणों से अनुभूयमान सुख दुःख आदि प्रमेयविषयों के काल्पनिक भेदभावरूपी महान (संसार) बीजों के अटाले की आहुति डालने वाले उस स्वात्मदेव के पुजारी का अग्निहोत्र, (तिल, घी इत्यादि हवन सामग्री जुटाने का) प्रयत्न करने के बिना स्वयं ही पूरा हो जाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : तस्य एवंविधस्य स्वात्मदेवतापूजकस्य अतिदीप्ते पर-अहन्ता-चमत्कार-भास्वरे चैतन्य-अग्नौ यत्नात् विना तिल-आज्य-इन्धन-आदि-स्वीकार-कदर्थनाया ऋते होमो वह्नितर्पणं संपद्यते।

अनुवाद : उस ऐसी उच्चभूमिका पर पहुंचे हुए स्वात्मदेव के पुजारी के अग्निहोत्र का विधान तिल, घी, इंधन इत्यादि प्रकार के पुजापे को इकट्ठा करने की ज़हमत उठाने के बिना, 'अतिप्रचंड'–अर्थात् पर-अहंभाव की आनन्दमयता से भड़कीले चित्-अग्नि में स्वयं ही सिद्ध हो जाता है।

मूलग्रन्थ : किं कुर्वतः, –इति आह 'बहिरन्तर' -इत्यादि– बहिः नीलादौ प्रमेये यत् स्वपरप्रमातृकल्पनम्, अंतः-ग्राह्ये सुखादौ च यत् संकल्पनम्, –इति एवंरूपो यो भेदः बाह्य-अबाह्ययोः प्रमातृ-प्रमेययोः निश्चय-संकल्पन-

अभिमान-वृत्ति-स्वभावं नानात्वम् एतत् एव महाबीजं प्रमातृ-प्रमेययोः ततः समुत्पत्तेः, तस्य कल्पनारूपस्य भेद बीजभूतस्य निचयो भेदस्य आनन्त्यात् राशिः, तम् अर्पयतः परम-अद्वय-दृष्ट्या अविकल्पक- संवित्-रूप-अनुप्रवेशेन स्वात्मवह्नौ जुह्वतः– इति।

अनुवाद : कौन सी क्रिया करते करते (होम पूरा हो जाता है)? इस अभिप्राय से 'बहिरन्तर' इत्यादि कारिकाभाग प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

'बाहर' अर्थात् बाहरी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा साक्षात्कार किए जाने वाले नील आदि (घट, पट आदि) प्रमेय पदार्थों के विषय में जो अपने या पराए प्रमाता के साथ संबन्धित होने की परिकल्पनाएँ हैं, और अंतः-करणों के द्वारा अनुभव किए जानेवाले सुख आदि प्रमेयविषयों के बारे में जो (सुख, दुःख, हर्ष, क्रोध इत्यादि प्रकार के) मानसिक संकल्प हैं, वे ही अंतस् में भेदभाव उपजाते हैं। भेद से नानाता का अभिप्राय है– उदाहरणार्थ–

शरीर से बाहरी या भीतरी (नील एवं सुखरूपी पदार्थभेद, प्रमाता एवं प्रमेय में (चेतना एवं जड़तारूपी) भेद प्रमेयपदार्थों के विषय में निश्चयज्ञान, संकल्पन एवं अभिमान वृत्तियों में स्वभावभेद इत्यादि। यह भेदभाव का अटाला ही प्रमातृभाव और प्रमेयभाव की कल्पना को उपजाने के कारण (संसारभाव का) महान बीजनिचय माना गया है जो कि केवल 'परिकल्पित' अर्थात् असत् है। इसी बीजनिचय का सर्मपण करनेवाले अर्थात् विकल्पहीन संवित्-रूप में घुसेड़कर आत्मभावरूपी अग्नि में होम करनेवाले ज्ञानी-जन का (अग्निहोत्र स्वयं पूरा हो जाता है)

मूलग्रन्थ : अयम् आशयः–

परब्रह्मात्मकस्य योगिनो देह-आदि-प्रमातृता-अभिमान-अभावत् यः स्वरस-सिद्धः स्व-पर-प्रमातृ-प्रमेय-कलन-परिक्षयः स एव अकृत्रिमो होमः। यथा आह भट्टश्रीवीरवामनकः–

'यत्रेन्धनं द्वैतवनं मृत्युरेव महापशुः।
अलौकिकेन यज्ञेन तेन नित्यं यजामहे॥' इति।

अनुवाद : सारे कथन का सारांश इस प्रकार है–परब्रह्मस्वरूप के साथ एकाकार बने हुए योगी के अंतस् में शरीर इत्यादि जड़ पदार्थों

पर निजी प्रमातृभाव का अभिमान नाम के लिए भी नहीं होता है। इसलिए उसमें अपने या पराये के साथ संबन्धित प्रमातृभाव या प्रमेयभाव के संकोच भी नष्ट हुए होते हैं। यही उसका अकृत्रिम अग्निहोत्र माना जाता है, जैसा कि भट्टश्रीवीरवामनक ने कहा है–

"(हे देव!) जिसमें द्वैतभाव का जंगल ही ईंधन-संभार की तरह जल रहा है, और जिसमें मृत्युरूपी पशु का मेध किया जा रहा है, हम उसी लोकोत्तर यज्ञ के द्वारा नित आपका यजन कर रहे हैं।"

संकेत *: भट्टश्रीवीरवामनक के द्वारा वर्णित इस आध्यात्मिक यज्ञ को शैवपरिभाषा में विश्वमेध कहा जाता है। इसमें भेदभाव से भरा हुआ सारा विश्वप्रपंच ही आत्म-अग्नि में आहुति के रूप में डाल कर देव (आत्मदेव) को ही समर्पित किया जाता है। निम्नलिखित पद्य को दृष्टि में रखें–*

'सर्वभावमयभावमण्डलं विश्वशक्तिशक्तिमय शक्तिबर्हिषि।
जुह्वतो मम समोऽस्ति कोऽपरो विश्वमेधमययज्ञयाजिनः॥'

तात्पर्य *: 'स्' रूप विश्वकल्पना की आहुति 'औ' रूप शक्तिभाव में, फिर दोनों का विलयनं': 'रूप विसर्गकला में-यही है परमाद्वैतरूपी अमृतबीज का स्वरूप।*

कारिका–७७

उपक्रमणिका: एवंरूपस्य याजकस्य ध्यानम् आह–

अनुवाद : ऐसा (आध्यात्मिक) यज्ञ करनेवाले साधक के ध्यान का स्वरूप वर्णन कर रहा है–

मूलकारिका

ध्यानमनस्तमितं पुनरेष हि भगवान् विचित्ररूपाणि।
सृजति तदेव ध्यानं सङ्कल्पालिखितसत्यरूपत्वम्॥

अन्वय/पदच्छेद : एष भगवान् पुनः विचित्ररूपाणि सृजति तत् (अस्य) अनस्तमितं ध्यानम् (उच्यते), हि सङ्कल्प-आलिखित-सत्य-रूपत्वं एव ध्यानं (भवति)।

अनुवाद : साक्षात् भगवत्-स्वरूप बना हुआ यह (योगीजन) (अपने बुद्धिदर्पण में) विश्व में दिखाई देने वाले अद्भुत रूपों को निरंतरता

से अवभासित करता रहता है, वही उसका कभी अस्त न होने वाला ध्यान कहा जाता है, निश्चय-रूप से इस (अनस्तमित) ध्यान की पारमार्थिक निर्विकल्पमयी स्थिति योगिसंकल्प के द्वारा संवित्-दर्पण में अंकित की गई होती है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : नियत-आकार-चिन्तितस्य आकारस्य अन्यत्र मनोवृत्तेः गमनात् क्षय अस्ति। इदं पुनः 'अनस्तमितं ध्यानं' यस्मात् एष भगवान् अपि अनन्तः स्वात्मरूपो महेश्वरः क्रियाशक्ति-स्वभाव-विकल्प-स्वातन्त्र्येण यानि 'विचित्राणि रूपाणि सृजति' अनवरतं नाना-पदार्थान् विकल्परूपान् आकारन् बुद्धि-दर्पणो समुल्लिखति, तदेव अस्त-उदय-वर्जितम् एतस्य ध्यानं चिन्तनं, न अत अन्यत् किञ्चित्।

अनुवाद : नियत (एक ही प्रकार का, न बदलने वाला) रूप वाले ध्येयविषय को चिंतन का विषय बनाए जाने पर, (स्वभावतः चल) मनोवृत्ति के (उस ध्येय आकार से हटकर) दूसरी दिशा में सरक जाने के तत्काल वह ध्येय आकार लुप्त हो जाता है (अर्थात् सहसा ध्यान भंग हो जाता है)

परन्तु यहां पर वर्णित (उत्कृष्ट शैवयोगी का) ध्यान 'अनस्तमित ध्यान'–अर्थात् किसी भी मानसिक परिस्थिति में न टूटने वाला ध्यान माना जाता है। कारण यह कि भगवत्-भाव की कक्षा पर पहुंचा हुआ यह उत्कृष्ट शैवयोगी अर्थात् योगिकाया में विराजमान अंतहीन विस्तारवाला स्वात्ममहेश्वर-देव ध्यानावस्था में (परमेश्वरकी ही भान्ति स्वयं सिद्ध) क्रियाशक्तिमय स्वभाव एवं स्वतंत्र योगिसंकल्प की (अनिर्वचनीय आत्मिक) क्षमता के द्वारा, निरंतर रूप में, (विश्व में दिखाई देने वाले) 'विचित्र रूपों की'–अर्थात् नाना प्रकार के (योगिसंकल्पमय) पदार्थों की, अथवा यों कहिए मनोराज में उभरने वाले अतिमुग्धकारी आकारों की (स्वेच्छा से) सृष्टि करता रहता है। सृष्टि करने का अभिप्राय यह कि 'बुद्धिदर्पण में' अर्थात् योगिसंवित् में उनका प्रतिबिंबन (अंकन) करता रहता है। वही इसका अस्त एवं उदय से रहित ध्यान माना जाता है और इससे अतिरिक्त और कोई ध्यान नहीं होता है।

मूलग्रन्थ : इतरत्र तु देवता विशेषे नाना-वक्त्र-आङ्ग-परिकल्पनया नैयत्यं स्यात्।

'सर्वो मनोव्यापार: पराशक्ति-स्फार-पल्लव-भूत:'–इति जानानस्य अनवच्छिन्नम् इदं सर्वं परमेश्वरीभूतम्।

तथा सङ्कल्पेन मनसा आलिखितं संवित्-भित्तौ चित्रीकृतं सत्यरूपत्वं परमार्थता यस्य ध्यानस्य तत्।

एवं यत: सर्वम् इदं प्रकाशमानं विकल्प-उल्लिखिंत मनोव्यापार रूपम् अपि प्रकाश-अनतिरिक्तं सत्यं, सर्वत्र संवित्-अनुगमात् –इति। तत् उक्तं श्रीमत्स्वच्छन्दशास्त्रे–

'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्रैव धारयेत्।
चलित्वा कुत्र गन्तास्ति सर्वं शिवमयं यत: ॥'

इति। तथा शैवोपनिषदि–

'यत्र यत्र मनोयाति बाह्ये वाभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति? ॥'

इति, तस्मात् स्व-रस-उदितम् एतत् योगिनो ध्यानम्–इति।

अनुवाद : (स्वात्ममहेश्वर से) इतर किसी 'विशेष'–अर्थात् कपोल-कल्पना के द्वारा किसी खास नामरूप के साथ जोड़े हुए, देवता को ध्यान का विषय बनाये जाने पर, नाना प्रकार के मुखों एवं अंगों की परिकल्पनाओं के द्वारा वह ध्यान नियमित हो जाने की संभावना रहती है।

इसके प्रतिकूल जिस व्यक्ति को इस बात का पूरा ज्ञान हो कि–'समूचा मानसिक व्यापार पराशक्ति के अनन्त विस्तार की ही एक कोंपल है',–उसकी सारी ध्यानावस्था परमेश्वर स्वरूपमयी और (विशेष नाम-रूप आदि के) अवच्छेदों से रहित होती है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ध्यान की 'सत्यरूपता'–अर्थात् पारमार्थिक निर्विकल्पमयी (प्रथमामासिक) स्थिति, 'संकल्प'–अर्थात् योगिसंकल्प के द्वारा, 'आलिखित'–अर्थात् संवित् के दर्पण में अतिविचित्र रूपों में अंकित की गई होती है।

इसी प्रकार चूंकि 'यह'–अर्थात् योगिवर्य के द्वारा ध्यान की अवस्था में सर्जित पदार्थ-वर्ग, योगी के मानसिक विकल्पों के ही रूपवाला होने पर भी (बाहरी रूप में) प्रकाशमान होता है, अत: यह भी चित्-प्रकाश से अतिरिक्त न होने के कारण 'सत्य'–अर्थात् पारमार्थिक

सत्य (परमार्थसत्) है क्योंकि संवित् की सहकारिता सार्वत्रिक है– तात्पर्य यह कि प्रमेय विश्व के सारे पदार्थ संवित्-मयी ज्ञानरूपता में ही ठहरे हुए हैं। यही भाव श्रीस्वच्छन्दशास्त्र में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है–

''मन जिस ओर भी भागता फिरता रहे उस ओर ही इसको शिवभाव पर ठहराना चाहिए, सारा प्रपञ्च शिवमय ही है, अतः यह (स्वभाव से ही) चलायमान होने पर भी (शिवभाव को छोड़) और कहां जा सकता है''?।

शिवोपनिषद् में भी इस प्रकार कहा गया है–

''हे देवी! यह मन बाहरी इन्द्रियग्राह्य अथवा भीतरी अंतः-करणवेद्य विषयों की ओर जहां जहां भी भागने लगे वहां वहां शिवत्व की व्यापकता होने के कारण उससे बाहर और कहां भाग सकता है?''

अतः योगीजन का यह ध्यान निजी रसवत्ता से ही सदा-सर्वदा उदित अवस्था में ही वर्तमान रहने वाला होता है।

कारिका-७८

उपक्रमणिका : जपः च अस्य कीदृशः स्यात्? –इति आह–

अनुवाद : इस (उत्कृष्ट ज्ञानी/योगी) का जप कैसा होता होगा? इसका वर्णन करता है–

मूलकारिका

भुवनावलीं समस्तां तत्त्वक्रमकल्पनामथाक्षगणम्।
अन्तर्बोधे परिवर्तयति यत् सोऽस्य जप उदितः॥

अन्वय/पदच्छेदः (ज्ञानी) यत् अन्तःबोधे समस्तां भुवन-आवलीं, तत्त्व-क्रम-कल्पनाम् अथ अक्ष-गणं परिवर्तयति स अस्य जप उदितः।

अनुवाद : (ज्ञानी/योगीजन) आंतरिक चित्-विमर्श में जो सारे भुवनों की पंक्ति, (छत्तीस) तत्त्वों के क्रम की परिकल्पना और सारी इन्द्रियशक्तियों को (अक्षमाला के रुद्राक्षों की भांति) घुमाता रहता है अर्थात् उनको अखंड परामर्श करता रहता है, वही उसके जप का स्वरूप बताया गया है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : वक्ष्यमाणेन क्रमेण यो विश्वस्य प्रतिक्षणम् अभेदेन पर-अहन्ता-प्रत्यवमर्शः 'स अयम् अस्य जप उदितः', अकृत्रिमत्वेन कथितः।

अनुवाद : जो (सुप्रबुद्ध स्तर पर पहुंचा हुआ ज्ञानी/योगी) अभी समझाये जानेवाले क्रम के अनुसार, सारे विश्व-प्रपंच को आत्मभाव के साथ अभिन्न बनाकर प्रतिक्षण पर अहंभाव के रूप में विमर्श का विषय बनाता रहता है, वही उसका स्वभावसिद्ध जप कहा गया है।

मूलग्रन्थ : कः असौ? –इति आह–

भुवन-आवलीं समस्तां षट्त्रिंशत्-तत्त्व-समूह-अंतर्वर्तिनीं चत्वारिंशत्-उत्तर-शत-द्वय-संख्यातां प्राकार पङ्क्ति निःशेषां, तथा तत्त्व-क्रम-कल्पनाम् इति-तत्त्वक्रमस्य आत्मविद्या-शिव-आख्यस्य परिकल्पनां परिच्छेदम्, अथ अक्ष गणम् इति- अन्तः-बहिः-करण-रूपम् इन्द्रिय-समूहं च-इति अन्तः-बोधे मध्यम-प्राणशक्ति-अक्षसूत्र-भूतायां स्वसंवित्तौ, नाद-बिन्दु-प्रवाह-क्रमेण यत् परिवर्तयति अरघट्ट-घटी-यन्त्रवत् प्रति-प्राण-विक्षेप-सृष्टि-स्थिति-संहार-क्रमेण सर्वम् एतत् स्वसंवित्तौ परिभ्रामयति, प्रतिक्षणं नादात्मना परामृशति–इति यावत्।

अनुवाद : वह कौन सा जप है? -इस विषय में कहता है–

१- छत्तीस तत्त्वों के समूह में अंतर्गत दो सौ चालीस भुवनों की पंक्ति,

२- आत्मा, विद्या और शिव– इन शास्त्रीय संज्ञाओं के द्वारा सूचित तत्त्वक्रम की कल्पना, और–

३- 'अक्षगण'–अर्थात् बाहरी इन्द्रियों और अंत:करणों (करणशक्तियों) के वर्ग को–

'अंतर्बोध में'–अर्थात् मूलाधार से ब्रह्मरंध्र तक के ऊर्ध्वसंचार और ब्रह्मरंध्र से मूलाधार तक के अध:संचार की क्रियात्मकता को संपन्न करती हुई उदान प्राणशक्ति के रूपवाली अक्षमाला में सूत्र की तरह अनुस्यूत होकर वर्तमान रहती हुई संवित् में, (गुरुनिर्दिष्ट प्राणाभ्यासक्रम के अनुसार) जो, नादरूपता एवं बिन्दुरूपता को प्रवहमान बनाता हुआ, प्रतिक्षण (माला के मनकों की तरह) घुमाता रहता है, वही इस योगी का स्वाभाविक जप कहा गया है। (माला को घुमाते रहने का तात्पर्य यह कि)

जिस प्रकार कुएँ पर लगे हुए रहँट के साथ बंधी हुई छोटे-छोटे डिब्बों की माला, युगपत् ही, ऊर्ध्वसंचार एवं अधःसंचार करती हुई जल की अखंड धारा को ऊपर खींच लेती है, उसी प्रकार (प्राणाभ्यासी पुरुष) अपनी आंतरिक जपमाला को, उदान प्राणशक्ति के प्रत्येक (ऊर्ध्व एवं अधः) संचार के क्रम से, सृष्टि, स्थिति एवं संहार के तार पर 'घुमाता रहता है' अर्थात् नादरूपता में अंतःविमर्श का विषय बनाता रहता है। यही उसका, परिपूर्ण अंहभाव में विश्रान्ति प्राप्त करने के रूपवाला, स्वभावसिद्ध जप (कहा गया है)

मूलग्रन्थ : अयम् आशयः–

जपः किल वाच्यरूपाया देवताया वाचकस्य मन्त्रस्य उच्चारः, स च अक्षमालया प्राणशक्ति-व्याप्तिकया अक्ष-परिवर्तन-क्रमेण संख्येयः। परम-अद्वय-योगिनः तु स्वा प्राणशक्तिः तन्तुभूता मध्यमप्राणे प्रवाह-क्रमेण नदन्ती स्व-रस-उदिता सर्व-अक्ष-क्रोडीकारेण सहजा एव अक्षमाला उच्यते, यतः सर्वम् इदं वाच्यं षट्त्रिंशत्-तत्त्वात्मकं विश्वं प्राणशक्तौ एव प्रतिष्ठितं सत्, प्रति-प्राण-विक्षेपम् उदय-व्यय-क्रमेण परास्वभावा भगवती प्राणस्वरूपम् आश्रित्य विमृशन्ती प्रति-प्राण-स्पन्दम् अवधानवतो योगिनो जपम् अकृत्रिमं साधयति। अत्र जपसंख्या–

''एक विंशत्सहस्राणि षट्शतानि दिवानिशम्।
जपो देव्याः समुद्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः॥''
इति शैवोपनिषदि। शिवसूत्रेषु–
''कथा जपः'' (उ० ३ सू० २७)
इति। एवम् एष वन्द्यचरणानाम् अवधानवताम् एव गोचरः–इति।

अनुवाद : इस कथन का आशय इस प्रकार है–

(सर्वसाधारण जपविधान में) किसी मंत्र के द्वारा वाच्य देवता के उसी वाचक मंत्र का उच्चारण करने को जप करना कहते हैं। (ऐसे जप में) मंत्रजापों की संख्या का निर्धारण, प्राणशक्ति की व्यापकता (प्राणचार एवं अपानचार) के साथ नियमित जपमाला के मनकों के फेरों की गणना के क्रम से किया जाता है। परम-अद्वैत मार्ग का अनुसरण करने वाले योगी के परिप्रेक्ष्य में स्थिति भिन्न है। (अभ्यासक्रम में) जब उसकी निजी प्राणशक्ति (त्रपुसी लता के) तन्तु की तरह सूक्ष्म एवं समान प्राण का रूप धरकर मध्यनाड़ी में प्रवेश करके, उदान प्राण के रूप में सारी करणशक्तियों

को अपने में गर्भित करके, स्वरसता से नादरूप में ऊर्ध्वसंचार करने लगती है, तब उसको (योगी की) स्वाभाविक जपमाला की संज्ञा दी जाती है। चूँकि यह सारा इदं शब्द से वाच्य और छत्तीस तत्त्वात्मक विश्व प्राणशक्ति पर आधारित है, अतः स्वयं भगवती पराशक्ति प्राणरूपता को धारण करके, हरेक प्राणचार पर आरोह एवं अवरोह के क्रम के द्वारा, प्रत्येक प्राणीय स्पन्दन का विमर्श करती हुई (नादरूप में), सावधान योगी के स्वाभाविक जपविधान को संपन्न कर लेती है। इस परिप्रेक्ष्य में शैवोपनिषद् में वर्णित प्रकार के अनुसार जापों की संख्या इस प्रकार बनती है–

"एक अहोरात्र में छः सौ और इक्कीस हज़ार (अर्थात् कुल मिलाकर=२१६००) परा-भगवती का स्वाभाविक जप कहा गया है, यह (सावधान योगिजनों के लिए) सुलभ, परन्तु अज्ञानी लोगों के लिए दुलर्भ है।"

शिवसूत्रों में इस प्रकार कहा गया है–

"कथा जपः (योगी का) वार्तालाप भी जप ही चलता रहता है"

(शि० सू० उ० ३, सू० २७)

(शास्त्रों में) इस प्रकार से वर्णित (शैव) योगक्रम वंदनीय समाधिनिष्ठ व्यक्तियों को ही गम्य है।

*(**संकेत** : उल्लिखित योगक्रम आणव-उपाय क्रम के अंतर्गत है। लगभग सारे शैवशास्त्रों, विशेषकर श्रीपरात्रीशिका शास्त्र में इस योगक्रम को बहुधा सिद्धों की सूत्रात्मक भाषा में समझाया तो गया है, परन्तु सिद्ध-गुरु के उपदेश के बिना केवल किताबी लिखा-पढ़ी से बिल्कुल गम्य नहीं है। यह बात पाठकों को अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए)*

कारिकाएँ-७९, ८०

उपक्रमणिका : 'इदं व्रतम् अस्य'–इति आह–

अनुवाद : 'यह उसका (ज्ञानी/योगी का) व्रत होता है'–इस विषय की समीक्षा करता है–

मूलकारिका

सर्वं समयादृष्ट्या यत्पश्यति यच्च संविदं मनुते।
विश्वश्मशाननिरतां विग्रहखट्वाङ्ग कल्पनाकलिताम्॥

विश्वरसासवपूर्णं निजकरगं वेद्यखण्डककलालम्।
रसयति च यत् तदेतद् व्रतमस्य सुदुर्लभंच सुलभं च॥

अन्वय/पदच्छेद :

१- यत् सर्वं समया दृष्ट्या पश्यति,

२-यत् च संविदं विश्व-श्मशान-निरतां, विग्रह-खट्वाङ्ग-कल्पना-कलितां मनुते,

३- यत् च निज-कर-गं विश्व-रस-आसव-पूर्णं वेद्य-खण्डक-कपालं रसयति,

४- तत् एतत् अस्य व्रतं सुदुर्लभं च सुलभं (वर्तते)

अनुवाद : यह (निम्नलिखित सारा क्रिया-कलाप इसका अतिकष्ट-साध्य परन्तु अतिसुलभ व्रत होता है–

१- (हरेक पदार्थ को) समभाव की दृष्टि से देखता रहता है,

२- आत्मसंवित्ति को विश्वरूपी मसान में वास करने की रुचि से पूर्ण और अपनी काया पर खट्वांग की भावना रखती हुई मानता है, और

३- अपनी इन्द्रियरूपी हाथों में रखे हुए और शब्द आदि पांच प्रमेय विषयों के रूपवाली रसपूर्ण मदिरा से भरे हुए, प्रमेय-अंशों के खप्पर से रसपान (शैवपरिभाषा में वीरपान) करता रहता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : एवं यत् वक्ष्यमाणं एतत् एव अस्य ज्ञानिनो व्रतं स्वात्मदेवता-समाराधनाय नियमः। कीदृशम्? तत् आह 'सुदुर्लभं च सुलभं च'–इति–

सुष्टु कृत्वा, दुःखेन अख्यातिपरिक्षयात् अन्य-उपाय-परिहार-रूपेण परमेश्वर-अनुग्रहेण लभ्यते–इति, अतः सुदुर्लभं, तथा सुखेन बाह्य-अस्थि-भस्म-आदि-आभरण-आहार-नियम-आदि-स्वीकार-कदर्थनां च विना लभ्यते, इति अतः सुलभं च।

अनुवाद : इस संदर्भ में जो कुछ अभी आगे कहा जा रहा है वही इस (ज्ञानी) का 'व्रत'–अर्थात् स्वात्मदेवता की आराधना करने के लिए अपनाया जानेवाला नियम (उपवास आदि) है।

(शंका) यह कैसा व्रत है? -इसका समाधान करने के लिए

'सुदुर्लभं च सुलभं च' -इस कारिकाभाग को प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

१- बहुत दुर्लभ इसलिए कि अख्याति का मिटना अति कष्टसाध्य होने के कारण दूसरे अवर उपायों का अवलंब छोड़कर केवल परमेश्वर के शक्तिपातरूपी अतिदुर्लभ उपाय के द्वारा पाया जा सकता है।

२- सुलभ इसलिए कि 'सुखपूर्वक' –अर्थात् ढकोसले के लिए हड्डियों की मालाएँ पहनना, भस्म मलना, (कानों या अन्य अंगों में) कुंडल जैसे आभूषण पहनना, खान-पान के कपोलकल्पित नियमों को अपनाना-इत्यादि प्रकार की दुर्दशा को मोल लेने के बिना प्राप्त हो जाता है।

मूलग्रन्थ : 'किं तत् व्रतम्'? –इति आह 'सर्वम्' इत्यादि–

यत् सर्वम् इदं प्रातीतिकं भेद-अवभास-रूपं युक्ति-आगम-अनुभव-परिशीलनेन अभेददृशा 'सर्वम् इदम् एकः स्फुरामि'-इति समीक्षते। यथा श्रीमद्भगवद्गीतासु–

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥'

(गीता ६, २९)

इत्यादि। एवम् अभेद-बुद्धि-दार्ढ्यम् एव व्रतम्।

अनुवाद : वैसा कौन सा व्रत है?– समाधान के लिए 'सर्वम्' -इत्यादि कारिका भाग प्रस्तुत कर रहा है–

'(ज्ञानी-जन) तार्किक युक्तियों, आगमशास्त्रों के उपदेशों और निजी अनुभव का मनन करने के फलस्वरूप, परस्परभिन्न रूपों में अवभासमान और इदंप्रतीत से गम्य विश्वप्रपंच को –'मैं एकला इस सारे इदंभाव के रूप में स्पन्दायमान हूँ' –ऐसी अभेददृष्टि से देखता रहता है, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में–

'योग से युक्त आत्मावाला और सबों को समदृष्टि से देखने वाला ज्ञानीजन अपने आत्मा को सारे भूतों में व्यापक, और सारे भूतों को अपने आत्मा के रूप में देखता रहता है'।

(गीता ६, २९)

इत्यादि बहुत कुछ कहा गया है। ऐसी परिस्थिति के अनुसार अभेदबुद्धि की दृढ़ता ही उसका व्रत है।

मूलग्रन्थ : अन्यत् च यत् 'विश्वश्मशाननिरतां संविदं मनुते' तत् अपि व्रतम्। यथा–

विश्वं ग्राह्य-ग्राहक-स्वभावं घट-देह-आदि-जडलक्षण-पदार्थ-शव-शत-समाक्रान्तम्-इति कृत्वा तत् एव श्मशानं पितृवनम्, –यतः संवित् एका भगवती अजडा, अत अन्यत् तत्-उल्लासिंत सर्वम् इदं शवस्थानीयं जडं, अतो विश्वस्य श्मशानेन सादृश्यम्, तस्मिन् विश्व-श्मशाने निःशेषेण रतां संविदं समुत्पत्ति-निधनतया महाभीषणे मध्यवर्तिनीं मनुते अवबुध्यते।

व्रती किल श्मशाने वसति, अयं पुनः अलौकिको व्रती–'सर्वत्र अहम् एव एक-चित्-तत्त्व-परमार्थः' इति मत्वा जडैः पशुप्रमातृभिः, घटादिभिः प्रमेयैः च परेतस्थानीयैः सह उन्मत्तवत् क्रीडां कुर्वाणः संसारभुवम् इमां सर्वप्रमातृप्रमेयनिधनतया भीषणां श्मशान-स्वभावाम् अध्यास्ते।

अनुवाद : और जो वह निजी संवित् को विश्वरूपी श्मशान में रहने की रुचि से पूर्ण मानता है, वह भी उसका व्रत ही है। तात्पर्य इस प्रकार है–

यह सारा विश्व वास्तव में श्मशान ही है क्योंकि इसमें, स्वाभाविक रूप में, हर जगह शब्द आदि पांच विषयों, और उनका ग्रहण करने वाले(अनन्त प्रकार के) प्रमाताओं के अतिरिक्त घड़े, पाञ्चभौतिक शरीर इत्यादि प्रकार के जड़ पदार्थों के सैंकडों शव, प्रतिसमय, इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह विश्व बिल्कुल श्मशान ही है। मात्र संवित् भगवती ही इसमें चेतन सत्ता है। उससे इतर यह सारा, उसी के द्वारा विकास में लाया गया, इदंप्रपंच मुर्दा लाश की तरह संज्ञाहीन (जड़) है। इसी कारण से (प्रस्तुत प्रसंग में) श्मशान के साथ विश्व की समानता की गई है। वह ज्ञानीजन भगवती संवत् को, उसी उत्पत्तियों और मरणों से अतिभयानक लगनेवाले विश्वरूपी श्मशान में पूरी उमंग के साथ विचरण करनेवाली समझता रहता है।

आम व्रतचारी, निश्चित रूप से, किसी श्मशान पर जाकर वास करने लगता है। परन्तु यह लोकोत्तर व्रतचारी–'एकल चित्-तत्त्व के परमार्थवाला 'मैं'-अर्थात् अहंरूप आत्मभाव सर्वत्र व्यापक हूँ' –इस धारणा को लेकर, इन जड़ पशुप्रमाताओं और घट, पट इत्यादि जड़ प्रमेय-पदार्थों के ढेरों के ढेर शवों के साथ, अपनी मस्ती में, खिलवाड़ करता हुआ, सारे प्रमाताओं और प्रमेयों को लीलती रहने के कारण

अतिभयावह श्मशान के स्वभाववाली संसारभूमिका पर विचरण करता रहता है।

मूलग्रन्थ : अन्यत् च यत् 'विग्रहखट्वांगकल्पनाकलितां संविदं मनुते' –इति–

विग्रहः शरीरं, स एव खट्वाङ्गकल्पना कङ्कालविधिः, योगिनः किल स्व-शरीर-प्रमातृता-अभिमान-दुर्ग्रहसंक्षयात् शरीर-अतीतं स्वात्मानं मन्यमानस्य संस्कारशेषीभूतो विग्रहः शवप्रायम् एव–इति अवधारयतः स्वशरीम् एव कङ्काल-मुद्रा'-कल्पना, तया कलितां भोग्य-आधारत्वेन मुद्रिताम्।

अनुवाद : और भी (ऐसा साधक) अपनी संवित् को, अपने ही (पंचभौतिक) शरीर पर कंकाल की धारणा रखनेवाली मानता है, तात्पर्य इस प्रकार है–

'विग्रह' भौतिक शरीर को कहते हैं। ऐसे व्रतचारी के परिप्रेक्ष्य में उसका अपना ही शरीर कंकाल की विधि को पूरी कर देता है। यह बात निश्चित है कि (सच्चे) योगी को अपने शरीर पर ही आत्ममानिता रखने का दुराग्रह मिटा हुआ होता है। अतः उसको और किसी देहातीत सत्ता पर आत्ममानिता होती है। उसकी पूर्ववासनाओं के संस्कारों का बचा हुआ मात्र अवशेष शरीर तो उसको एक शव जैसा लगता है। अंतस् में ऐसी ही दृढ़ अवधारणा होने के कारण वह अपने ही शरीर पर (वीरव्रतियों के लिए अपेक्षित) नरकंकाल की कल्पना करता रहता है, और अपनी संवित् को, सारे भोग्य विषयों का आधार बनी हुई चेतना समझते हुए, उसी कंकाल मुद्रा की कल्पना से मुद्रित समझता रहता है।

मूलग्रन्थ : वीरव्रतिनो हि श्मशानस्थस्य खट्वाङ्ग-मुद्रया भाव्यम्, अत अस्य स्व-संवित्-वपुषः स्व-शरीरम् अपि वेद्य तया भिन्नम् अवधारयतः सा एव खट्वाङ्गमुद्रा –इति एतत् अपि अस्य व्रतम्।

अनुवाद : वीरव्रत का पालन करनेवाले साधक के लिए श्मशान में बैठकर 'खट्वांगमुद्रा' –अर्थात् एक खास प्रकार की कायिक मुद्रा में बैठकर नरकंकाल सामने रखने का (आवश्यक सांप्रदायिक) विधान है। इसलिए प्रस्तुत वीरव्रती के संदर्भ में स्थिति इस प्रकार है कि वह (जड़ भौतिक शरीर के स्थान पर) संवित्-मय काया को धारण करता हुआ, अपने ही भौतिक शरीर को आत्मभाव से भिन्न प्रमेयरूप में (भोग्यरूप में) अनुभव करता रहता है। अतः वही (पाञ्चभौतिक शरीर ही) उसकी

खट्वांगमुद्रा की आवश्यकता को पूरी कर देता है। अतः अपने ही शरीर को कंकालमुद्रा के रूप में अनुभव करते रहना भी प्रस्तुत शैवयोगी का व्रत होता है।

*(**संकेत** : 'वीरव्रत' से पाशुपत संप्रदाय के अनुयायियों के कापालिक व्रत का अभिप्राय है। वीरव्रतचारी साधक शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्य-अभक्ष्य, ऊँच-नीच इत्यादि बंधनों को तिलाञ्जली देकर सारे विश्व को मात्र शिवरूप में देखता हुआ, श्मशान में बैठकर और नरकपालों की माला पहनकर साधना करता है। परन्तु प्रस्तुत शैवयोगी सारे जगत् को श्मशान की दृष्टि से देखता हुआ अपने आप को शुद्ध संवित्-मय अनुभव करता रहता है। अपनी काया को ही नरकंकाल समझता हुआ जहां कहीं भी बैठकर वीरव्रत का अनुष्ठान पूरा कर लेता है)*

मूलग्रन्थ : तथा 'वेद्य-खंडक-कपालं रसयति' –चर्वयति– यत् च शब्द-आदि-विषय-पञ्चक-लक्षणं सर्व-भोग्य-रूपम् इदं वेद्यं ज्ञेय-कार्यत्त्वाभ्यां परिच्छिन्नम्–इति खण्डकं कर्परप्रायं, तत् एव कपालं शिरः-अस्थि-शकलं, यत् रसयति सार-अपहरण-क्रमेण पूर्ण-अहन्ता-विश्रान्त्या चमत्कुरुते–इति एतत् अपि व्रतम्–इति।

अनुवाद : इसके अतिरिक्त वह प्रमेयखंडों के खप्पर में आनन्द-दायक वीरपान करता रहता है। तात्पर्य इस प्रकार है–

'वेद्य' शब्द से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, जो कि सारे प्राणियों के द्वारा (समान रूप से) उपभोग किए जाते हैं, का अभिप्राय है। ये वेद्यपदार्थ (=भोग्यविषय) 'ज्ञेय'–अर्थात् जानने के योग्य और 'कार्य'–अर्थात् किए जाने के योग्य–इन दो रूपों मे बंटे हुए होने के कारण 'परिच्छिन्न'–अर्थात् परिमित एवं परस्पर भिन्न हैं, इसलिए अधूरे वेद्यखण्ड (भोग्य-अंश) माने जाते हैं। प्रस्तुत शैव-योगी इन्हीं शब्द आदि पांच वेद्यखंडों के खप्पर में वीरपान करता रहता है। वीरपान करने का अभिप्राय यह कि इन्हीं शब्द आदि वेद्यखंडों में गर्भित 'सार' अर्थात् आनन्दात्मिका अनुभूति का निचोड़ ग्रहण करके पूर्ण अहंभाव में विश्रान्त करने के द्वारा जिस आंतरिक रसमयता का आस्वाद लेता रहता है वही इसका वीरपान करना कहा गया है। ऐसे ही वीरपान का सेवन करते रहना भी इसका व्रत होता है।

मूलग्रन्थ : 'व्रतिना किल कपालस्थं वीरपानं रस्यते'–इति आह 'विश्वरस' –इति–

विश्वस्मिन् वेद्य-शब्द-आदि-विषय-पञ्चक-रूपे कपालखंडे य असौ सारभागः चर्वण-अमृतमयः-अंशः स एव परम-आनन्द-दायित्वात् रसासवः उत्तमं पानं तेन पूर्णं निर्भरम्। एतत् उक्तं स्यात्– विश्वस्य यः शल्कस्थानीयः कठिनः अंशः पात्रकल्पः स एव कपालं, तद्गतः सारभागः चमत्कारक्षमः आह्लाददायित्वात् पानम्–इति।

अनुवाद : (सांप्रदायिक परम्परा के अनुसार) वीरव्रत का आचरण करने वाले साधक के लिए नरकपाल (खप्पर) में वीरपान (मदिरापान) करना आवश्यक होता है। इस विषय में 'विश्वरस'–इत्यादि कारिकाभाग प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

(शैवयोगी के लिए) विश्वव्यापी शब्द इत्यादि पांच वेद्यविषयों के आकारवाला 'कपालखंड'-अर्थात् टूटा हुआ खप्पर, हमेशा उन वेद्यविषयों के ही 'सार'-अर्थात् आत्मरूप में ही चर्वण करने के योग्य 'अमृतमय अंश'-अर्थात् अद्वैत आनन्दमय अंश के रूपवाले अति-उत्कृष्ट पान से भरा रहता है। कहने का अभिप्राय यह कि समूचे विश्व का जो यह खोल जैसा कठिन अंश पात्र जैसा दिखाई दे रहा है वही खप्पर है और उसमें जो 'सारभाग'-अर्थात् आनन्द-विभोर बना सकने वाला अंश निहित रहता है, वही आह्लादकारी होने के कारण 'पान'अतिस्वादिष्ट वीरपान होता है।

मूलग्रन्थ : 'कपालं तु व्रतिनः करगतं भवति'–इति आह 'निजकरगम्'–इति–

निजाः स्वात्मीयाः ये कराः चक्षुः-आदि-करण-देवी-स्वभावाः चिन्-मरीचयः, तेषु भोग्यतया तत् वेद्यखण्डकं विषयत्वं गच्छति–इति 'निजकरगम्', यथा पाणिस्थेन कपालेन पानं पीयते, तथा एव वेद्यखण्डक-कपालेन विश्व-रस-आसवः चक्षुः– आदि-संवित्-करैः योगिना समाहृत्य आस्वाद्यते।

अनुवाद : 'खप्पर तो सदा वीरव्रती के हाथ में होता है'–इसका स्पष्टीकरण 'निजकरगम्' इस कारिकांश में प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

'निजकरगम्'–इस शब्द से यह ध्वनित होता है कि अपनी ही काया में जो चित्-भाव की रश्मियां आँख इत्यादि 'करणदेवियों' अर्थात् इन्द्रियशक्तियों के रूप में अलग अलग (देखना, सुनना इत्यादि) स्वभावों को अपना कर अवस्थित है, उन्हीं के द्वारा 'भोग्य'-अर्थात् उपभोग किए

जाने के योग्य होने के कारण ये (शब्द आदि पांच) वेद्य-अंश विषय बन जाते हैं। फलतः जिस प्रकार (आम वीरव्रती के द्वारा) हाथ में रखे हुए खप्पर (टूटी हुई खोपड़ी) में वीरपान (मदिरापान) किया जाता है, उसी प्रकार शैवयोगी के द्वारा विश्व की सारभूत आनन्दमयता की वारुणी, आँख इत्यादि करणशक्तियों के किरणरूपी हाथों से, शब्द आदि वेद्यखंडों के खप्पर में आस्वादन की जाती है।

मूलग्रन्थ : अयम् आशयः–

योगी सर्वदा एव यथा-उपनतं विषयपञ्चकं करणदेवीभिः आहृत्य युक्तया स्व-चैतन्य-भैरव-विश्रान्तिम् अव्युच्छिन्नां भजमानः चरमक्षणपर्यन्तं यथा-उपदिष्टम् अद्वय-दृशा निर्वाहयति–इति एतत् एव अस्य परिशीलित-सद्गुरु-चरण-पङ्कजस्य व्रतम्, अत अन्यत् शरीर-शोषण-मात्रम्–इति।

अनुवाद : कथन का अभिप्राय इस प्रकार है–

(शैव) योगी हमेशा स्वाभाविक रूप में आगन्तुक (शब्द आदि) पांच विषयों में निहित आनन्दमयता को, अपनी करणशक्तियों (अंतर्मुखीन इन्द्रियशक्तियों) के द्वारा खींचकर, योग की युक्ति से, स्वरूपरूपी चैतन्य-भैरव (स्वात्ममहेश्वरदेव) में विश्रान्त कर देता है)– (अर्थात् उस आनन्द पारावार में तद्रूप ही बना देता है।) फिर उस आत्मविश्रान्ति की अवस्था को, अक्षुण्ण रूप में धारण करता हुआ जीवन के अन्तिम क्षण तक उसका निर्वाह करता रहता है। सिद्ध गुरुवर्यों के चरणारबिंदों की सेवा करनेवाले (शैव)योगी के लिए यही (वास्तविक) व्रत है। इससे अतिरिक्त (श्मशान इत्यादि मैं बैठकर मदिरापान करना और उपवास आदि रखना) केवल शरीर का शोषणमात्र है।

संकेत *: प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार भगवान् अभिनव और टीकाकार योगराज दोनों ने तत्कालीन पाखंडी वीर-व्रतचारियों का पर्दाफाश करने के साथ साथ, सच्चे शैवयोगी का परिचय प्रस्तुत किया है।*

कारिका–८१

उपक्रमणिका : प्राक् प्रतिपादित संकलयन् अस्य उपदेशस्य उत्कृष्टत्वम् आह–

अनुवाद : पहले की कारिकाओं में वर्णित विषय का संकलन करते हुए इस उपदेश के महत्व को समझा रहा है–

मूलकारिका

इति जन्मनाशहीनं परमार्थमहेश्वराख्यमुपलभ्य।
उपलब्धृताप्रकाशात् कृतकृत्यस्तिष्ठति यथेष्टम्॥

अन्वय/पदच्छेद : (स योगी) इति जन्म-नाश-हीनं परमार्थ-महेश्वर-आख्यम् उपलभ्य उपलब्धृता-प्रकाशात् कृतकृत्यः यथेष्टम् तिष्ठति।

अनुवाद : (वह योगी) इसी पूर्वोक्त उपाय से, जन्म-मरण से रहित एवं पारमार्थिक स्वात्ममहेश्वरभाव की प्रत्यभिज्ञा हो जाने के फलस्वरूप (अंतस् में) परिपूर्ण ज्ञातृता का भाव उजागर होने के कारण, सफल-मनोरथ बनकर, स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार रमता रहता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : इति समनन्तर-उक्तेन प्रकारेण यत् प्रतिपादितं रहस्यं परमार्थ-महेश्वर-आख्यं तात्त्विकं महेश्वरम् उपलभ्य स्वात्मनि दृढ़प्रतिपत्त्या सम्यक् अनुभूय,–

कीदृक्?– आह 'जन्म-नाश-हीनम्' –इति

येन अधिगतेन उत्पत्ति-मरणे न स्याताम्–इति यावत्।

अनुवाद : इस पूर्वोक्त प्रकार से जिस 'परमार्थ-महेश्वर'-नामवाले यथार्थ स्वात्ममहेश्वरभाव के रहस्य को समझाया गया, उसी का अपने अंतस् में ही, अविचल श्रद्धा के बल से, पूर्ण रूप में अनुभव करके (आकस्मिक प्रश्न-) वह कैसा है?

(उत्तर-) वह जन्म-मरण से रहित है, अथवा यों कहिए जिस भाव की उपलब्धि हो जाने पर फिर जीना और मरना नहीं होते हैं।

मूलग्रन्थ : 'कृतकृत्यस्तिष्ठति यथेष्टम्'–इति–

योगी एतत् प्राप्य कर्तव्यता-अन्तरस्य अभावात् निष्पन्न-पर-पुरुषार्थः, यथेष्टं स्व-इच्छा-अतिक्रमं विना, स्वातन्त्र्येण, चक्रभ्रमवत्, घृतशरीरः, तिष्ठति कालम् अतिवाहयन् आस्ते।

अनुवाद : 'कृतकृत्यस्तिष्ठति यथेष्टम्' –इस कारिकाभाग का तात्पर्य इस प्रकार है–

इस भाव को (एक बार) प्राप्त कर लेने पर योगी की और कोई इतिकर्तव्यता शेष नहीं रहती, अतः वह परम-पुरुषार्थ के सफल हो जाने पर अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार, चक्र की भ्रमी को भान्ति, शरीर को धारण करता हुआ जीवन के अवशिष्ट दिन बिताता है।

संकेत *: इस अवतरण में टीकाकार ने 'चक्रभ्रमवत्'-इस पद का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तीव्रगति में घूमता हुआ चक्र सहसा रुकाये जाने पर भी संस्कारवश कुछ समय तक स्वयं ही घूमता रहता है, उसी प्रकार योगी अकस्मात् आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी, पूर्वकालीन वासना के संस्कारवश चलते हुए शरीर को, अवशिष्ट प्रारब्धकर्म का उपभोग समाप्त करने के प्रयोजन से, धारण करता रहता है।*

मूलग्रन्थ : कथम्?-आह 'उपलब्धृता प्रकाशात्' –इति– एतत् रहस्य-परिशीलनेन सर्वासु दशासु अनुभवति-वृतया प्रकाशः परिस्फुरणं तस्मात्-इति, शरीरस्थ अपि पूर्ण-आनन्दमयः-इति यावत्।

अनुवाद : (प्रश्न-) ऐसा क्योंकर करता है? -(उत्तर-) क्योंकि उसमें अपने अनुभावी होने का ज्ञान उजागर होता है। तात्पर्य इस प्रकार है–

इस रहस्य का अनुसंधान करने के फलस्वरूप सारी (जाग्रत आदि) दशाओं में, उसके अंतस् में, जो स्वयं अनुभावी होने की चेतना स्पन्दायमान होती है, उसी के बल से वैसा सम्पन्न कर लेता है। तात्पर्य यह कि भौतिक शरीर धारण करते हुए भी वह अंदर से परिपूर्ण आनन्दघनता में लीन रहता है।

कारिका-८२

उपक्रमणिका : ''इत्थं स्वात्मानं यः कश्चित् जीवतां मध्यात् जानानः, स सर्वः तत्-रूपः स्यात्''–इति अधिकारि-नियम-अभावम् आह–

अनुवाद: 'इस प्रकार जीवित प्रमाताओं में जो जो भी (मानव या मानवेतर) प्राणी आत्मस्वरूप के विषय में सचेत हों, वे सारे शिवरूप ही बने होते हैं–इस विचार को प्रस्तुत करते हुए, (आत्मज्ञान के विषय में) एकाधिकारिता के नियम का अभाव सिद्ध कर रहा है–

मूलकारिका

व्यापिनमभिहितमित्थं सर्वात्मानं विधूतनानात्वम्।
निरूपम परमानन्दं यो वेत्ति स तन्मयो भवति।।

अन्वय/पदच्छेद : इत्थम् अभिहितं व्यापिनं सर्व-आत्मानं विधूत-नानात्वं निरुपम-परम-आनन्दं यः वेत्ति स तन्मयः भवति।

अनुवाद : जो भी कोई प्रमाता इस प्रकार से वर्णित सर्वव्यापक, सबों का आत्मा बने हुए, भेददृष्टि से रहित एवं उपमाओं से अतीत परम-आनन्द का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह आत्मस्वरूप में ही लय हो जाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : इत्थम् इति उक्तेन प्रकारेण व्यापिनम् अनवच्छिन्न-चिदानन्द-एकघनं शिवम् अभिहितं युक्ति-आगम-अनुभव-परिशीलन-क्रमेण आवेदितं, यो वेत्ति यः कश्चित् एव प्राणिप्रायः जानाति, स सर्वः त्यक्तसङ्कोचः तन्मयः शिव एव स्यात्-इति।

अत्र स्वात्मज्ञाने न अधिकारिनियमः, यतो ये केचन जन्म-मरण-आदि-दोष-आघ्राताः तिर्यञ्चः अपि वा ते सर्वे स्वात्ममहेश्वर-प्रत्यभिज्ञानात् तन्मया भवन्ति-इति 'यत्' शब्दस्य परामर्शः।

अनुवाद : इस ऊपर समझाये गए प्रकार से जो प्राणी, योग की युक्ति, आगमों के उपदेश और निजी अनुभव का विवेचन करने से, अखंडित चिदानन्द की घनता से ओतप्रोत शिव को परिलक्षित करते हैं, वे सारे (मायीय) संकोचों से छूटकर शिवमय ही बन जाते हैं।

इस आत्मज्ञान (स्वरूपप्रत्यभिज्ञा) को प्राप्त करने की दिशा में किसी (विशेष प्राणी) के ही अधिकारी होने का कोई नियम नहीं है। कारण यह कि जीना, मरना इत्यादि दोषों की छूत वाले जो भी प्राणी हों—यहां तक कि (मानवेतर) पशु-पक्षी भी—वे सारे (समान रूप से) स्वात्ममहेश्वर का परिचय पाने से महेश्वरमय ही बन जाते हैं। (कारिका में) 'यत् = यः' शब्द का प्रयोग किए जाने से इसी अर्थ की अभिव्यंजना होती है।

मूलग्रन्थ : कीदृशं च? 'सर्वात्मानम्'-इति-

सर्वेषां प्रमातृ-प्रमेयाणाम् आत्मा, सर्वाणि वा प्रमातृ-प्रमेयाणि

यस्य आत्मा, तं सर्व-उत्तीर्णं सर्वमयम्--इति यावत्। अत एव विधूतं न्यक्कृतं सर्वदा सर्वत्र चित्-रूपतया स्फुरणात् नानात्वं भेद-आनन्त्यं येन येन तम्, एवम् आकाङ्क्षाविरहात् निरुपमो विशेषण-रहितः प्रकृष्ट आनन्दो यस्य तम् एवंविधम्,–इति स्वात्मानं जानानः सर्वः शिवरूपी स्यात्–इति।

अनुवाद : और कैसे स्वात्ममहेश्वर को?–इस विषय में 'सर्वात्मानम्'–इत्यादि कारिकाभाग प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

'सर्वात्मा' अर्थात् १. सारे प्रमातृरूप (चेतन) एवं प्रमेयरूप (जड़) भावों का आत्मा बने हुए, अथवा

२. सारे प्रमातृरूप और प्रमेयरूप भाव जिसके आत्मस्वरूप हैं, ऐसे 'सर्वोत्तीर्ण'-अर्थात् सारे विश्वप्रपंच से अतिक्रान्त और युगपत् ही 'सर्वमय'–अर्थात् सारे विश्वप्रपंच का रूप धारण करनेवाले, सर्वात्मा होने से ही हमेशा और हर जगह केवल चित्-रूप में स्पन्दायमान रहने के कारण भेदभाव की अनंतता से रहित, और इसी प्रकार आकांक्षाओं से वर्णित होने के कारण 'निरुपम'-अर्थात् उपमाओं से रहित लोकोत्तर आनन्दमयता में लीन रहने वाले स्वात्ममहेश्वर के जानकार सारे भक्तजन शिवरूप ही बने होते हैं।

कारिका-८३

उपक्रमणिका : "एवम् अधिगत-स्वात्ममहेश्वरः स्व-शरीर-अधिकार-परिक्षये कुत्र शरीरं परित्यजेत्, किं वा याति"–इत्यादि संशयं परिहरति–

अनुवाद : 'इस प्रकार (शैव-ग्रन्थों में वर्णित ज्ञानमार्ग या योग-मार्ग का अनुसरण करने से) जिस व्यक्ति को स्वात्ममहेश्वर देव की प्रत्यभिज्ञा हुई हो, उसको तत्काल चलते हुए शरीर का अधिकार समाप्त होने पर, कहां जाकर देहत्याग करना चाहिए, अथवा (मरणोपरान्त) वह कहां जाता है?–ऐसे संशयों का निराकरण करता है–

मूलकारिका

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः।।

अन्वय/पदच्छेद : ज्ञान-समकाल-मुक्त: हत-शोक: (योगी/ज्ञानी), (मृत्युकाले) नष्ट-स्मृति: अपि, तीर्थे वा श्वपचगृहे वा देहं परित्यजन् कैवल्यं याति।

अनुवाद : स्वरूपज्ञान उजागर होने के तत्काल (मायीय बंधनों से) छूटा हुआ और मिटे हुए संतापों वाला ज्ञानी/योगी (प्राणत्याग करने की बेला पर) स्मृतिभ्रंश हो जाने पर भी, किसी पावन तीर्थस्थल या चंडाल के घर में देहत्याग करने पर भी अवश्य कैवल्यधाम को चला जाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : एवं परिशीलित-स्व-स्वरूपो ज्ञानी 'सर्वम् इदं स्वात्म-प्रकाश-स्वातन्त्र्यम्'–इति परम-अद्वय-दृशा गाढं समाश्वस्त-हृदय:, तीर्थे प्रयाग-पुष्कर-कुरुक्षेत्र-आदौ महापुण्ये स्थाने, अथवा श्वपच-सदने अन्त्यजन-गृह-उपलक्षिते अतिपापीयसि शरीरं मुञ्चन्,–इति उभयथा स्वीकार-परित्याग-कदर्थना-विरहित: अपि आत्मज्ञानात् एव कैवल्यं याति कलेवर-परिक्षयात् प्रधान-आदि-कार्य-कारण-वर्गेभ्य: अन्यां चिदानन्द-एकघनां तुर्यातीतरूपां केवलतां याति–इति यावत्।

अनुवाद: इस प्रकार निजस्वरूप का गहरा अनुसन्धान करने से ज्ञानवान बना हुआ ज्ञानीजन–'यह सारा इदंरूप विश्वप्रपंच स्वात्ममहेश्वरदेव की स्वतन्त्र प्रकाशमानता का विस्तार है'– इस लोकोत्तर अद्वैतभाव की दृष्टि खुल जाने से अपने हृदय में पूर्णतया आश्वस्त बना होता है। ऐसी अवस्था में वह चाहे प्रयागराज, पुष्कर या कुरुक्षेत्र इत्यादि किसी पावन स्थान पर, या चाहे अत्यन्त पापी अर्थात् अपावन चंडाल के घर में ही शरीर त्याग करे, तो दोनों रूपों में (एक स्थान को) हेय और (दूसरे स्थान को) उपादेय समझने की दुर्दशा से ऊपर उठकर, निजी आत्मज्ञान के बल से ही कैवल्यधाम को पाता है। 'कैवल्य' शब्द केवलता अर्थात् द्वैतहीनता के भाव को द्योतित करता है। अत: तात्पर्य यह है कि (देहत्याग करने के उपरांत) वह ज्ञानीजन मूलप्रकृति इत्यादि कारणरूप एवं कार्यरूप तत्त्वशृंखलाओं से सर्वथा भिन्न एवं मात्र चिदानन्द की घनता से परिपूर्ण तुर्यातीत भूमिका के रूपवाली 'केवलता'–अर्थात् द्वैतहीन परमशिवभाव की भूमिका पर आरूढ़ हो जाता है।

मूलग्रन्थ : यतः अस्य सर्वम् इदं विश्वं स्वात्मना पूर्णं समदृशा परमेश्वर-अधिष्ठितं पश्यतो न क्षेत्र-अक्षेत्र-प्रविभागः, अत एव हतः पराकृतो विकल्प-शङ्का-समुत्थः शोको येन स एवम्। यथा उक्तम्–

'हिमवति गङ्गाद्वारे वाराणस्यां कुरौ प्रयागे वा।

वेश्मनि चण्डालादेः शिवतत्त्वविदां समं मरणम्॥

इति श्रीनिर्वाणयोगोत्तरे।

अनुवाद : चूंकि ऐसे ज्ञानीजन को, समदृष्टि होने के कारण, इस सारे इदंरूप विश्वप्रपंच में अपने ही आत्मा का विस्तार अर्थात् स्वात्ममहेश्वरदेव की ही प्रकाशमानता दिखाई देती है, अतः उसके लिए पवित्र स्थान या अपवित्र स्थान जैसा कोई क्षेत्रीय विभाग नहीं होता है। यही कारण है कि उसने ऐसे सांसारिक विकल्पों से उपजने वाली मानसिक ग्लानि को भी परास्त किया होता है, जैसा कि श्रीनिर्वाणयोगोत्तर नामक ग्रन्थ में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है–

'शिवभाव का 'तत्त्व'-अर्थात् सार जानने वाले व्यक्ति के लिए हिमगिरि पर, गङ्गाद्वार (हरिद्वार?) में, वाराणसी में, कुरुक्षेत्र में, प्रयागराज में अथवा चंडाल इत्यादि के घर में देहत्याग करना समान ही होता है।'

मूलग्रन्थ : 'न अपि अस्य देहपात-अवसरे स्मृति-उपयोगः'–इति आह 'नष्ट स्मृतिरपि'–इति–

'आस्तां संस्मृतिः'–इति अपि-शब्द-अर्थः। यदि वा स ज्ञानी शरीर-त्याग-काले तत् उत्थ-वात-पित्त-श्लेष्म-अभिभवात् नष्टस्मृतिः काष्ठ-पाषाण-तुल्यत्वात् विगत-स्वात्म-संबोधः कलेवरम् अवशो भूत्वा त्यजति, तथा अपि प्राक्अधिगत-स्वात्मज्ञानः कैवल्यम् अवश्यं याति, ततो न स्वात्मज्ञान-अधिगमे प्रमय-समये स्मरण-अस्मरणे विशेषः अस्ति।

अनुवाद : 'वैसे तो ज्ञानीजन के लिए देहत्याग करने की वेला पर स्मृति रहने की कोई उपयोगिता नहीं है"–इस अभिप्राय को जताने के लिए 'नष्टस्मृतिरपि'–यह कारिकाभाग प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

यहां पर प्रयुक्त 'अपि' शब्द का अर्थ यह है कि स्मृति को रहने दो (अर्थात् उसकी कोई उपयोगिता नहीं है)। अगर वह ज्ञानी, देहत्याग करने की वेला पर, मृत्युपीड़ा से उभरने वाले वात, पित्त, एवं कफ के दबाव के कारण स्मृति खो बैठे अर्थात् लकड़ी, पत्थर इत्यादि की तरह

शरीर अकड़ जाने के कारण आत्मसंज्ञा खोकर और विवश बनकर देहत्याग करे तो भी पूर्वकाल में उपार्जित आत्मज्ञान के बल से अवश्य कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। इसलिए आत्मज्ञान की उपलब्धि हो जाने पर फिर मृत्यु समय पर स्मृति के रहने या न रहने से काई अन्तर नहीं पड़ता है।

मूलग्रन्थ : (शंका-) **ननु तीर्थ-अतीर्थ-प्रविभागः अस्य स्वात्मज्ञानविदो मा भूत, यत् पुनः अन्तकाले स 'नष्टस्मृतिरपि' -इति यत् एव स्वात्मज्ञानं उपायतया गृहीतं, तस्य देहपात-अवसरे तु विस्मरणं चेत्, तर्हि कथं स मुक्तः स्यात्? यत् उक्तम्-**

'अन्तकालेऽपि मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥'

(गीता अ० ८, श्लोक ५)

अनुवाद : (शंका-) भले ही आत्मज्ञानी के संदर्भ में (देहत्याग करने के लिए) तीर्थस्थान या अतीर्थस्थान के विभाग का कोई अर्थ न हो, परन्तु यह जो अन्तकाल पर आत्मस्मृति के खो जाने की बात है, यह अवश्य उलझन में डालने वाली है। प्रश्न यह उठता है कि उसने जिस आत्मज्ञान का, (मुक्ति पाने के) उपायरूप में अङ्गीकार किया होता है, अगर देहत्याग करने के अवसर पर उसी की विस्मृति हो जाए तो उसके मुक्त होने की और कौन सी संभावना है? जैसा (गीता में) कहा गया है-

'जो कोई भी पुण्यात्मा अंतकाल पर मेरा ही स्मरण करते-करते शरीर का त्याग कर देता है वह अवश्य मेरे भाव को प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

(गीता अ० ८, श्लोक ५)

मूलग्रन्थ : **एवम् अपि अत्र स्मरणस्य एव उपयोगः, यत् अपि-'परमेश्वर-स्मरण-अभावे अपि अनन्तकाले तत्-भाव-आपत्तिः स्यात्'-तर्हि सर्वः पशुजनः प्रमयसमये मूढ अपि, विशेष-अभावात्, परमेश्वर-समापत्तिं यायात्, वाक्यानि च एवम् आदीनि अप्रमाणानि स्युः, न च एवम्।**

अनुवाद : यों भी अर्थात् लोकपरंपरा के अनुसार भी अंतसमय पर आत्मस्मृति ही उपयोगी मानी जाती है और भी जो कहा जा रहा है कि (ज्ञानी को) अगर अंतसमय पर परमात्मस्मृति न भी रहे तो भी उसको वह भाव उपलब्ध होता है। यदि ऐसी स्थिति होती तो (ज्ञानी और अज्ञानी

प्रमाताओं में) कोई अंतर न रहने के कारण सारे पशुप्रमाता अंत-काल पर 'मूढ़' -अर्थात् विस्मृति की अवस्था में पड़े रहते भी अवश्य परमात्मभाव में लय हो जाते। इसके अतिरिक्त (उल्लिखित गीतावाक्य जैसे) इस विषय के साथ संबन्धित शास्त्रवाक्य अप्रामाणिक बने होते, परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ है।

मूलग्रन्थ : इति अत्र उत्तरम् आह-'ज्ञानसमकालमुक्तः'-इति।

सत्यं, न अस्य स्मरणेन उपयोगः, किन्तु सद्गुरुणा। यदा एव तस्य कर्णमूले स्वात्ममहेश्वर-ज्ञान-उपदेशः कृतः तस्मिन् एव काले-'अहम् एव सर्वम् इदम्'-इति अधिरूढ-स्वात्मज्ञान-परमार्थो विगलित-माया-आदि-कञ्चुकभावो न अन्यत् किञ्चित् अपेक्षते, केवलं संस्कारशेषतया चक्रभ्रम-वत् शरीरं वहमानः- इति न पुनः तस्य उत्तरकाले स्मरण-अस्मरण-कदर्थना,

अनुवाद : इस शंका का समाधान-'ज्ञानसमकालमुक्तः'-इस कारिकाभाग में प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है-

यह सत्य है कि इस पशुजन को (अंतकाल पर) स्मृति रहने की कोई उपयोगिता नहीं है। परन्तु जिस क्षण पर सद्गुरु महाराज उसके (पशुजन के) कान में स्वात्ममहेश्वर के ज्ञान का उपदेशामृत डाल देते हैं तत्काल ही सहसा उसके अंतस् में स्वात्मज्ञानरूपी परमार्थ का संक्रमण हो जाता है। माया इत्यादि तत्त्वों से बने हुए कंचुक (षट्कंचुक) की विद्यमानता समूल गल जाती है और उसके मन में कोई दूसरी अपेक्षा नहीं रहती है। वह केवल कुछेक बचे-खुचे (मामीय) संस्कारों के प्रभाव से चक्रभ्रमी की भांति (कुछ समय के लिए) शरीर को धारण करता रहता है, अतः उसको 'उत्तरकाल में' अर्थात् देहत्याग करने की वेला पर आत्मस्मृति या विस्मृति के रूपवाली दुर्दशा पीड़ित नहीं कर सकती है।

मूलग्रन्थ : यस्मात् अज्ञान-जनित-आणव-मायीय-कंचुक-संबन्धे सति देहकञ्चुकं-प्रभवति, स्वात्मज्ञान-उपदेशेन अज्ञान-जनित-कञ्चुक-क्षयात् कथं देहकञ्चुकं विनष्ट-प्रायं पर्यन्ते ज्ञानिनो यन्त्रणां कर्त्तुम् अलम्?-इति स्वात्म-ज्ञान-कथन-अवसर एव स जीवन् एव मुक्तः स्यात्। यथा उक्तं कुल रत्नमालिकायां साहस्रिकायाम्-

'यदा गुरुवरः सम्यक् कथयेत्तदसंशयम्।
मुक्तस्तत्रैव कालेऽसौ यन्त्रवत्केवलं वसेत्॥

इति। श्रीमन्निशाटने अपि–

'गोदोहमिषुपातं वा नयनोन्मीलनात्मकम्।

सकृत्, युक्तः परे तत्त्वे स मुक्तो मोचयेत्परान्॥

यस्मात्पूर्वं परे न्यस्तो येनात्मा ब्रह्मणि क्षणम्।

स्मरणं तु कथं तस्य प्राणान्ते समुपस्थिते॥' इति।

अनुवाद : कारण यह है कि (बाहरी स्थूल) शरीररूपी कंचुक केवल तभी तक आत्मा को प्रभावित कर सकता है जब तक उसका संबन्ध अख्याति से उत्पादित आणव एवं मायीय मलरूपी अंतरंग (सूक्ष्म) कंचुक के साथ बना रहे। स्वात्मज्ञान के उपदेश से अख्याति से उत्पन्न अंतरंग कंचुकों का नाश हो जाने पर नष्टप्राय बना हुआ कायाकंचुक किस प्रकार ज्ञानीजन को अंतकाल पर पीड़ित करने में समर्थ हो सकता है? अतः यह स्पष्ट है कि वह ज्ञानीजन (सिद्ध गुरु के द्वारा) स्वात्मज्ञान का रहस्य बताये जाने के तत्काल ही जीवन्मुक्त बना होता है। इस संदर्भ में कुलरत्नमालिका साहस्त्रिका का शास्त्र का कथन इस प्रकार है–

'जिस क्षण पर सिद्ध गुरु महाराज उस आत्मज्ञान के रहस्य को भली-भांति संक्रमित करते है, निःसंशय उसी क्षण पर वह शिष्य मुक्त हुआ होता है और बचे-खुचे जीवन के दिन यन्त्र की तरह बिताता रहता है'–

श्रीनिशाटनशास्त्र में भी इस प्रकार कहा गया है–

संकेत *: पाठकों से अनुरोध किया जाता है कि अगले उद्धरण-पद्य को समझने के लिए निम्नलिखित तीन शब्दों का अभिप्राय ध्यान में रखें–*

गोदोह *= उतने अल्प कालखंड को कहते हैं जितने में ग्वाले के द्वारा गाय के एक स्तन को दो अंगुलियों से पकड़कर दुहने पर दूध की एक ही धारा छर्र से स्तन से निकलकर पात्र में जा गिरती है (पलक भर का कालखंड)।*

इषुपात *= उतने अल्प कालखंड को कहते हैं जितने में धनुष से छूटा हुआ तीर लक्ष्य पर जा गिरता है (पलक भर का कालखंड)।*

सकृत् *= गोदोह अथवा इषुपात से जितने छोटे कालखंड का अभिप्राय द्योतित होता है उतने को 'सकृत्' कहते हैं।*

अनुवाद : 'गोदोह या इषुपात में लगने वाले पलक खुलने के बराबर काल को 'सकृत' कहते हैं, जिस (अनुग्रहपात्र) जन का उतने ही अल्पकाल के लिए (= सकृत् ही) परमतत्त्व के साथ योग हो जाए वह स्वयं मुक्त होकर दूसरों को भी मुक्त करने की क्षमता को प्राप्त कर लेता है।'

'जिस ज्ञानी पुरुष ने मृत्यु से बहुत पहले अपने आत्मा को, क्षणमात्र के लिए भी, परब्रह्मस्वरूप में स्थिर बनाया हो, उसको प्राणान्त काल पर काहे का स्मरण करने की आवश्यकता है?'

मूलग्रन्थ : अथवा आत्मविदः पर्यन्तक्षणः स्व-अनुभव-एक-साक्षी केन अनुभूयते, यद्वशात् तस्य स्मरणम् अस्मरणं वा परिकल्प्यते, यावता तत्र अर्वाक्-दृशां न अस्ति गोचरः–इति सर्वज्ञाः तत्र प्रष्टव्याः, न पुनः शरीरचेष्टामात्रात् मरण-अवसरे अधिगत-परमार्थस्य अपि देहत्यागक्षणः शुभ-अशुभत्वेन अनुमातुं शक्यः।

तस्मात् अवश्यम् एव सदा तत्-भाव-भावितं स्वात्मज्ञान-विदं स्वात्मस्थ एव परमेश्वरो मरण-अवसरे स्वं स्वरूपं काष्ठ-पाषाण-तुल्यम् अपि स्मारयति। यदुक्तम् –

'स्वस्थचेष्टाश्च ये मर्त्याः स्मरन्ति मम नारद।
काष्ठ-पाषाण-तुल्यांस्तानन्तकाले स्मराम्यहम्॥'
तथा–
'स्थिरे चेतसि सुस्वस्थे शरीरे सति यो नरः।
धातुसाम्ये स्थिते स्मर्ता विश्वरूपं च मामकम्॥'
ततस्तु म्रियमाणं तं काष्ठपाषाणसन्निभम् ।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥'
इति भगवता लक्ष्मीसंहितायाम् उक्तम्।

अनुवाद : अथवा ऐसा भी है कि आत्मज्ञानी के अन्तिम क्षण की अवस्था के बारे में उसका केवल निजी अनुभव ही साक्षी होता है। कोई दूसरा प्रमाता उसका अनुभव कैसे कर सकता है, जिसके आधार पर उस ज्ञानी को अन्तिम क्षण पर स्मृति रहने या विस्मृति हो जाने के विषय में अन्दाज़ा लगाया जा सकता। 'अर्वाक्-दर्शी'-अर्थात् पीछे संसारभाव की ओर ही दृष्टि रखने वाले प्रमाताओं की उस दिशा में पैठ नहीं होती है, अतः सर्वज्ञ पुरुषों से ही ऐसी पूछताछ करना उचित है। ऐसी कोई

संभावना नहीं है कि परमार्थ के जानकार पुरुष के भी मृत्युक्षण पर, मात्र उसकी शारीरिक चेष्टाओं को देखने से ही, उसके देहत्यागक्षण के शुभ या अशुभ होने के बारे में अनुमान लगाया जा सके।

इसलिए यह एक सदातन सत्य है कि परमेश्वरभाव से भावित स्वात्मज्ञानी पुरुष को, मृत्युकाल पर लकड़ी या पत्थर की भांति शरीर के अकड़ जाने की दशा में भी, उसके आत्मरूप में बैठा हुआ परमेश्वर ही स्वरूपस्मरण करवाता है। जैसा कहा गया है–

'हे नारद जी! जो मनुष्य शरीर के स्वस्थ एवं सचेष्ट होते हुए ही मेरा स्मरण करते रहते हैं, मरणकाल पर जब उनका शरीर लकड़ी या पत्थर जैसा बन जाता है, तो मैं स्वयं उनका स्मरण करता हूँ।'

और–

'जो मनुष्य स्थिर चित्त, पूरी तरह स्वस्थ शरीर और तीन धातुओं का साम्य रहते हुए ही मेरे विश्वरूप का स्मरण करता रहता है–

फिर तो मरते हुए और लकड़ी एवं पत्थर जैसा स्तब्ध बने हुए उस अपने भक्त का मैं स्वयं स्मरण करता हूँ और सद्‌गति पर पहुंचाता हूँ'।

ये सारी उपदेश की बातें भगवान् ने अपने मुखारबिन्द से **लक्ष्मीसंहिता** नामक शास्त्र में कही हुई हैं।

मूलग्रन्थ : एवम् अत्र सदा तत्-भाव-भावितत्वम् एव हेतुः, अन्यथा पूर्व-अनुभव-संस्कार-दार्ढ्य विना कथम् अन्ते स्मृतिः अपि स्यात्,–इति न केनचित् अपि ज्ञानिनो मरण-अवसरे समुपयोगः–इति।

अनुवाद : फलतः स्थिति यह है कि ऐसे विषयों में जन्मजन्मान्तर से परमात्मभाव से भावित होना ही मुख्य कारण है, नहीं तो पूर्वकालीन परमात्म-अनुभूति के संस्कार की दृढ़ता के बिना अंतसमय पर परमात्मस्मृति भी कैसे संभव हो सकती है? इसलिए ज्ञानीजन के लिए मृत्युकाल पर (स्मृति या विस्मृति) किसी की भी कोई उपयोगिता नहीं होती है।

कारिका-८४

उपक्रमणिका : यदि पुनः तीर्थ-आश्रयणाम् उक्तप्रकारेण न कुत्रचित् अपि अङ्गभावं याति, तर्हि किम् इति विद्वद्भिः तत् समाश्रीयते?–इति विषयविभागम् आह–

अनुवाद : यदि उल्लिखित प्रकार से स्थिति ऐसी है कि (मृत्युकाल के निकट आने पर) किसी तीर्थस्थल का आश्रय लेना किसी भी प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला साधन नहीं हैं, तो फिर प्रबुद्ध लोग उत्सुकता से उसके पीछे क्यों पड़े रहते हैं? –इस विषय पर अलग-अलग स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिका

पुण्याय तीर्थसेवा निरयायश्वपचसदननिधनगतिः।
पुण्यापुण्यकलङ्कस्पर्शाभावे तु किं तेन॥

अन्वय/पदच्छेद : तीर्थसेवापुण्याय, श्वपच-सदन-निधन-गतिः निरयाय (भवति), तु पुण्य-अपुण्य-कलङ्क-स्पर्श-अभावे तेन किम्?

अनुवाद : (शास्त्रीय विधान के अनुसार मृत्युकाल पर) तीर्थस्थल का आश्रय लेने से (स्वर्ग आदि) पुण्य लोक, और चंडाल के घर में देहत्याग करने से (अवीचि आदि) नरक मिलते हैं, परन्तु (ज्ञानी जन को) पुण्य और अपुण्य दोनों की कालिख की छूत न होने की दशा में उन दोनों (विधानों) से क्या लेना-देना है?

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : येषां विदुषाम् अपि देह-आदि-प्रमातृता-ग्रहः साम्प्रतं न विगलितः स्वात्म-ज्ञान-चर्यायां च न तथा समाश्वासः, तेषाम् इष्टापूर्ति-आदि-धर्म-संग्रहं कुर्वताम् अधर्मसंग्रहं वा, प्रयाग-आदि-तीर्थ-सेवा मरण-अवसरे क्षेत्रपरिग्रहः, पुण्याय उत्तमलोकप्राप्तये निश्चितं स्यात् एव। तथा एव 'श्वपचसदननिधनगतिः'–इति। श्वपाक-आदि-गृह-उपलक्षिते पापीयसिस्थाने निधनगतिः प्रमय-प्राप्तिः निरयाय अवीचि-आदि-नरक-पाताय एतेषां किम् इति न भवेत्?–देह-प्रमातृता-ग्रहस्य विद्यमानत्वात्। मरण-स्थान-अनुगुणं भोगम् अपि भुक्त्वा शुभ-अशुभेषु देहेषु जायन्ते पुनः म्रियन्ते च,–इति अनवरत-जन्म-मरण-प्रबन्धाः देह-आदि-आत्म-मानिनः एवंप्रायाः स्युः।

अनुवाद : जिन व्यक्तियों को, शास्त्रज्ञ होने पर भी, अभी न तो शरीर इत्यादि (जड़ पदार्थों) पर प्रमातृबुद्धि (आत्ममानिता) रखने का अडियलपन गल गया हो, और न स्वात्मज्ञानसंबन्धी चर्चा करने पर पूरी आस्था हो, उन इष्टापूर्त आदि यज्ञीय कर्मों से धर्म का, अथवा न करने से

अधर्म का संग्रह करने वाले पशुओं के लिए जिसप्रकार मृत्यु की वेला पर प्रयागराज आदि पुण्यक्षेत्रों पर जाना निश्चय से उत्तमलोक प्राप्त करने का हेतु बन सकता है, उसी प्रकार श्वपाक के घर जैसे पाप-पूर्ण जगह पर प्राणत्याग करना अवीचि आदि नरकों में धकेलने का कारण क्यों न बन सके?-क्योंकि इन दोनों प्रकार के प्रमाताओं पर अभी भी शरीर इत्यादि को ही निजी प्रमातृभाव की टिकान मानते रहने का भूत सवार होता है। वैसे प्रमाता इसी प्रकार निरंतर (पहले-पहले के) मृत्यु-स्थानों के अनुरूप भोगों का उपभोग भी करते रहने के उपरान्त अच्छे या बुरे शरीरों को लेकर जन्मते और मरते भी रहते हैं। इस प्रकार लगातार आवागमन के झमेले में पड़े हुए, शरीर इत्यादि को आत्मा मानने वाले प्रमाताओं की दशा लगभग ऐसी ही होने की संभावना है।

मूलग्रन्थ : यस्य पुनः स्वात्मज्ञान-प्रत्यवमर्श-दार्ढ्यात् देह-आदि-प्रमातृता-अभिमानो निःशेषेण विगलितः, तस्य चित्-नमः-स्वभावस्य धर्म-अधर्म-स्वभाव-वासना-स्पर्श-प्रक्षये वृत्ते सति किं तेन? एवं स यतः शुभ-अशुभ-कर्म-भाजां तीर्थ-आदि-परिग्रहः, ततः तेन तीर्थसेवा-आदिना विमलस्य ज्ञानिनो न अस्ति उपयोगः। यत् उक्तं मानवे धर्मशास्त्रे–

'यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्त्वं मा गङ्गां मा गयां गमः॥' इति।

अत्र देह-आत्म-मानिता एव हृदयवर्तिनी यमः, सा यैः पूर्ण-स्वात्ममहेश्वर-स्वभावम् उपलभ्य संभक्षिता, तेषां कथम् एष तीर्थ-आदि-सेवा-प्रयासः?–इति सिद्धान्तः।

अनुवाद : परन्तु दूसरी ओर आत्मज्ञान का दृढ़ अनुसन्धान करने के बल से जिस व्यक्ति का शरीर इत्यादि पर टिका हुआ आत्म-अभिमान पूरी तरह गल चुका हो, उस चिदाकाश स्वभाव पर पहुंचे हुए प्रमाता के अंतस् में, धार्मिक या अधार्मिक रूप में उभरने वाली अनुरूप वासनाओं के अति क्षीण स्पर्शमात्र का क्षय हो जाने पर (मृत्युसमय पर) तीर्थपरिग्रह इत्यादि प्रकार की धाँधली का प्रयोजन ही क्या है? चूंकि यह तीर्थपरिग्रह इत्यादि प्रकार की धाँधली तथाकथित अच्छे या बुरे कर्मों की उलझन में फंसे हुए व्यक्तियों के लिए ही उपयोगी होती है, अतः निर्मल हृदय वाले ज्ञानीजन के लिए उसकी रंचमात्र भी उपयोगिता नहीं है। मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) में भी इसी आशय का उल्लेख पाया जाता है–

'आपके अपने ही हृदय में बैठे हुए सूर्यपुत्र यमराज के साथ यदि आपका कोई विवाद नहीं है, तो गंगास्नान के लिए जाने या गया का चक्कर काटने की कोई आवश्यकता नहीं हैं।'

इस उदाहरण पद्य में 'यम' शब्द अपने ही हृदय में जमकर बैठे हुए देहात्म-अभिमान का अभिप्राय ध्वनित कर रहा है। जिन व्यक्तियों ने परिपूर्ण स्वात्म-महेश्वर-स्वभाव की उपलब्धि से उसका भक्षण किया हो, उनको कैसे यह तीर्थ इत्यादि का आश्रय लेने की ज़हमत उठानी पड़ती है? यही (शैव) सिद्धान्त है।

कारिकाएँ-८५, ८६

(विदेहमुक्ति)

उपक्रमणिका : ननु प्राक् प्रतिपादितं यथा-'ज्ञान-दग्ध-आणव-मायीय-कार्म-मल-स्वरूप आत्मा पिण्डपातात् स्व-स्वरूप-स्थ एव न पुनः भव-प्ररोहं विद्यत्ते-दग्ध-बीजम् इव अङ्कुरम्-इति। स्वात्म-ज्ञान-अविर्भाव-समकालं देह-कञ्चुक-बन्धः चेत्, तर्हि उत्तरत्र मा विधताम्। यत् पुनः विद्यमाने देह-आदि-कञ्चुक-बन्धे कथंकारं स तत्-गत-धर्म-आच्छुरितो न स्यात्? तत् आच्छुरितः सन् मृतः कथं न संसारी? - इति चोद्यं अपवदति-

अनुवाद : (शंका) "पहले इस सिद्धान्त की स्थापना की गई कि ऐसा आत्मा, जिस पर छाई रहने वाली आणव, मायीय और कार्ममलों की धुंधलाई स्वरूपज्ञानरूपी पावक में जल गई हो, देहत्याग करने के उपरान्त आत्म-स्वरूप में ही अवस्थित रहता है और नये सिरे से संसारभाव (शरीर इत्यादि) को, ठीक उसी प्रकार, अंकुरित नहीं करता है जिस प्रकार जला हुआ बीज (नये अंकुर को नहीं उपजाता है)। अब प्रश्न यह है कि अगर आत्मज्ञान का अविर्भाव होने के तत्काल ही कायारूपी (स्थूल) कञ्चुक भी नष्ट हो जाए तो भले ही आत्मा देह छूट जाने के उपरान्त नये सिरे से उसको उपजने न दे, परन्तु (जीवन्मुक्त पुरुष ज्ञानप्राप्ति के उपरान्त कुछ समय तक) शरीर इत्यादि कञ्चुकों के बंधन में अवस्थित रहने पर भी, किस करिश्मे से उन शरीरधर्मों से अभिभूत न होने पाए, और उसी अवस्था में मरकर फिर संसारी ही क्यों न बना रहे?" इस शंका को निस्सार सिद्ध कर देता है-

मूलकारिकाएँ

तुषकम्बुकसुपृथक्कृतण्डुलकणतुषदलान्तरक्षेपः।
तण्डुलकणस्य कुरुते न पुनस्तद्रूपतातादात्म्यम्॥
तद्वत् कञ्चुकपटलीपृथक्कृता संविदत्र संस्कारात्।
तिष्ठन्त्यपि मुक्तात्मा तत्स्पर्शविवर्जिता भवति॥

अन्वय/पदच्छेदः (यथा) तुष-कम्बुक-सु-पृथक्-कृत-तण्डुल-कण-तुष-दल-अन्तर-क्षेपः तण्डुल-कणस्य पुनः तत्-रूप-तादात्म्यं न करुते–

तत्-वत् कञ्चुक-पटली-पृथक्-कृता संवित् संस्कारात् अत्र तिष्ठन्ती अपि तत्-स्पर्श-वर्जिता मुक्त-आत्मा भवति।

अनुवाद : (जिस प्रकार) तुसी और भूसी से पूरी तरह अलगाए हुए चावल के दाने को, फिर उसी तुसी के दो फोकों के बीच में रखना वही पहले वाला शाली के दाने का रूप नहीं दे सकता है–

(ठीक) उसी प्रकार कंचुकों की परतों से अलगाई हुई संवित्, पूर्वकालीन संस्कारों के प्रभाव से (भौतिक) शरीर में अवस्थित रहती हुई भी, शरीरधर्मों से छुई न जाती हुई मुक्त-आत्मा के रूप में ही बनी रहती है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : तुषकम्बुकाभ्यां सुष्ठुः पृथक्कृतो विश्लिष्टो यः तण्डुलकणः, तस्य यः तुषदल-अन्तर-क्षेपः प्राक् इव पुनः तत्र एव विन्यासः, स यथा तुषदल-अन्तर-प्रक्षेपः तण्डुल-कणस्य तत्-रूपतया अङ्कुर-जनन-क्षमत्वेन स्थित अपि तादात्म्यं गाढ़-अवष्टम्भं न कुरुते, अयः-शलाकावत् भिन्नौ एव तुष-तण्डुलौ तिष्ठतो, न पुनः एक-कार्य-जनन-व्यग्रौ भवतः,

अनुवाद : (जिस प्रकार) तुसी और भूसी से अच्छी प्रकार अलगाया हुआ चावल का दाना फिर पहले की भांति उन्हीं दो तुसी के फोकों में रखने पर यद्यपि पहलेवाली अंकुर को उपजाने की दशा में अवस्थित हो जाता है तो भी उन तुषदलों के साथ पहले की तरह प्रगाढता से संपृक्त नहीं होने पाता है। दोनो लोहे की छड़ के दो टुकड़ो की भांति परस्पर संयुक्त होते हुए भी परस्परभिन्न ही रहते हुए, पहले की तरह 'एक ही काम'–अर्थात् अंकुर को उपजाने के काम में जुट नहीं पाते हैं,

मूलग्रन्थ : तद्वत् तथा एव ज्ञानिन इयं संवित् चेतना कंचुक-पटल्याः आणव-मल-आदि-कंचुक-समूहात्-पृथक-कृता- 'अहम् एव स्वात्महेश्वर-स्वभावो विश्वात्मना सर्वदा सर्वत्र स्फुरामि'- इति।

स्वात्म-ज्ञान-परिशीलन-दार्ढ्यात् समुद्धृता, अत्र इति अस्यां कञ्चुक-पटल्यां कञ्चित् कालं शेषवर्तनया देह-भावेन तिष्ठन्ती अपि स्थिता सती विमुक्त-आत्मा प्रध्वस्तबन्धा तत्-स्पर्श-विवर्जिता भवति।

अनुवाद : उसी प्रकार ज्ञानीजन की आत्मचेतना (संवित्) आणव इत्यादि मलों से बने हुए कञ्चुकों के समूह से-'मैं स्वात्म-महेश्वर रूपी स्वभाव स्वयं ही विश्वात्मभाव में सदा और सर्वत्र स्पंदायमान हूँ'- ऐसे स्वरूपज्ञान का अथक अनुसंधान करते रहने की दृढ़ता से (एक बारगी) उद्धृत की जाने पर, केवल शेषवर्तना के विचार से कुछ समय तक भौतिक काया में ही टिकी रहने के द्वारा कञ्चुकपटल के संपर्क में रहती हुई भी, सारे बंधनों से अलग-थलग और कञ्चुकसमूह की छूत से बहुत दूर मुक्त-आत्मा के स्वरूप में ही बनी रहती है।

मूलग्रन्थ : तस्याः देह-आदि-कञ्चुक-पटल्याः स्पर्शः पुण्य-अपुण्य-रूप-कर्म-मल-उपजनितो य उपरागः संसार-अङ्कुर-जनन-क्षमः, तेन विवर्जिता परिहृता संपद्यते, यथा तुष-दल-अन्तरे क्षिप्तः तण्डुलः अङ्कुर-प्ररोह-स्पर्श-रहितो भवति-इति।

अनुवाद : 'तत्स्पर्श विवर्जिता' – इस कारिकाभाग का तात्पर्य इस प्रकार है–

उस भौतिक शरीर इत्यादि कञ्चुकों के समूह की छूत अर्थात् अच्छे या बुरे कर्मों के रूपवाले कार्म-मल के द्वारा (मरणोपरान्त) नये जन्मरूपी अंकुर को उत्पन्न करने की क्षमता के रूपवाले 'स्पर्श'-अर्थात् प्रजनन-स्वभावता से उसी प्रकार रहित बनी हुई होती है–जिस प्रकार (पहले अलगाए हुए) तुष के दो फोकों के बीच में घुसेड़ा हुआ चावल का दाना अंकुर का प्रजनन करनेवाले 'स्पर्श' से रहित होता है।

मूलग्रन्थ : इदम् उक्तं स्यात्–

अज्ञान-कारणकः तावत् संसारः, तत्र समुदित-स्वात्म- ज्ञान-दलित-कञ्चुकस्य योगिनः संवित् न पुनः संसार हेतुः-अज्ञान-जनित-सामग्री-वैकल्यात्। न अपि तस्य शेषवर्तनया संस्कारवशेन तिष्ठन् अयं देह-कञ्चुक-बन्धो ज्ञान-अग्नि-दग्ध-अज्ञान-मूलः स्व-गत-धर्म-आविर्भावेन संसार-प्ररोहं दातुम्

अलम्–इति ज्ञानी जीवन् एव तुरीय-रूपो, देह-अभावात् तुर्यातीतरूपः–इति उभयथा पुनः न काचित् संसार-शङ्का–इति।

अनुवाद : कहने का आशय इस प्रकार है–

'संसार'–अर्थात् आवागमन के तांतों का मूल-कारण 'अज्ञान'-अर्थात् आत्मविस्मृति है। ऐसे योगी, जिसने स्वात्मज्ञान के बल से (आवरणात्मक) कञ्चुकों को मसल डाला हो, की संवित् फिर से आवागमन का हेतु नहीं बन जाती है–क्योंकि उसमें 'अख्याति'– अर्थात् आत्मविस्मरण से उत्पादित कारणसामग्री का अभाव होता है। ऐसा भी कुछ नहीं है कि पूर्वकालीन संस्कारों के प्रभाव से शेषवर्तन के रूप में कुछ समय के लिए चलती काया में ही अवस्थित रहने पर उस योगी के लिए कायिक कंचुक की जकड़, अपने स्वाभाविक धर्म के आविर्भाव से, नये जन्म के अंकुर को उपजा सकती हो–क्योंकि उस योगी ने ज्ञान की आग में उसके (जकड़ के) मूल भी जला दिये होते हैं। फलतः ऐसा ज्ञानी (जीवन्मुक्त पुरुष) जीवनकाल की अवधि में तुर्याभाव पर अवस्थित रहकर, शरीर छूट जाने के उपरान्त तुर्यातीत-पद में लय हो जाता है, अतः दोनों रूपों में उसके लिए आवागमन की कोई भी शंका शेष नहीं रहती है।

संकेत *: १. प्रस्तुत व्याख्या में 'स्पर्श' से प्रजनन-क्षमता का अभिप्राय है, २. 'शेषवर्तन' शब्द का अभिप्राय उल्लिखित कारिकांक ६९ की उपक्रमणिका में पहले ही समझाया गया है।*

कारिकाएँ-८७, ८८

उपक्रमणिका : **"ननु शेषवर्तनया यावत्-शरीर-अवस्थितं योगी-संवेदनम् अधिगत-स्व-स्वरूपम् अपि देह-उपाधि-कृत-मालिन्यस्य-अपि तावत् अंशेन विद्यमानत्वात् अशुद्धम् एव"–इति दृष्टान्तेन परिहरति–**

अनुवाद : (शंका) पृष्ठव्य यह है कि –"जब तक योगी का संवेदन शेषवर्तना के विचार से (भौतिक) काया में टिका रहता है तब तक जहां एक ओर उसको स्वरूप-परिचय प्राप्त हुआ होता है वहीं दूसरी ओर शरीर की उपाधि के द्वारा उपजाई हुई मलिनता भी उस पर आंशिक रूप में छाई रहती है, अतः वह (योगिसंवेदन) तब तक अशुद्ध ही होता है"–इस भ्रान्ति का निवारण दृष्टान्त के द्वारा कर रहा है–

मूलकारिकाएँ

कुशलतमशिल्पिकल्पितविमलीभावः समुद्गकोपाधेः।
मलिनोऽपि मणिरुपाधेर्विच्छेदे स्वच्छपरमार्थः॥
एवं सद्गुरुशासनविमलस्थितिवेदनं तनूपाधेः।
मुक्तमप्युपाध्यन्तरशून्यमिवाभाति शिवरूपम्॥

अन्वय/पदच्छेदः (दृष्टान्त) कुशलतम-शिल्पि-कल्पित-विमलीभावः मणिः, समुद्गक-उपाधेः मलिनः अपि, उपाधेः विच्छेदे स्वच्छ-परमार्थः (दृश्यते),

(दार्ष्टान्तिक) एवं सद्गुरु-शासन-विमल-स्थितिः वेदनं तनु-उपाधेः मुक्तम् (युक्तम्) अपि उपाधि-अन्तर-शून्यं शिवरूपम् इव आभाति।

(**ध्यानाकर्षणः** प्रस्तुत रूपान्तरकार के विचारानुसार यहां पर कारिकाङ्क ८८ की अन्तिम पङ्क्ति में 'मुक्तम् अपि' के स्थान पर 'युक्तम् अपि' ऐसा मूल पाठ रहा होगा क्योंकि तभी यहां पर वर्णित दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का समन्वय हो जाता है। अस्तु, शोधक सामग्री के अभाव में किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना कठिन है।)

अनुवादः (दृष्टान्त) जिस प्रकार अतिप्रवीण शिल्पी के द्वारा पानी चढ़ाया हुआ हीरा हीरकदान की उपाधि (डिब्बे के दीवारों के साथ लगी हुई मलिनता) के संपर्क से मैला हो जाने पर भी, उस उपाधि का विच्छेद हो जाने पर, फिर अपने स्वाभाविक स्वच्छातिस्वच्छ रूप में प्रकाशमान रहता है,

(दार्ष्टान्तिक) उसी प्राकर सद्गुरुवर्य के उपदेशामृत से निर्मल बनाया गया योगिसंवेदन भी कायिक उपाधि से छूट जाने के उपरान्त और किसी भी उपाधि के संपर्क से रहित शिवतुल्य रूप में प्रकाशमान रहता है।

संकेतः *यहां पर कारिकांक ८८ में जीवन्मुक्त पुरुष को 'शिवरूपम् इव' ऐसा कहकर शिव के समान तो माना गया है, परन्तु परिपूर्ण शिवरूप नहीं। इस संबंध में टीकाकार ने उल्लिखित ८६वीं कारिका की टीका में यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत करके रखा है कि जीवन्मुक्त पुरुष अभी शरीर की उपाधि को धारण करता हुआ ही होने के कारण तुर्यातीत (परिपूर्ण परमशिवभाव) भूमिका पर नहीं, प्रत्युत तुर्या (शाक्तपदवी) भूमिका पर ही अवस्थित होता है। अतः वह परिपूर्ण परमशिव नहीं,*

प्रत्युत शिवतुल्य अवस्था पर ही पहुंचा हुआ होता है। शरीर की उपाधि छूट जाने के उपरान्त ही वह पूर्ण शिवभाव में लय हो जाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : (दृष्टान्त) यथा मणिः अतिप्रवीण-वैकटिक-समुद्योतित-नैर्मल्यः सन् समुद्गक-विश्लिष्टत्वात् मलिन अपि धूसरप्रायो भवति। स एव पुनः समुद्गक-उपाधि-विच्छेदे आवरण-विशेष-अभावे स्वच्छ-परमार्थः यथावत् निर्मल-स्वरूपः संपद्यते,

अनुवाद : (दृष्टान्त) जिस प्रकार अतिकुशल मणिकार के द्वारा चमकाई हुई निर्मलता से युक्त रत्न हीरकदान में रखे जाने पर कुछ कुछ मटमैला जैसा बन जाता है। उपरान्त वही रत्न हीरकदान की उपाधि के साथ संबंधविच्छेद हो जाने की दशा में फिर अपने स्वाभाविक निर्मल रूप में चकमने लगता है,

मूलग्रन्थ : (दार्ष्टान्तिक) एवम् अनेन एव प्रकारेण इदं वेदनं सद्गुरु-शासन-विमल-स्थितिः परिपूर्ण-स्वात्मज्ञान-वित् यो दैशिक-प्रवरः तस्य यत् शासनं स्वात्मज्ञान-रहस्य-मुखाम्नायः, तस्य परिशीलनेन विगता कालिकारूपस्य आणवमलस्य मायीय-कार्म-मल-भित्ति-भूतस्य स्थितिः यस्य, तत् एवंविधं मौलिक-मल-प्रक्षयात् नभोरूपम् अपि वेदनं तनूपाधेः तनुः शरीरं तत्-लक्षणा उपाधिः विशेषणं ततो मुक्तं पृथक्-कृतं, विशेषण-अन्तर-अभावात् तत् शिवरूपम् आभाति, एवं देहभङ्गात् परमशिवत्वेन भासते—इति यावत्।

अनुवाद : (दार्ष्टान्तिक) इसी प्रकार आत्मज्ञान की प्रत्यभिज्ञा से युक्त किसी पहुंचे हुए गुरुवर्य के द्वारा वितरित किए गए मौखिक उपदेश का गहरा अनुसन्धान करने के फलस्वरूप, योगी का संवेदन, मायीय और कार्ममलों का आधार बने हुए आणवमल की कालिमा के छितर जाने की स्थिति पर पहुंच जाता है। आणव-मल का पूरा धूंस हो जाने की स्थिति में आकाश की भांति स्वच्छ (=अर्थात् प्रतिबिम्बग्राही या पारदर्शी) बना हुआ योगिसंवेदन (तत्काल चलते हुए) शरीर की उपाधि से भी मुक्त हो जाने, और किसी दूसरी उपाधि का आवरण भी न रहने के कारण (जब तक वह तत्काल चलता हुआ शरीर रहे तब तक) शिवतुल्य रूप में ही आभासमान रहता है। उपरान्त (समय आने पर) उस चलते हुए शरीर के

भी छूट जाने पर पूर्ण परमशिवभाव में लीन होकर (अविनश्वर) ज्योति के रूप में सदा भासमान रहता है।

मूलग्रन्थ : यथा समुद्‌गक-उपाधि-विरहात् मणिः स्व-स्वरूपो भाति, तथा एव स्व-स्वरूप-अवबोधात् विमलम् अपि, अशुद्ध-अभिमत-शरीर-उपाधि-क्षयात् विशुद्धम् एव संवेदनं भासते।

अनुवाद : (संक्षेप में कहने का तात्पर्य इस प्रकार है–)

जिस प्रकार मणिमंजूषा के संपर्क से जनित उपाधि (मटमैली आभासमानता) हट जाने पर, हीरा अपने स्वाभाविक निर्मल रूप में चमकने लगता है, उसी प्रकार, अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हो जाने के फलस्वरूप आगे ही निर्मल बना हुआ योगिसंवेदन, अन्ततोगत्वा, उसी अशुद्ध माने जानेवाली कायिक उपाधि का भी क्षय हो जाने के कारण (अर्थात् शेषवर्तना की अवधि बीत जाने के उपरान्त अशुद्ध भौतिक काया का भी संपर्क छूट जाने के कारण) सर्वशुद्ध शिवसंवेदन के रूप में भासमान रहता है।

मूलग्रन्थ : (शंका) **'ननु मणिः यथा समुद्‌गक-उपाधेः विमुक्त अपि पुनः अन्यतम-उपाधि-परिग्रहात् समलः संपद्यते, तथा एव तनु-उपाधेः मुक्तम् अपि संवेदनं मणिवत् उपाधि-अन्तरं चेत् गृह्णाति, तर्हि पुनः अपि स उपाधित्वात् अशुद्धम् एव'–इति परिहरति 'उपाध्यन्तरशून्यम् अपि'–इति।**

न दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः सर्वथा साम्यं, यतः पिण्डपातात् तस्य महाप्रकाशवपुषः परम-अद्वय-रूपस्य सर्वम् इदम् उपाधि-अभिमतं स्वाङ्गकल्पं भासते, अतो व्यतिरिक्तस्य उपाधि-अन्तरस्य अभावात् न पुनः तत् उपाधि-अन्तरेण विशिष्यते–इति न मणिना उपाधिग्रहणस्य साम्यम्।

अज्ञानमूलं किल शरीर-उपाधि-ग्रहणं, तत् चेत् स्वात्मज्ञान-कुठारेण दलितं कथंकारं पुनः उपाधिसंश्रयो भवेत्? यत् उक्तम्–

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।

(गीता अ० ५, श्लोक १५-१६)

इति गीतासु। तस्मात् स्व-स्वरूप-ज्ञानात् योगिनः स्व-संवेदनं सदा एव शुद्धम् एव–इति।

अनुवाद : (शंका) पूछना यह है कि जिस प्रकार मणिमंजूषा से जनित उपाधि से मुक्त होने पर भी फिर से किसी दूसरी उपाधि का ग्रहण

करने के फलस्वरूप मणि मैला हो जाता है, उसी प्रकार कायिक उपाधि से छुटा हुआ योगिसंवेदन भी, मणि की भाँति अगर किसी दूसरी उपाधि को अपने ऊपर थोंप दे, तो फिर उपाधिग्रस्त बन जाने के कारण, अशुद्ध-संवेदन ही माना जा सकता है?–इस शंका का निवारण 'उपाध्यन्तरशून्यमपि'–इस कारिकाभाग से कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक–इन दोनों में शत प्रतिशत समानता नहीं होती है। चूंकि अवर्णनीय '**महाप्रकाश**'–अर्थात् परमशिवमय प्रकाशमानता के आकारवाले और परम-अद्वैत के रूपवाले योगिसंवेदन को यह सारा उपाधिमय प्रपंच स्वरूप का अकाट्य अंग जैसा ही प्रतीत होता है, अतः उसको कोई भी उपाधि, स्वरूप से इतर न होने के कारण, किसी भी प्रकार से विशिष्ट नहीं बना सकती है। फलतः उपाधियों को स्वीकारने में (मणि और योगिसंवेदन में) पारस्परिक समानता नहीं है।

कायिक उपाधि को अङ्गीकार करने का मूलहेतु अज्ञान होता है। जब आत्मज्ञान के फरसे से उस अज्ञान को ही फाड़ा जाए तो किसी दूसरी उपाधि की टिकान ही कहां से पैदा हो सकती है? जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है–

'ज्ञान पर अज्ञान का आवरण छाया रहता है; उसी से सारे प्राणी मोहित हो रहे हैं; तात्त्विक ज्ञान के द्वारा जिनके आत्मा पर छाया हुआ अज्ञान का आवरण नष्ट हुआ हो, उनका ज्ञान सूर्य की भांति प्रकाशमान होकर परमतत्त्व को प्रकाशित कर देता है।'

(गीता अ०५, श्लोक १५-१६)

फलतः स्वरूपज्ञान के नित उजागर होने के कारण, योगी का संवेदन शाश्वत रूप में निर्मल ही बना रहता है।

कारिका–८९

उपक्रमणिका : "सर्व-उपाधि-उत्पत्तौ यथावत्-परिशीलित-व्यापार-मनः-संस्कार-प्ररूढिः एव निमित्तं, न पुनः नूतनत्वेन किम् अपि आयाति"–इति आवेदयति–

अनुवाद : "(जन्म-जन्मान्तरों से) पूरे मनोयोग के साथ मनन का विषय बनाए हुए मानसिक व्यापार के संस्कारों का, मानसपटल पर

पक्के रूप में जम जाना ही हरेक उपाधि के अभ्युत्थान का मात्र हेतु होता है, बाहर से किसी नए पदार्थ का आगमन नहीं होता है"—इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर रहा है—

मूलकारिका

शास्त्रादिप्रामाण्याद्-अविचलितश्रद्धयापि तन्मयताम्।
प्राप्तः स एव पूर्वं स्वर्गं नरकं मनुष्यत्वम्॥

अन्वय/पदच्छेद : स एव शास्त्र-आदि-प्रामाण्यात् अविचलित-श्रद्धया अपि पूर्वं तन्मयतां प्राप्तः (सन्) स्वर्गं, नरकं, मनुष्यत्वम् (आप्नोति)।

अनुवाद : (वास्तव में) वह संवेदनशील प्रमाता स्वयं (देहत्याग करने से बहुत) पहले ही आगमशास्त्रों में वर्णित अथवा आप्तजनों के द्वारा समझाए गए प्रमाणों से, अथवा अपनी ही अविचल मानसिक लगन से (आगामी स्वर्ग, नरक, या मनुष्यभाव के साथ) तन्मयीभाव को प्राप्त हुआ होने के कारण (देहत्याग करने के उपरान्त) उसी वासना के अनुरूप स्वर्ग, नरक या मनुष्यभाव को प्राप्त कर लेता है।

*(**संकेत** : यहां पर स्वर्ग से ऐकान्तिक सुखमय, नरक से ऐकान्तिक दुःखमय और मनुष्यत्व से सुख-दुःखमय अवस्था का अभिप्राय लेना चाहिए)*

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : आगमप्रामाण्यात्, गुरु-उपदेश-पारम्पर्य-कथनात्, युक्तिपरिशीलनात् प्राक् वासना-प्ररूढ्या श्रद्धया वा स्वात्मज्ञाने, इष्टापूर्ते पाशवे कर्मणि वा कृत-अभ्यासः प्रमाता तदा एव तत्-संस्कार-प्ररोहेण तन्मयतां तत्-तत्-अभ्यस्त-वस्तु-स्वरूपतां प्राप्तः सन्, उत्तरत्र देहपातात् वासना-आनुगुण्येन स्वर्गं निरतिशयां प्रीतिं, नरकं अवीचि-आदि-दुःखं, मनुष्यत्वं सुख-दुःख-उभय-रूपं मनुष्यभावं प्राप्नोति,

अनुवाद : आगमशास्त्रों के प्रमाणों, परंपरा से चले आते हुए गुरूपदेशों के द्वारा वर्णित योग की युक्तियों का गहरा अनुसंधान करने, अथवा, पूर्वजन्म की वासनाओं की परिपक्वता से जन्य श्रद्धा से आत्मज्ञान का अर्जन करने पर लगा हुआ, अथवा इष्टापूर्त जैसे या किसी पाशव (वेदोक्त) कर्म का अभ्यास करनेवाला प्रमाता, उसी समय उसी कर्म का

संस्कार अंकुरित हो जाने से, उसी अभ्यास का विषय बनाए गए वस्तुस्वरूप के साथ संकल्पमयी एकाकारता प्राप्त कर लेता है। आगे चलकर शरीर छूट जाने के उपरांत उसी चिर अभ्यस्त वासना के अनुरूप 'स्वर्ग' अर्थात् अत्यधिक मानसिक सुखमय जीवन, या 'नरक' अर्थात् अवीचि इत्यादि प्रकार के दु:खमय जीवन, अथवा सुख एवं दु:ख की मिश्रित अवस्था के रूपवाले मनुष्य जीवन का भागी बन जाता है।

मूलग्रन्थ : न पुनः अनभ्यस्त-वासनस्य अपि पुरुषस्य देहपातात् एव यत् किञ्चित् आपतति। यतः सर्वः प्रमाता येन आशयेन यत् अभ्यस्यति तदा एव स तत्-रूपो भवति, किं तु मरणसमये स्फुटतया यत् अभिलषितं वस्तु तत् प्रमातुः अभिव्यक्तिं याति,–इति न अभ्यस्तवस्तुनः कदाचित् विपर्ययः स्यात्, न अपि अनभ्यस्त-वस्तु-स्वरूपं किञ्चित् अपूर्वत्वेन आपतेत्,–इति सर्वत्र पूर्व-अभ्यास एव कारणम्–इति भावः।

अनुवाद : ऐसा तो नहीं है कि (जन्मभर) किसी खास वासना को अपने मानसिक संकल्प में पनपने न देने वाले व्यक्ति पर, केवल शरीर छूट जाने से, स्वयं ही कुछ आ पड़ता है। कारण यह कि सर्वसाधारण प्रमाता जिस उद्देश्य को लेकर जैसी वासना को अपने में पनपाने का अभ्यास करने लगता है, उसके साथ 'तत्काल ही' अर्थात् जीवित अवस्था में ही तद्रूप बन जाता है। फलत: उस प्रमाता को (आजन्म) जिस उद्देश्य को प्राप्त करने की अभिलाषा रही हो, मृत्युक्षण पर उसके स्मृतिपटल पर वही भाव स्पष्टरूप में उभर आता है। अत: यह बात स्पष्ट है कि (जन्म भर) एकतान चिंतन का विषय बनाई गई वस्तु (वासना) का अन्यथाकरण किसी भी परिस्थिति में संभव नहीं हो सकता है, और न कोई, पहले कभी भी अभ्यास का विषय न बनाई गई, नई वासना उस प्रमाता को (मुत्युक्षण पर) दबोच लेती है। फलत: निष्कर्ष यह है कि हरेक प्रमाता के संदर्भ में (किसी भी प्रकार की वासना का) पूर्वाभ्यास ही (अनुरूप आगामी जन्म का) कारण होता है।

कारिकाएँ-९०, ९१

उपक्रमणिका : "एवं सदा तत्-भाव-भावितत्वं स्वात्मविदो देह-त्याग-अवसरे पूर्ण-प्रथा-हेतुः, न पुनः लोकपरिदृश्यः पुण्य-अपुण्य-रूपो मरण-अवसरः कश्चित् स्वर्ग-निरय-आदिकारणं परिकल्पनीयम्", इति आह–

अनुवाद : "ऐसी स्थिति में स्वात्मज्ञानी पुरुष के लिए हमेशा आत्मभाव का चिंतन करते रहना ही देहत्याग करने की वेला पर उसमें परिपूर्ण स्वरूपज्ञान को उजागर बनाने का कारण बन जाता है, न कि (तत्काल पास बैठे हुए) जनसमुदाय को पुण्यरूप या अपुण्यरूप दिखाई देनेवाला मृत्युकाल जैसा और कोई स्वर्गप्राप्ति या नरकगमन का निर्णायक कारण मन में गढ़ लेना उचित है"–इसकी चर्चा करता है–

मूलकारिकाएँ

अन्त्यः क्षणस्तु तस्मिन् पुण्यां पापां च वा स्थितिं पुष्यन्।
मूढ़ानां सहकारीभावं गच्छति गतौ तु न स हेतुः॥
येऽपि तदात्मत्वेन विदुः पशुपक्षिसरीसृपादयः स्वगतिम्।
तेऽपि पुरातनसंबोधसंस्कृतास्तां गतिं यान्ति॥

अन्वय/पदच्छेद : अन्त्यः क्षणः तु पुण्यां पापां च स्थितिं पुष्यन् मूढानां सहकारीभावं गच्छति, तु स तस्मिन् गतौ हेतुः न भवति।

ये अपि पशु-पक्षि-सरीसृप-आदयः (मृत्युकाले) स्व-गतिं तत्-आत्मत्वेन विदुः ते अपि पुरातन-संबोध-संस्कृताः (सन्तः) तां गतिं यान्ति।

अनुवाद : अन्तिम मृत्युक्षण तो (देखने में) उसकी आगामी पुण्यमयी या पापमयी स्थिति की पुष्टि करता हुआ जैसा (वास्तव में उन पास बैठे हुए) अज्ञानी जनों को ही (उसके विषय में ऐसी वैसी गति का निर्धारण करने में) सहायक बन जाता है, जबकि वह उसकी वास्तविक आगामी गति निर्धारित करने का हेतु नहीं बन जाता है–

जो भी कोई पशु, पक्षी या रेंगकर चलने वाले सांप इत्यादि (मानवेतर) जीव (मृत्युक्षण पर) अपनी आगामी गति को आत्मभाव के रूप में जान पाते हैं, वे भी तो (निश्चय से) अपने किसी पुरातन जन्म में पाये हुए आत्मबोध से ही संस्कृत होने के कारण वैसी गति को प्राप्त करते हैं।

संकेत : *यहां पर ग्रन्थकार ने ९१वीं कारिका में पशु-पक्षियों का उल्लेख करके, प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित गजेन्द्रमोक्ष, जड़भरत आख्यान, काकभुशुंडि आख्यान तथा राजा नहुष एवं नृग के आख्यानों को, यह कहकर कि-'उन आख्यानों में वर्णित हाथी, मृग, कौआ, सांप, गिरगिट*

जैसे मानवेतर प्राणियों को पुरातन आत्मबोध के संस्कारों से ही मृत्युक्षण पर आत्मस्मृति उजागर हो गई थीं'–सिद्ध ठहराया है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : एवं प्रतिपादिते ज्ञानिनि अन्त्यः क्षणः चरमो देह-विनाश-सहभावी कालो धातु-दोष-वशेन दुष्ट-व्याधि-अनुभवात् वा समीपस्थितैः प्रमातृभिः अनुमितां पुण्यां पापमयीं वा स्थितिं पुष्यन् सेवमानः सन् मूढानां देह-आत्म-मानिनां प्रमातॄणाम् एव सहकारीभावं कारणत्वं गच्छति।

अनुवाद : इस प्रकार से वर्णित ज्ञानी के संदर्भ में 'अंतिम क्षण' अर्थात् शरीर छूट जाने का ठीक सहभावी पल, (मरणकाल पर उसके शरीर में होनेवाले) वात, पित्त आदि धातुओं के प्रदूषण के प्रभाव से, अथवा उसकी सांघातिक व्याधि का अनुभव हो जाने कारण से, तत्काल पास बैठे हुए प्रमाताओं के द्वारा अटकल से निश्चित की जानेवाली उसकी आगामी पुण्य या पापमयी गति का अनुमोदन जैसा करता हुआ (वास्तव में) उन देहात्ममानी मूढ़जनों की (मनगढंत) अटकलबाजी का ही कारण बन जाता है।

मूलग्रन्थ : गच्छतु वराकः, न एतावता निर्भग्न-देह-आत्म-मानित्वे, सदा स्वात्ममहेश्वर-निभालन-चतुरे तस्मिन् योगिनि सः अन्त्यः क्षणो गतौ देहात् देहान्तरप्राप्तौ हेतुः कारणं भवेत्।

अनुवाद : अस्तु, वह शोचनीय क्षण उनका कारण बनता रहे, परंतु इतने से ही वह, देहात्ममानिता की भावना को मसलनेवाले और अपने अंतस् में एकडाल स्वात्म महेश्वरभाव का अखंड साक्षात्कार करते रहने में सिद्धहस्त योगी के विषय में देह छूट जाने के उपरान्त दूसरा (अपने ही अनुगुण) देह प्राप्त करवाने का कारण नहीं बन जाता है।

मूलग्रन्थ : कुतः एतत् आगतम्?–इति निदर्शयन् आह 'येऽपि' –इति–

ये अपि केन अपि आशयवशेन शाप-आदिना वा पापयोनयः पशुरूपताम् अपि प्राप्ताः स्वगतिम् आत्मस्थितिं मरण-अवसरे आत्मत्वेन जानीयुः, ते मूढाः सन्तः अपि प्राक्-अभ्यस्त-स्वात्मज्ञान-वासना-प्रबोध-अनुगृहीताः स्वात्मस्थितिं च लभन्ते।

अनुवाद : यह विचार बीच में ही कहां से आ टपका?–इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने के अभिप्राय से 'येऽपि'–इत्यादि कारिका प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

जो भी कोई, किसी भी (पूर्वकालीन) वासना अथवा शाप आदि के प्रभाव से पापयोनियों में पड़कर पशु-पक्षियों का रूप धारण करने वाले जीव, मरणक्षण पर (अकस्मात्) अपनी आगामी स्थिति को आत्मरूप में ही जान पाते हैं, वे (देखने में) अज्ञानी जीव होते हुए भी किसी पूर्वजन्म में अभ्यस्त आत्मबोध की वासना के उजागर हो जाने से अनुगृहीत होकर (उसी वासना के अनुरूप आगामी) आत्मगति को पाते हैं।

मूलग्रन्थ : गजेन्द्र-मोक्षण-आदौ यथा हस्तिना पशुस्वभावेन अपि सता प्राक्-परिशीलित-परमेश्वर-भक्ति-संस्कार-प्रबुद्धेन विष्णुं भगवन्तं स्तुत्वा सम्यक् कञ्चुकं विहाय स्व-स्वरूपम् उपलब्धम्, कः तत्र स्मरणे हेतुः अभूत्?

अनुवाद : गजेन्द्रमोक्ष इत्यादि आख्यानों में जिस प्रकार पशु का स्वभाव धारण करते हुए भी गजेन्द्र ने, अपने किसी पूर्वजन्म में की हुई परमेश्वर की अनन्य भक्ति का संस्कार उजागर होने पर भगवान् विष्णु की स्तुति करने के फलस्वरूप पूर्णतया षट्कंचुक को तिलाञ्जलि देकर अपने वास्तविक स्वरूप को पा लिया। वहां पर उसकी आत्मस्मृति के उजागर होने का कौन सा कारण मौजूद था?

मूलग्रन्थ : अयं भावः–

शरीर-आदि-उत्थ-धातु-दोष-वशात् काष्ठ-पाषाण-चेष्टो ज्ञानी पुण्यं पापम् आल-बिडाल-आदिकं वा यत् किञ्चित् प्रलपन् देहं त्यजति, न एतावता स्वस्थचेष्टतया यत् अभ्यस्तं ज्ञान-आदिकं तस्य विप्रलोपः स्यात्, शरीर-आदि-गताः धर्माः शरीर-आदौ-एव निपतन्ति, न पुनः सदा भावितं वस्तु स्थगयितुं प्रभवन्ति,–इति आमरण-क्षणं सर्वत्र प्ररूढिः एव परमार्थः। यथा गीतासु उक्तम्–

'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥'

(गीता अ० ८, श्लोक ६)

तथा–

'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥'

(गीता अ० १०, श्लोक १०)

इति भावित-अन्तःकरणता एव पर्यन्त-गति-दान-हेतुः।

अनुवाद : भाव यह है–

(मरणक्षण पर) शरीर आदि से ही उद्भूत होनेवाले धातुप्रदूषण के प्रभाव से लकड़ी या पत्थर की भांति चेष्टाहीन बना हुआ ज्ञानीजन जो कुछ भी अच्छा या बुरा ऊलजलूल बकता हुआ शरीर छोड़ देता है, मात्र उतने से ही उसकी चिर अभ्यस्त आत्मचेतना लुप्त नहीं होने पाती क्योंकि (उस अवस्था में भी) उसकी सारी चेष्टाएं अंदर से आत्मभाव में ही केन्द्रित होती हैं। शरीर इत्यादि के साथ संबन्धित धर्म शरीर इत्यादि को ही प्रभावित करने में सक्षम होते हैं। वे तो, किसी भी सूरत में, हमेशा भावना का विषय बनाए गए 'वस्तु' अर्थात् आत्मभाव का स्थगन नहीं कर पाते हैं। फलतः मरण क्षण तक आत्मभाव पर अविचल रहना ही सार्वत्रिक परमार्थ है। जैसा गीता में कहा गया है–

"हे कुन्ती के पुत्र! संसारी जीव अन्तकाल पर जिस जिस भाव स्मरण करते करते देहत्याग करता है (मरणोपरान्त) उसी भाव को प्राप्त होता है क्योंकि वह हमेशा उसी भाव से भावित होता है।"

(गीता अ० ८, श्लोक ६)

और–

"(हे अर्जुन!) निरंतर 'मेरे'–अर्थात् आत्मभाव के चिंतन में मग्न रहनेवाले और श्रद्धा से मेरा भजन करनेवाले भक्तों को मैं वैसा बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे स्वरूप में लीन हो जाते हैं।"

(गीता अ० १०, श्लोक १०)

इसलिए अंतःकरणों का (किसी भी भाव से) भावित होना ही पार्यन्तिक गति को देनेवाला कारण बन जाता है।

कारिकाएँ-९२, ९३

उपक्रमणिका : "एवं दर्शितदृष्टया यतः सदा तद्भावभावितत्वम् अपहस्त्य नूतनत्वेन शरीरविनाशे न अपूर्वं किञ्चित् समापतेत् ज्ञानिनः, यतो

देह एव विनाशी, केवलं स एव विनश्यति, न पुनः वासनाप्ररोहः'–इति दर्शयन् आह–

अनुवाद : 'इस प्रकार से समझाई गई दृष्टि के अनुसार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शरीर छूट जाने की वेला पर, ज्ञानीजन के सदा परमात्मभाव से भावित होने के स्वभाव का निराकरण करके, कोई बिल्कुल नई और पहले कभी भी भावना का विषय न बनाई गई वासना स्थानापन्न होने की तनिक् भी संभावना नहीं होती है। कारण यह कि (पाञ्चभौतिक) देह ही नश्वर होता है, नाश केवल उसी का होता है न कि (सदाभावित) वासना के अंकुर का।"–इस विषय को दर्शाने के अभिप्राय से (अगली कारिकाएँ) बतला रहा है–

मूलकारिकाएँ

स्वर्गमयो निरयमयस्तदयं देहान्तरालगः पुरुषः।
तद्भङ्गे स्वौचित्याद्देहान्तरयोगमभ्येति॥
एवं ज्ञानावसरे स्वात्मा सकृदस्य यादृगवभातः।
तादृश एव तदासौ न देहपातेऽन्यथा भवति॥

अन्वय/पदच्छेद : तत् अयं देह-अन्तराल-गः पुरुषः स्वर्गमयः निरयमयः तत्-भङ्गे स्व-औचित्यात् देह-अन्तर-योगम् अभ्येति।

एवं ज्ञान-अवसरे अस्य स्वात्मा सकृत् यादृक् अवभातः असौ सदा तादृशः एव (भवन्) देहपाते अन्यथा न भवति॥

अनुवाद : (ऐसी स्थिति होने के कारण, काया के मध्यवर्ती अवकाश में रहनेवाला यह (चेतन) पुरुष 'स्वर्गमय' अर्थात् सुखोत्पादक वासना से ओतप्रोत, अथवा 'नरकमय' अर्थात् दुःखोत्पादक वासना से आवृत होता हुआ, शरीर छूट जाने के उपरान्त उन्हीं वासनाओं के अनुरूप दूसरे शरीर के साथ जुड़ जाता है।

इसी प्रकार आत्मज्ञान का एकबारगी अधिगम होने की वेला पर इसको आत्मभाव का जैसा रूप अवभासित हो जाता है वैसा ही सदा सर्वदा के लिए बना रहता है, अतः देहपात होने से उसके अवभास में कोई अन्यथाभाव नहीं हो जाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : तत् तस्मात् शरीर-घट-आदि-निविष्टः पुरुषः सर्वस्य **कार्म-मल-अधिवासितः आत्मा स्वर्ग-आदि-अभिप्राय-पूर्व-कृत-कर्म-फल-वासना-वासित-अन्तःकरणः स्वर्गमयः प्ररूढ-स्वर्ग-फल-वासना-विशिष्टत्वात् स्वर्गफल-भोक्ता-इति यावत् एवं दुष्कृत-पूर्व-कर्म-वासना-प्ररूढो नरकफल-भोक्ता (भवति)।**

अनुवाद : इसलिए (जड़) शरीर अथवा इतर घट इत्यादि पदार्थों के अंतराल में बैठा हुआ 'पुरुष' अर्थात् सबों का कार्ममल की वासनाओं से कलुषित आत्मा, पूर्व जन्मों में स्वर्ग आदि प्राप्त करने की कामनाओं को लेकर अर्जित किए गए कर्मफलों की वासनाओं से मलिन अंतःकरणों वाला होने की दशा में 'स्वर्गमय'-अर्थात् स्वर्ग पाने की वासना से विशिष्ट होने के कारण स्वर्गफल का उपभोक्ता, अथवा, पूर्वजन्मों में अर्जित किए हुए बुरे कर्मों की वासनाओं की परिपक्वता के कारण नरकफल का उपभोक्ता बना होता है।

मूलग्रन्थ : केवलं देहः उभय-कर्मफल-भोग-आयतनम्। 'तत् भङ्गे स्वौचित्यात्'–इति–

तस्मिन् देहक्षये स्वस्य आत्मनो यथा-आहित-वासना-आनुगुण्यात् अन्येन भोग-आयतनेन शरीर-अन्तरेण समनन्तरं संबन्धम् उपयाति, उत्तरकालं येन विशिष्ट-कर्म-वासना-दत्त-फल-भोग-भागी भवति।

अनुवाद : मात्र शरीर ही दोनों प्रकार के कर्मफलों का उपभोग करने का आश्रय होता है। 'तद्भङ्गे स्वौचित्यात्'–इत्यादि कारिकाभाग का तात्पर्य इस प्रकार है–

शरीर छूट जाने के उपरान्त (वह आत्मा) अपनी ही वासनाओं के अनुरूप दूसरे 'भोगायतन'-(सुख या दुःख का उपभोग करने के आश्रय) शरीर के साथ संबन्ध जोड़ देता है जिससे आगामी काल में (अपनी ही पूर्वकालीन) 'विशिष्ट' अर्थात् सुखमय या दुःखमय वासनाओं से मिलनेवाले फलभोग का भागी बन जाता है।

मूलग्रन्थ : तथा एव ज्ञान-अवसरे उपदेश्यस्य गुरु-उपदिष्ट-स्वात्म-प्रकाशन-काले स्वात्मा चैतन्यं सकृत् एकवारं यादृक् यादृशः अवभातः उपदेश-क्रम-अनुसारेण परिपूर्ण-स्वातन्त्र्य-लक्षणां मितां वा परामर्शदशां गतः, तादृश एव सदा असौ येन एव स्वरूपेण ज्ञानिना स्वात्मा सर्वकालं

परामृष्टः ताद्रूप्येण वासना-प्ररोहात् तस्य प्रथते, न पुनः देहपाते प्रकाशितः अपि स्वात्मा ज्ञानिनः अन्यथा समाच्छादितो भवति।

अनुवाद : उसी प्रकार 'ज्ञान का अधिगम होने के समय' अर्थात् गुरु महाराज के (मौखिक) उपदेश के द्वारा उस शिष्य की अंतः-चेतना में आत्म-स्वरूप का प्रकाशन हो जाने की वेला पर, जिस रूप में 'एकबारगी आत्म-अवभासन' अर्थात् उपदेश के तारतम्य के अनुसार परिपूर्ण स्वातन्त्र्य के रूपवाली, या, परिमित स्वातन्त्र्य के लक्षणों वाली परामर्शदशा में रूप में चेतना पर अंकन हो जाता है, वह सदा के लिए वैसा ही बना रहता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानी जन के द्वारा प्रतिसमय आत्मभाव का जैसा रूप विमर्श का विषय बनाया गया हो, उसके अंतस् में उसी रूप के अनुरूप वासना के अंकुरित हो जाने के कारण वैसे ही रूप में अवभासित होता रहता है। ऐसी कोई भी आशंका नहीं कि उस ज्ञानी का निज आत्मभाव प्रकाशित हो जाने पर भी, देह छूट जाने पर विपरीत रूप में (किसी नई वासना के द्वारा) आच्छादित हो जाए।

मूलग्रन्थ : न हि भातम् अभातं स्यात्, अपरथा न कश्चित् किञ्चित् अभ्यसेत्–इति सर्व-व्यवहार-विप्रलोपः भवेत्,

'धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः॥"
इत्यादि सर्वं च त्रुट्येत्।

तस्मात् मरणकाले शरीरं यथा अस्तु तथा अस्तु, केवलं वासना-प्ररोहः स्वात्मगतः सर्वस्य बन्धे मोक्षे च हेतुः–इति।

अनुवाद : जिस वस्तु का (एकबारगी) आभासन हुआ हो, निश्चय से उसके फिर अनाभासमान होने की संभावना नहीं होती है। यदि परिस्थिति इससे विपरीत होती तो कोई साधक किसी प्रकार का अभ्यास ही नहीं करता और फल यह होता कि सारे का सारा (आध्यात्मिक) व्यवहार ही ठप हुआ होता। (साथ ही–)

'धर्म का पालन करने से ऊर्ध्वगति, अधर्म का मार्ग अपनाने से अधोगति, ज्ञान का अर्जन करने से मुक्ति और विपरीत आचरण करने से बंधन मिलता है।' इत्यादि प्रकार की सारी (शास्त्रीय व्यवस्था) एकदम खंडित हुई होती।

अतः मृत्यु की वेला पर शरीर की जैसी दशा होनी हो हो जाए, केवल आत्मा के साथ संबन्धित वासना अंकुर ही सबों के लिए बंधन या मुक्ति का हेतु बन जाता है।

कारिकाएँ-९४, ९५

उपक्रमणिका : 'यदि पुनः धातुवैषम्यात् शरीरे मरण-व्यथा-उपलब्धिः स्यात्, न एतावता अभ्यास-प्ररोहे काचित् क्षतिः'–इति आवेदिताम् एव स्थितिम् उपलब्धुं परिघटयते–

अनुवाद : 'यदि परिस्थिति ऐसी भी हो कि (ज्ञानीजन को) मरणकाल पर धातुओं में विषमता उत्पन्न हो जाने से मृत्युपीड़ा आक्रान्त करे, तो भी इतने से ही उसके आत्म-अभ्यास की गति में कोइं रुकावट नहीं पड़ती है'–इस स्थिति की यद्यपि पहले ही समीक्षा की गई है, तो भी पूर्णरूप से हृदयंगम बनाने के लिए इसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिकाएँ

करणगणसंप्रमोषः स्मृतिनाशः श्वासकलिलताच्छेदः।
मर्मसु रुजाविशेषाः शरीरसंस्कारजो भोगः॥
स कथं विग्रहयोगे सति न भवेत्तेन मोहयोगेऽपि।
मरणोवसरे ज्ञानी न च्यवते स्वात्मपरमार्थात्॥

अन्वय/पदच्छेद : (ज्ञानिनः अपि) विग्रह-योगे सति करणगण-संप्रमोषः, स्मृति-नाशः, श्वास-कलिलता, मर्मसुच्छेदः, रुजा-विशेषाः, स शरीर-संस्कार-जः भोगः कथं न भवेत्? तेन मरण-अवसरे मोह-योगे अपि ज्ञानी स्वात्म-परमार्थात् न च्यवते।

अनुवाद : भला (ज्ञानीजन को भी) शरीर के साथ संबन्ध होने पर, 'इन्द्रियवर्ग का अपने अपने काम से निवृत्त होना, स्मृति का नाश होना, श्वास एवं प्रश्वास दोनों में रुकावट आना, संधिस्थानों की हड्डियों का त्रोटन और विशेष प्रकार की पीड़ा का अनुभव–इत्यादि प्रकार का, शरीर के संस्कार से उत्पन्न होनेवाला मृत्युभोग क्योंकर नहीं हो सकता है? इसलिए (मरणसमय पर) मोह के साथ योग होने पर भी वह ज्ञानी आत्मविमर्श रूपी परमार्थ से डिगता नहीं है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : करणगणस्य बाह्य-अन्तर्गतस्य त्रयोदशात्मकस्य सम्यक् प्रमोषः स्वरूप-विप्रलोपः, यथा चक्षुः-आदीनि इन्द्रियाणि रूप-आदि-विषय-पर्यालोचनायां न प्रगल्भन्ते, वाक्-आदि-कर्मेन्द्रियाणि अपि एवं वचन-आदान-आदौ न प्रवर्तन्ते, न अपि बुद्धिः यथार्थम् अर्थम् अध्यवस्यति, मनसः अनवस्थितिः, अहङ्कारः अपि मध्ये मध्ये संस्कारतया आस्ते,

अनुवाद : दस बाहरी और तीन भीतरी कुल मिलाकर तेरह इन्द्रियों की क्रियाशीलता का लुप्त हो जाना,–उदाहरणार्थ आँख इत्यादि पांच ज्ञानेन्द्रियां अपने संबन्धित ग्राह्य-विषयों का पर्यालोचन नहीं कर सकती हैं, इसीप्रकार वाणी इत्यादि पांच कर्मेन्द्रियां भी बोलना, ग्रहण करना इत्यादि अपने नियत कार्यों का संपन्न करने की ओर प्रवृत्त नहीं होती हैं, बुद्धि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का अध्यवसाय (निश्चय) नहीं कर पाती है, मन की स्थिति डाँवाडोल हो जाती है और बीच बीच में (कायिक) अहंकार भी संस्काररूप में उभरता रहता है,

मूलग्रन्थ : तथा स्मृतिनाशः अनुभूत-विषयस्य संप्रमोषः -बन्धुभिः अर्थ्यमानः अपि मुमूर्षुः पुरः अवस्थितं वस्तु शतशः अनुभूतम् अपि न प्रत्यभिजानाति, अत एव सदा तद्भावभावितत्वं विना ब्रह्मविद्या-आदि-कथनम्, अन्तकाले दानम् अन्यत् किञ्चित् वा तस्याम् अवस्थायां नभः-चित्रम् इव न चित्ते प्ररोहति–किन्तु तत् 'इति कर्तव्यता-मात्रम्'–कार्यं इति नियोगः।

अनुवाद : उसी प्रकार स्मृति का भ्रंश हो जाता है अर्थात् पहले के अनुभूत पदार्थ एकदम भूल जाते हैं। मरणासन्न व्यक्ति बंधुजनों के द्वारा बार बार प्रार्थना किए जाने पर भी सामने पड़े पदार्थों, जिनको उसने सौ सौ बार देखा-सुना भी होता है, को पहचान नहीं पाता है। यही कारण है कि ऐसे (मरणासन्न) व्यक्तियों, जो हमेशा से परमात्मभाव से भावित न हों, को (उस वेला पर) ब्राह्मविद्या इत्यादि सुनाई जाती है। अन्तकाल पर उस अवस्था में पड़े हुए व्यक्ति के चित्त में दान इत्यादि करने का संकल्प, आकाश में चित्र की भांति, स्थिर नहीं होने पाता है, परन्तु शास्त्रीय नियोग समझकर केवल इतिकर्तव्यता के रूप में अन्त्यदान करवाना ही चाहिए।

मूलग्रन्थ : तथा श्वासः कण्ठ्यो वायुः, तस्य कलिलता कण्ठदेशे गद्गदिका हिक्का वा। अन्यत् च मर्मसु च्छेदः अस्थि-संधिषु त्रोटः। तथा

रुजाविशेषाः ज्वर-अतीसार-प्रभृतयः-इति।

अनुवाद : उसी प्रकार श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति में 'कलिलता' अर्थात् गले में कफ का अवरोध जमा होने या हिचकी लगने से अटकाव उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त मर्मस्थानों पर हड्डियों का त्रोटन, और ज्वर, अतिसार (एक प्रकार का उदर रोग) इत्यादि प्रकार के विशेष रोगों का आविर्भाव हो जाता है।

मूलग्रन्थ : एवं यः शरीरस्य भूतकञ्चुकस्य वात-पित्तश्लेष्म-धातु-वैषम्यात् शरीर-संस्कार-जो भोगः देहजो दुःख-अनुभवः, स कथं केन प्रकारेण विग्रहयोगे सति ज्ञानिन अपि न भवेत् स्यात् एव। तेन हेतुना ज्ञानी सदा अधस्पदी-कृत-देह-आदि-अभिमानः समाविष्ट-स्वात्ममहेश्वर-भावः च, मरण-क्षण-जनित-शरीर-अज्ञान-सम्बन्धे अपि स्वात्मपरमार्थात् प्ररूढ-चैतन्य-प्रत्यवमर्श-सतत्त्वात् न च्यवते न अन्यथाभावं याति।

अनुवाद : इसी प्रकार 'शरीर' अर्थात् पांच महाभूतों से बने हुए स्थूलकंचुक के वात, पित्त एवं कफ इन तीनों धातुओं में वैषम्य उत्पन्न होने के कारण जो कायिक संस्कार से उत्पन्न होनेवाला दुःखभोग होता है, वह ज्ञानीजन को भी, तत्काल शरीर के साथ संबन्धित होने पर क्योंकर नहीं हो सकता है, अर्थात् अवश्य हो सकता है। इसी कारण से ज्ञानवान व्यक्ति, जो हमेशा शरीर इत्यादि जड़भावों आत्म-अभिमान रखने पर के स्वभाव का बहिष्कार करके स्वात्महेश्वरभाव में समाविष्ट हुआ होता है, मृत्युकाल पर स्वाभाविक रूप में उत्पन्न होनेवाले कायिक अज्ञान के साथ संबन्धित हो जाने पर भी, परिपक्व चित्-विमर्श के सारवाले स्वात्मपरमार्थ-भाव से डिगता नहीं है।

मूलग्रन्थ : यतः असौ ज्ञानी न्यक्कृत-देह-सम्बन्धः न तज्जेन भोगेन तन्मयीकर्तुं पार्यते, केवलं लोकवत् चेत् शरीरपातसमनन्तरं क्षणं न उपलभते,-इति एतावता तस्य स्वस्थहृदयस्य स्व-सङ्कल्पित-अभिप्रायेन स्वस्थचेष्टतया अभ्यस्त-भगवत्-भक्तेः न किञ्चित् अपूर्वं समापतति, तस्मात् ज्ञानी स्वात्म-प्रथा-समनन्तरम् एव मुक्तः, न शरीर-संस्कारः अस्य बन्धदायी, -इति शतशः प्राक् प्रतिपादितम्।

अनुवाद : इसका कारण यह है कि उस ज्ञानी व्यक्ति ने अपने शरीरसम्बन्ध को पूर्णरूप से दुतकारा होता है, अतः शरीरसम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाला कर्मफल का भोग उसको 'तन्मय'-अर्थात् वैसे कर्मफल का

उपभोक्ता बनाने में सक्षम नहीं होता है। केवल जनसाधारण की भांति अगर वह तात्कालीन शरीर छूट जाने के उपरान्त किसी दूसरे मरणक्षण का भागी नहीं बन जाता है, तो भी इतने से ही उस स्वस्थ हृदयवाले और अपने संकल्पित उद्देश्य को पाने के अभिप्राय से स्वस्थ चेष्टाओं वाला बनकर भगवान की भक्ति का चिर-अभ्यस्त बने हुए पुरुष के साथ कोई विलक्षण घटना नहीं घटती है। इसलिए पहले भी सैंकडों बार यह बात सिद्ध की गई है कि ज्ञानी पुरुष स्वरूप-प्रत्यभिज्ञा प्राप्त करने के तत्काल ही मुक्त हुआ होता है और कायिक संस्कार उसका बंधन नहीं बन जाते हैं।

मूलग्रन्थ : यः तु सदा देह-आत्ममानी पुण्य-पाप-मयः, स कथं देह-संस्कार-उद्धूत-सुख-दुःख-आदि-भोग-जनितं तन्मयत्वं न आयाति? यत् उक्तम्–

'यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥'

(गीता अ० १४, श्लोक १४) इत्यादि।

सत्त्वादयो गुणाः प्रकृतिधर्माः तन्मयस्यैव नियन्त्रणां विदधते, येन पुनः ततो विविक्तया परिशीलिता न तं प्रति एते केचन,–इति ज्ञानिनः अन्यः एव पन्थाः।

अनुवाद : इसके प्रतिकूल जो पुरुष हमेशा (भौतिक) काया पर ही आत्म-अभिमान रखनेवाला और पुण्य एवं पाप दोनों की मिश्रित प्रकृति का व्यक्ति हो, उसको कायिक संस्कारों से ही उत्पन्न होनेवाले सुखमय या दुःखमय फलभोग के लिए अपेक्षित 'तन्मयीभाव'–अर्थात् उपभोक्ताभाव का भागी क्यों न बनना पड़े? अर्थात् उसको अवश्य बनना पड़ता है। जैसा कि इस सन्दर्भ में–

'जब मनुष्य जीवनभर अनथक प्रयत्नों से अपने में सत्त्वगुण की वृद्धि करता हुआ मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह उत्तम ज्ञानियों को मिलने वाले निर्मल लोकों को प्राप्त कर लेता है'।

(गीता अ० १४, श्लोक १४)

इत्यादि बातें कही गई हैं।

(असल में वस्तुस्थिति यह है कि–) सत्त्व आदि तीन गुण प्रकृति के धर्म हैं, अतः वे उसी जीव को नियन्त्रित कर सकते हैं जो अभी 'तन्मय' अर्थात् तीन गुणों के झमेले में ही फंसा हो। उसके प्रतिकूल जो

(ज्ञानवान) प्रमाता हमेशा इनको आत्मा से बिल्कुल भिन्न समझता रहा हो, उसके लिए इनका कोई अर्थ ही नहीं होता है, अतः ज्ञानीजन का मार्ग ही निराला होता है।

मूलग्रन्थ : ये पुनः अदृष्ट-गुरुचरणाः पशुप्रमातारः ते स्वगतान् धर्मान् अन्यत्र आपादयन्ति यथा–'यदि अयं ज्ञानी स्यात् किम् इति व्याधि-आदि-उपहत-शरीरो भुङ्क्ते परिदधाति च? यदि वा मरणसमये जाड्यम् आयातः, स्मृतम् अनेन न किञ्चित्,–इत्येवं बहुप्रकारम् अविद्या-उपहतत्वात् विवदमानाः च केन पर्यनुयुज्यन्ताम्?

अनुवाद : जिन पशुप्रमाताओं को कभी मान्य गुरुचरणों का दर्शन करना भी नसीब न हुआ हो, वे अपने अंदर की दुर्बलताओं को दूसरों के मत्थे मढ़ते रहते हैं, उदाहरणार्थ–'यदि अमुक व्यक्ति ज्ञानवान होता तो शरीर में व्याधि इत्यादि का प्रकोप होते हुए भी क्यों खाना खाता और कपड़े-लत्ते पहनता है? अथवा यदि (कोई ज्ञानी) मरणक्षण पर अचेत हो जाए तो कहने लगते हैं–'अरे यह तो स्मृति ही खो बैठा'। इस प्रकार (स्वयं) अज्ञान की अवस्था में पड़े हुए होने के कारण ऐसे निःसार विषयों को लेकर आपस में वाद-प्रतिवाद करने में लगे हुए उन पशुओं के साथ कौन (बुद्धिमान) पूछापाछी करने बैठे?

मूलग्रन्थ : यदि अयं ज्ञानी स्यात् देह-धर्म-संस्कार-युक्तः च भवेत्, किम् एतावता च तस्य दुष्येत्?–

ज्ञानिनः स्वात्मप्रकाशः तत्-तत्-अवस्था-विचित्रः अपि स्वात्मप्रकाशः एव, न पुनः तस्य स्वात्म-अनुभवितृतया विप्रलोपः स्यात्, येन ज्ञानं नश्येत्, पूर्ण-षाड्गुण्य-महिमा अपि भगवान् वासुदेवः कृष्ण-अवतारे व्याध-शर-आघात-जनित-व्यथः भूतशरीरं त्यक्तवान्,–इति एवं कृत्वा किं तस्य जगत्प्रभोः स्व-स्वरूप-विप्रलोप अभूत?–इति।

अनुवाद : (शंका–) अब अगर यह ज्ञानवान प्रमाता ज्ञानी होने के साथ साथ शरीर धर्म के संस्कारों को भी धारण करता हो, तो क्या मात्र इतने से ही उसके दूषित होने की संभावना है?–

(समाधान–) ज्ञानी पुरुष का आत्मप्रकाश भिन्न भिन्न प्रकार की अवस्थाओं के प्रभाव से विचित्र बनने पर भी आत्मप्रकाश ही बना रहता है। स्वयं ही अनुभावी सत्ता होने के कारण उसका अस्तित्त्व मिट जाने की कोई संभावना नहीं होती है, जिसके फलस्वरूप ज्ञान का नाश हो जाए।

कृष्ण-अवतार में पूरे छः माहेश्वरधर्मों की महिमा से परिपूर्ण भगवान् वासुदेव ने मामूली व्याध के तीर की चोट से पीड़ित होकर भौतिक काया को छोड़ दिया, तो क्या ऐसा होने से उस जगत्-प्रभु के वास्तविक भगवत्-स्वरूप का लोप हुआ?

मूलग्रन्थ : आ-कीटात् सदाशिव-अन्तस्य-अपि देहसंस्कारः एतादृशः एव, किन्तु एकः स्वात्म-प्रत्यवमर्श-मात्र-सनाथ-देहः, अपरः तु देह-आदि-आत्ममानिता-सतत्त्वः,-इति इयान् विशेषः। तस्मात् शरीरधर्माः ज्ञानि-अज्ञानिनोः सदृशाः एव, न एतावता फलसाम्यम्,-इति एतत् एव गीतासु उक्तम्-

'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति'॥

(गीता अ० ३, श्लोक ३३)

अनुवाद : कीटाणु से लेकर सदाशिव-प्रमाता तक के जीवधारियों में कायिक-संस्कार समान ही होता है, परन्तु दोनों में केवल इतना अन्तर है कि 'एक' अर्थात् आत्मज्ञानी के देह में आमूलचूल आत्म-विमर्श का समावेश हुआ होता है, जब कि 'अपर'-अर्थात् पशुप्रमाता में केवल शरीर इत्यादि पर आत्म-अभिमान रखने की प्रवृत्ति उजागर होती है। इसलिए ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के कायिक-धर्म समान ही होते हैं, परन्तु दोनों में फल की समानता नहीं होती है। भगवद्गीता में भी इसी सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है-

'सभी देहधारी अपनी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपनी प्रकृति के ही अनुरूप कर्म करते हैं। ज्ञानीजन भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है, अतः इसमें किसी का हठ क्या करेगा?'

(अभिनवगुप्त के मतानुसार इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार है-)

'सर्वसाधारण प्रमाताओं की अपेक्षा ज्ञानीजन की जीवनचर्या में कोई विपर्यास नहीं होता है। वह भी तीन गुणों के अनुरूप चेष्टा करता है। शरीर के पांच भूतों का विलय प्रकृति में होता है, आत्मा अकर्ता होने के कारण नित्ययुक्त ही है, अतः किसके जन्म-मरण का निग्रह करने की आवश्यकता है?

(गीता अ० ३, श्लोक ३३)

कारिका-९६

(अक्रम शक्तिपात)

उपक्रमणिका : इदानीम् अक्रमेण क्रमेण च ज्ञान-योग-परिशीलने विचित्र-पर-शक्तिपातम् एव कारणं प्रतिपादयन् फलभेदम् आह–

अनुवाद : अब ज्ञानमार्ग अथवा योगमार्ग दोनों का, 'क्रमरहित' अर्थात् आकस्मिक एवं स्वत:सिद्ध दैवी प्रेरणा से, और 'क्रमसहित' अर्थात् सिद्ध गुरुजनों की सपर्या करके उनसे मिले हुए उपदेशक्रम को अपनाने से, अनुसंधान करने में अतिमुग्धकारी परशक्तिपात को ही मात्र कारण ठहराने के साथ, इनके पारस्परिक फलभेद को समझा रहा है–

मूलकारिका

परमार्थमार्गमेनं झटिति यदा गुरुमुखात् समभ्येति।
अतितीव्रशक्तिपातात् तदैव निर्विघ्नमेव शिवः॥

अन्वय/पदच्छेद : यदा एनं परमार्थ-मार्गं अति-तीव्र-शक्तिपातात्, गुरुमुखात् झटिति समभ्येति, तदा एव निर्विघ्नं शिवः एव (भवति)।

अनुवाद : जब (कोई भी पुण्य कर्मा व्यक्ति) इस (शास्त्र में समझाए हुए) परमार्थ के मार्ग को, परमेश्वर के तीव्रतम शक्तिपात या गुरुमुख से पलकभर में पा लेता है, (तब वह) तत्काल ही किसी अवरोध के बिना शिव ही (बन जाता है)।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : यस्मिन् एव काले जनः पश्चिमजन्मा गुरुमुखात् प्रवर-दैशिक-वक्त्रात् एनं शतशः प्रतिपादितं परमार्थमार्गं पूर्णस्वातन्त्र्यलक्षणं स्वात्मसंबोध-मुखाम्नाय-रहस्य-सरणिं यः कश्चित् अभ्येति समभियाति, स तदा एव तस्मिन् एव अवसरे गुरु-उपदेश-समनन्तरम् एव अनन्तरायं कृत्वा शिव एव स्यात्। श्रीकुले यथा उक्तम्–

'हेलया क्रीडया वापि आदराद्वाथ तत्त्ववित्।
यस्य संपातयेद् दृष्टिं स मुक्तस्तत्क्षणात् प्रिये॥' इति।

अनुवाद : जो कोई 'जन'-अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा हुआ व्यक्ति, (दैव योग से) जिसका चलता हुआ जन्म अन्तिम हो, जिस समय सिद्ध गुरु महाराज के मुखारबिन्द से, 'इस'-अर्थात् प्रस्तुत शास्त्र में

सैंकड़ों बार समझाए गए परिपूर्ण (आत्मिक) स्वातन्त्र्य के लक्षणों वाले 'परमार्थमार्ग' अर्थात् गुरुमुख से अनावृत होनेवाले आत्मबोध के रहस्यमय मार्ग को पकड़ लेता है, वह 'तत्काल'-अर्थात् गुरूपदेश का श्रवण करने के ही क्षण पर, सारे विघ्नों को परास्त करके साक्षात् शिव ही बन जाता है। जैसा श्रीकुल (कुलार्णव) शास्त्र में कहा गया है–

'हे देवि! तत्त्व को जानने वाला सिद्धपुरुष जिस किसी पर भी, हंसी-मज़ाक में, खिलवाड़ में अथवा आदर की भावना से दृष्टि डालता है, वह उसी क्षण से मुक्त हो जाता है।'

मूलग्रन्थ : ननु कथम् एवंविधं मुखाम्नाय-रहस्यम् एव उपनयेत्? –इति आह 'अतितीव्रशक्तिपातात्'–इति।

अतिशयेन तीव्रः कर्कशो य असौ अनुग्रह-आख्यायाः पारमेश्वर्याः शक्तेः पातः पशु-हृत्-कमल-अवतरणं, येन पशुः अपि गुरु-आम्नाय-वेदनात् शिवीभवति, जीवन् एव मुक्तः–इति यावत् यथा–ताम्रद्रव्यं सिद्धरसपातात् सुवर्णी-भवति।

अनुवाद : प्रश्न यह उठता है कि केवल मुखाम्नाय (गुरूपदेश) के द्वारा हृदयंगम होनेवाला रहस्य ही क्योंकर ऐसी स्थिति पर पहुंचाने के लिए सक्षम होता है? इस शंका का समाधान करने के अभिप्राय से 'अतितीव्र शक्तिपातात्'–इस कारिकाभाग को प्रस्तुत कर रहा है–

परमेश्वर की अनुग्रह नामवाली एवं अवर्णनीय भगवती शक्ति के अत्यन्त 'तीव्र'-अर्थात् मानसिक दुर्बलताओं का शिकार बने हुए व्यक्तियों के द्वारा सहन करने के अयोग्य, 'पात'-अर्थात् पशुजन के हृदयकमल में अवतरित होने को 'शक्तिपात' कहते हैं। इसकी महिमा से (अज्ञानी) पशुप्रमाता भी गुरुमुख के रहस्य को एकदम बोधगम्य बना सकने के कारण (पलकभर में) उसी प्रकार शिवभाव को प्राप्त कर लेता है अर्थात् जीवन्मुक्त बन जाता है, जिस प्रकार तांबा सिद्धरस (पारद से बनाया हुआ रसविशेष) का संपर्क होते ही सोना बन जाता है।

मूलग्रन्थ : अयम् अर्थः–

परमेश्वर-अनुग्रह-उपाय एव स्वात्मज्ञान-लाभः,-इति न अत्र नियतिशक्ति-समुत्थं जप-ध्यान-यज्ञ-आदिकम् उपायतया क्रमते। अनुग्रहशक्ति-विद्ध-हृदयस्य तु हठात् एव अक्रमं देवता-मुखाम्नाय-रहस्यं हृदयम् आवर्जयति, येन झटित्येव परमेश्वरी-भावं याति,–इति अपर्यनुयोज्यो विचित्रः पारमेश्वरः शक्तिपातः–इति।

अनुवाद : तात्पर्य यह कि आत्मज्ञान की उपलब्धि केवल परमेश्वर के अनुग्रहरूपी उपाय से ही हो जाती है, अतः इस दिशा में नियति-शक्ति (परमेश्वर की ही संसारभाव को संचालित करने वाली दूसरी शक्ति) के द्वारा जीवन पानेवाले जप, ध्यान एवं यज्ञ इत्यादि प्रकार के (कर्मकाण्डीय) विधि-विधान उपाय नहीं बन पाते। जिस व्यक्ति के हृदय में (परमेश्वर की) अनुग्रहशक्ति चुभ गई, उसके हृदय को, देवमुख से ही अवतरित हुए आम्नाय (अद्वैत शैव आम्नाय) का रहस्य, एकदम सारे क्रमों को ठुकरा कर हठपूर्वक इस तरह आत्मसात् कर देता है कि वह झट से (तुरन्त परमेश्वरभाव पर प्रतिष्ठित हो जाता है। अतः परमेश्वर का शक्तिपात, अतिविलक्षण होने के कारण, तर्कवितर्क का विषय बनाए जाने की कोई भी संभावना नहीं है।

कारिका-९७

(सक्रम योगमार्ग)

उपक्रमणिका : 'यस्य पुनः मध्य-मन्द-मन्दतर-आदि-भेदेन प्रवृत्तः शक्तिपातः, तस्य गुरूपदेशम् आमरणक्षणं यावत् योगक्रमेण विमृशतः, पिण्डपातात् शिवत्वं स्यात्'-इति प्रतिपादयति-

अनुवाद : 'उल्लिखित स्थिति के प्रतिकूल जिस व्यक्ति पर मध्य, मन्द, मन्दतर इत्यादि प्रकार का शक्तिपात हुआ हो, उसको मृत्युक्षण तक शैव योगक्रम के द्वारा गुरु के उपदेश का विमर्श करते रहने पर ही, शरीर छूट जाने के उपरान्त शिवभाव प्राप्त करने की संभावना होती है'-इस बात को समझा रहा है-

मूलकारिका

सर्वोत्तीर्णं रूपं सोपानपदक्रमेण संश्रयतः।
परतत्त्वरूढिलाभे पर्यन्ते शिवमयीभावः॥

अन्वय/पदच्छेद : सर्व-उत्तीर्णं रूपं सोपान-पद-क्रमेण संश्रयतः पर-तत्त्व-रूढि-लाभे पर्यन्ते शिवमयी-भावः (भवति)।

अनुवाद : (जो मंद अधिकारी साधक योगक्रम में समझाए गए कंद, नाभि, हृदय इत्यादि ऊपर ऊपर वाले धारणास्थानों की) सीढ़ियों को लांघने के योगक्रम का अभ्यास करने के द्वारा सबसे उत्कृष्ट रूप (शिव

भाव) का आश्रय ले रहा हो, वह परतत्त्व की भूमिका पर स्थिरता प्राप्त करने की दशा में मृत्यु के उपरान्त शिव-स्वभाव की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : एवं किल शक्तिपात-मन्दत्वात् पूर्ण-ज्ञान-उपदेश-अनासादनेन सर्व-उत्तीर्णं रूपं सर्व-तत्त्व-पर्यन्त-वर्ति-स्वभावं संश्रयतः साक्षात्कुर्वतः,

कथम्?–इति आह 'सोपानपदक्रमेण' –इति–

कन्द-नाभि-हृत्-कण्ठ-लम्पिका-बिन्दु-नाद-शक्ति-रूपाणि सोपानानि ऊर्ध्वम् आक्रमणाय तीर्थानि एव, तेषां पदम् आसादनं तत्र हान-आदन-रूपः क्रमः शनैः शनैः कन्दे ततो नाभौ ततो हृदि,–इति एवम् आक्रमणं तेन–इति। एवं यावत् परमार्थ-प्ररोह-उपलब्धौ पिण्ड-पात-अवसरे योगिनः तस्य क्रमेण शिवता-स्वभावा स्थितिः भवति।

अनुवाद : (मंद अधिकारियों के संदर्भ में) निश्चित व्यवस्था इस प्रकार है कि मंद स्तर के शक्तिपात का भागी होने के कारण (गुरुमुख से) अविकल आत्मज्ञान का उपदेश प्राप्त कर लेने में असफल रहते हुए भी, सारे तत्त्वप्रपंच की पार्यन्तिक विश्रान्ति भूमिका बने हुए 'स्वभाव' अर्थात् स्वयंसिद्ध परमात्मभाव का साक्षात्कार कर लेने पर तत्पर रहनेवाला योगी,

"(शंका–) किस उपाय से (साक्षात्कार करने का इच्छुक)? इसका समाधान 'सोपानपदक्रमेण'–इस कारिकाभाग में प्रस्तुत कर रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

(योगक्रम के अनुसार) कंद, नाभि, हृदय, कंठ, लम्बिका, बिन्दु, नाद एव शक्ति–ये सारे धारणास्थान क्रमबद्ध सीढ़ियां हैं अर्थात् उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगति प्राप्त करने के पुनीत स्थान हैं। (गुरु से सिखलाए गए प्राणाभ्यासक्रम को अपनाकर) इनमें से पिछले पिछले धारणास्थान को लांघकर ऊपर ऊपर वाले धारणास्थान पर आरोह करने के तार को पकड़कर, धीरे धीरे पहले कंदस्थान को पीछे छोड़कर नाभिस्थान पर आरोह, उपरान्त नाभिस्थान को पीछे छोड़कर हृत्स्थान पर आरोह, इसी क्रम से अगले अगले ऊर्ध्वस्थान पर आरोह करते रहने की प्रक्रिया का

नियमित अभ्यास करते करते अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता जाता है।

फलतः वह तब तक इस प्राणाभ्यासक्रम का अभ्यास चालू रखता है जब तक उसको अपने आप में परमार्थ के अंकुरित होने की नहीं हो जाती है। इसी क्रम से उस योगी की शरीर छूट जाने की वेला पर शिवमय स्वभाव की अवस्था प्राप्त होती है।

कारिकाएँ-९८, ९९

उपक्रमणिका: 'एवम् अपि क्रमयोगम् अभ्यस्यतो योगिनः, समाश्वस्तस्य-अपि सतः, तथा रूढिः न स्यात्-अभीष्ट-प्राप्तौ अन्तरायो जायते, यदि परम् अनासादित-तत्त्वस्य मरणं स्यात् तदा किं भवेत्'?–इति आशङ्कां परिहरति–

अनुवाद: 'इस उपदेश के अनुसार ही क्रमबद्ध योगाभ्यास करनेवाला योगी, (अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने में) विश्वस्त होने पर भी, अगर (किसी अतर्कित कारणवश)-१-पूर्णतया परमार्थभूमिका पर आरूढ़ न हो सके–क्योंकि अभीष्ट वस्तु पाने में अवश्य बाधा आती है, और २-परमार्थतत्त्व का साक्षात्कार करने के बिना ही मर जाये, तो क्या होगा'?–इस शंका का निवारण करता है–

मूलकारिकाएँ

तस्य तु परमार्थमयीं धारामगतस्य मध्यविश्रान्तेः।
तत्पदलाभोत्सुकचेतसोऽपि मरणं कदाचित्स्यात्॥
योगभ्रष्टः शास्त्रे कथितोऽसौ चित्रभोगभुवनपतिः।
विश्रान्तिस्थानवशाद्भूत्वा जन्मान्तरे शिवीभवति॥

अन्वय/पदच्छेद : तु तत्-पद-लाभ-उत्सुक-चेतसः अपि कदाचित् मध्य-विश्रान्तेः परमार्थमयीं धाराम् अगतस्य तस्य मरणं स्यात्, असौ शास्त्रे योगभ्रष्टः कथितः, चित्र-भोग-भुवन-पतिः भूत्वा (पुनः) विश्रान्ति-स्थान-वशात् जन्मान्तरे शिवीभवति।

अनुवाद : किंतु (ऐसे योगी के विषय में निर्णय इस प्रकार है–) उस अवर्णनीय पदवी को प्राप्त करने के लिए उत्सुक होते हुए भी (दैवयोग से) किसी बिचले धारणास्थान पर ही अटक जाने के कारण,

अगर यथार्थ आत्मज्ञान की धारा पर अधिरूढ़ होने से पहले ही, उसकी मृत्यु हो जाए तो उसको शास्त्र में योगभ्रष्ट की संज्ञा दी गई है।

वह (किसी निर्धारित अवधि के लिए) विचित्र सुखभोगों से संपन्न भुवनों का अधिपति बनने के उपरान्त आगामी जन्मान्तर में फिर उसी अटकाव के स्थान से योगाभ्यास आरम्भ करके, अन्ततोगत्वा, शिवस्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : एवम् उल्लङ्घन-क्रमेण योगम् अभ्यस्यतः केन अपि अन्तरायेण मध्यविश्रान्तेः कुत्रचित् चक्राधारे अपि अनुभव-उपलब्धेः तत्र एव परितोषं गतस्य, अत एव परमार्थमयीं धाराम् अगतस्य परतत्त्व-रूपां प्रतिज्ञातां दशां सर्वअध्व-उत्तीर्णाम् अप्राप्तवतो, यदि वा तत्-पद-लाभ-उत्सुक-चेतसः-अपि प्रतिज्ञात-परमार्थ-सत्ता-आसादन- साभिलाषस्य अपि कदाचित् मध्ये विपत्तिः सम्भाव्यते।

तदा एतस्य उपलब्ध-लाभस्य अपि पिण्डपातात् का गतिः?-इति आह 'योगभ्रष्टः' इत्यादि।

अनुवाद : इस प्रकार 'उल्लंघन क्रम के द्वारा'–अर्थात् पूर्वकारिका में वर्णित कंद, नाभि इत्यादि धारणास्थानों में से निचले निचले धारणास्थान से उपरीले उपरीले धारणास्थान पर उत्क्रान्ति करने के क्रम को अपनाने के द्वारा, प्राणाभ्यास करनेवाला योगी, किसी भी प्रकार का अवरोध उत्पन्न हो जाने के कारण किसी बिचले धारणास्थान पर ही अटक जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि किसी आधारचक्र जैसे निचले धारणास्थान पर भी, किसी प्रकार की अनुभूति हो जाने के कारण उतनी ही आध्यात्मिक उपलब्धि से संतुष्ट होकर, उसी स्थान पर (भ्रान्ति से) अटक जाता है, और फलस्वरूप, (वर्ण, मन्त्र, पद, कला, तत्त्व और भुवन इन) छहों अध्वाओं से अतिगत परमतत्त्व की अवस्था, जिसको अवश्य प्राप्त करने की प्रतिज्ञा उसने अपने मन में की होती है, पर अधिरूढ़ नहीं होने पाता है। अथवा यह भी संभव हो सकता है कि उसके मन में पारमार्थिक-सत्ता का साक्षात्कार पाने का दृढ़ संकल्प भी रहा हो, और वह उस लक्ष्य को पाने के लिए अति उत्सुक भी रहा हो, परन्तु बीच में ही कोई दैवी विपदा आ पड़ने के कारण, अपने उद्देश्य को पूरा करने में सफल न हो सका हो।

वैसी परिस्थिति में पारमार्थिक लाभ प्राप्त न करने पर भी शरीर के छूट जाने पर उसकी आगामी दशा कैसी होगी?–इस आशय से 'योगभ्रष्टः'–इत्यादि कारिका बतला रहा है–

मूलग्रन्थ : य योगात् समाधेः उभयथा भ्रष्टः चलितः शास्त्रे आगम-ग्रन्थे कथितः उक्तः।

कीदृक् भवेत्?–इति आह 'चित्र' इत्यादि–

पिण्डपातात् एव चित्र-भोगानि नाना-आश्चर्य-स्त्री-अन्न-पान-माल्य-वस्त्र-अनुलेपन-गीत-वाद्य-आदि-प्रधानानि यानि भुवनानि स्व-विश्रान्ति-अनुगुणानि तत्त्वेश्वर-स्थानानि, तेषु पतिः ईश्वरो भवति मरण-समनन्तरम् एव दिव्यैः भोगैः युज्यते–इति यावत्

अनुवाद : वैसे प्राणाभ्यासी को दोनों रूपों में 'योग' अर्थात् समाधि का भंग हो जाने के कारण आगमशास्त्रों में योगभ्रष्ट की संज्ञा दी गई है।

(वैसी अवस्था में मरणोपरान्त) उसके कैसा बनने की संभावना है?–'चित्र' इत्यादि शब्दों में इस शंका का समाधान प्रस्तुत कर रहा है–

देह छूट जाने के उपरान्त ही वह, उसी अपने विश्रान्तिस्थान के अनुरूप, नाना प्रकार की आश्चर्यजनक अंगनाएं, खान, पान, मालाएँ, पहिरावे, उबटन, गायन, वाद्य इत्यादि सुखभोग की सामग्री के भंडारों से भरपूर तत्त्व-अधिपतियों के लोकों में से किसी का अधिपति बन जाता है–अर्थात् मृत्यु के उपरान्त तत्काल ही उसका संबन्ध दिव्य भोगों के साथ जुड़ जाता है।

मूलग्रन्थ : तत्-भोग-अधिकार-परिक्षये पुनः अपि स योगभ्रष्टः कथं स्यात्?–इति आह 'विश्रान्ति' इत्यादि–

विश्रान्ति-स्थानस्य कन्द-आदेः प्रदेशस्य वशात् तत्-अभ्यास-संस्कार-प्रबोध-सामर्थ्यात् स जन्मान्तरे द्वितीये जन्मनि भूत्वा संसारे अधिकारि-शरीरं योग-अभ्यास-योग्यं प्राप्य, पूर्व-अभ्यस्तं योगम्-अप्रयासेन स्वीकृत्य, हेलया परमार्थमयीं प्राक्-जन्म-प्रतिज्ञातां दशाम् अधिरुह्य, पिण्डपातात् शिव एव भवति।

अनुवाद : कंद इत्यादि किसी निचले धारणास्थान, जहां पर बीच ही में उसकी समाधि भंग हुई हो, का संस्कार उजागर हो जाने के सामर्थ्य से, वह जन्मान्तर में फिर योगाभ्यास करने के योग्य अधिकारी-शरीर को

पाकर, और, किसी विशेष प्रयत्न के बिना, उसी विश्रान्तिस्थान से दुबारा योगाभ्यास आरम्भ करके, उसी (सबसे) पहले वाले जन्म में दृढ़ता से संकल्पित परमार्थमयी दशा पर अति सरलता से अधिरूढ़ होकर, शरीर छूट जाने के उपरान्त, शिव ही बन जाता है।

कारिकाएँ-१००, १०१

उपक्रमणिका : 'अथ अभ्यस्यतः अपि योगं योगिनो मनश्चाञ्चल्यात् विश्रान्तिम् एकदेशे-अपि मनाक्-अपि अलभमानस्य, योगं प्रति श्रद्धावतः च, पिण्डपातात् का गतिः स्यात्'? इति आह–

अनुवाद : 'अब अगर (संयोगवश) कोई योगी भरसक योग का अभ्यास करते रहने के साथ साथ पूरा श्रद्धालु भी हो, परन्तु मानसिक चञ्चलता की प्रबलता के कारण, चित्त को अपने वांछित लक्ष्य पर थोड़ी देर के लिए भी स्थिर बनाने में असफल रहता हो, उसको (ऐसी ही डाँवाडोल परिस्थिति में) शरीर छूट जाने के कारण कौन सी गति मिलने की संभावना है'?–इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर रहा है–

मूलकारिकाएँ

परमार्थमार्गमेनं ह्यभ्यस्याप्राप्य योगमपि नाम।
सुरलोकभोगभागी मुदितमना मोदते सुचिरम्॥
विषयेषु सार्वभौमः सर्वजनैः पूज्यते यथा राजा।
भुवनेषु सर्वदेवैर्योगभ्रष्टस्तथा पूज्यः॥

अन्वय/पदच्छेद : एनं परमार्थ-मार्गम् अभ्यस्य, योगम् अपि नाम अप्राप्य, हि सुरलोक-भोग भागी मुदित-मना सुचिरं मोदते।

यथा सार्वभौमः राजा विषयेषु सर्व-जनैः पूज्यते, तथा योगभ्रष्टः भुवनेषु सर्व-देवैः पूज्यः (भवति)।

अनुवाद : (योगी/ज्ञानी-जन) इस 'परमार्थमार्ग'-अर्थात् उच्चतम प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए अपेक्षित योग/ज्ञान-क्रम का अभ्यास करते रहने पर भी (दैवयोग से) पूरी स्वरूप-प्रत्यभिज्ञा प्राप्त न कर लेने की दशा में, निश्चयपूर्वक, चिरकाल तक प्रसन्न मन से, देवलोक में सुखभोग करते रहने का आनन्द प्राप्त करता है।

जिस प्रकार चक्रवर्ती सम्राट् सारे देशों में सारे प्रजाजनों के द्वारा पूजा जाता है, उसी प्रकार योगभ्रष्ट साधक भी सारे भुवनों में सारे देवताओं के द्वारा पूजनीय बन जाता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : एनम् इति शतशः प्रतिपादितं स्व-आत्म-ज्ञान-सतत्त्वं पन्थानम् अभ्यस्य श्रद्धा-भक्तिभ्यां सेवित्वा अपि चित्तदोष-अनवस्थानेन यथावत् योग-लक्षणां विश्रान्तिं जन्म-मध्ये अपि अनधिगतः सन्, मृतः चेत्, तदा स योगभ्रष्टो ज्ञान-योग-विषय-प्ररूढ-श्रद्धा-भक्ति-प्रसाद- सामर्थ्येन देवलोक-भागी स-आह्लाद-चित्तः सुचिरं कालं हर्षं प्रयाति, सुरैः अपि भुवनेषु निज-निज-स्थानेषु पूज्यो भवति।

अनुवाद : प्रस्तुत कारिका में 'एनम्' यह शब्द इन सौ कारिकाओं में भली-भांति समझाए गए आत्मज्ञान की उपलब्धि करवाने के लिए सक्षम 'मार्ग' अर्थात् ज्ञानक्रम एवं योगक्रम के रूपवाले उपायक्रम को ध्वनित कर रहा है। यदि कोई साधक श्रद्धा एवं भक्ति से इस उपायक्रम का सेवन (अभ्यास) करने पर भी, चित्त की कलुषता से जनित अनियमितता के कारण, जीते जी ही, पूर्णरूप में, परतत्त्व के साथ योग होने के आकारवाले विश्राम को प्राप्त करने के विना देहत्याग करे, तो वह योगभ्रष्ट होकर ज्ञान एवं योग का अभ्यास करने से रूढ़ बनी हुई श्रद्धाभक्ति की शुद्धता के बल से, किसी देवलोक में पहुंचकर १–चिर काल तक आनन्दपूर्ण चित्तवाला बन जाता है, और २–देवताओं के द्वारा भी अपने अपने भुवन में पूजा जाता है।

मूलग्रन्थ : कः इव?– इति आह 'सार्व' इत्यादि–

'यथा सार्वभौमो राजा सप्त-द्वीप-ईश्वरो राजा चक्रवर्ती विषयेषु नाना-मण्डलेषु सर्व-जनैः पूज्यते समभ्यर्च्यते, तथा एव अयं प्रक्षीण-पुण्य-अपुण्य-विषयः, समुत्पन्न-वैराग्यः, पश्चिम-जन्मा, वन्द्य अस्माकं–यस्य स्वात्मनि जिज्ञासार्थं प्राक्-जन्मनि उद्यम अभूत्'–इति सुरैः अपि स्तूयते–इति यावत्।

अनुवाद : कौन जैसा? –इसके समाधान में 'सार्व' इत्यादि कारिकाभाग बतला रहा है। तात्पर्य इस प्रकार है–

जिस प्रकार कोई सातों द्वीपों का शासक चक्रवर्ती राजा अलग अलग देशों में सारे प्रजाजनों के द्वारा पूजा जाता है, उसी प्रकार सारे

देवताओं के द्वारा भी–'इस भद्रजन के पुण्य एवं अपुण्य दोनों प्रकार के कर्मफल बहुत क्षीण हो गए हैं, इसके अंतस् में वैराग्य की भावना अंकुरित हो चुकी है, वर्तमान जन्म इसका अन्तिम जन्म है, यह हमारे लिए वंदनीय है, और यह वही योगी है जिसने पूर्वजन्म में आत्म-परिचय प्राप्त करने की दिशा में भरसक उद्यम किया है'–इन शब्दों में योगभ्रष्ट साधक का यशोगान किया जाता है।

कारिका–१०२

उपक्रमणिका : **'तस्य लोकान्तर-भोग-अधिकार-निवृत्तेः अनन्तरं किं स्यात'?–इति आह–**

अनुवाद : 'इतर लोकों में जाकर सुखभोग करने का अधिकार समाप्त हो जाने के उपरान्त उसकी आगे की दशा कैसी होगी'?–इस विषय में बतला रहा है–

मूलकारिका

महता कालेन पुनर्मानुष्यं प्राप्य योगमभ्यस्य।
प्राप्नोति दिव्यममृतं यस्मादावर्तते न पुनः॥

अन्वय/पदच्छेद : महता कालेन पुनः मानुष्यं प्राप्य, योगम् अभ्यस्य, दिव्यम् अमृतं प्राप्नोति, यस्मात् पुनः न आवर्तते।

अनुवाद : बहुत समय बीत जाने के उपरान्त फिर मानवशरीर को पाकर और (उसी अधूरा रहे हुए) योगक्रम का फिर से अभ्यास करके लोकोत्तर अमृत (जन्म-मरण से रहित अवस्था) प्राप्त कर लेता है जिससे फिर कभी भी वापस नहीं लौटता है।

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : **देवलोकेषु यथा-निर्दिष्टेषु भोगान् भुक्त्वा, अतिदीर्घेन कालेन स योगभ्रष्टः संसारे अस्मिन् मनुष्यभावम् आगत्य, योग-अभ्यास-साधन-योग्यं शरीरम् आसाद्य प्राक्-जन्मनि मनः–चाञ्चल्यात् यो योगो दुष्प्राप अभूत्, तम् एव योगं प्राक्-जात-भक्ति-श्रद्धा-प्ररूढ-योगवासना-संस्कार-प्रबोधम् अनायासेन प्राप्य समभ्यस्य च, देह-अन्ते दिव्यम् अमृतं परतत्त्व-स्वरूपम् उपलभते पर-स्वरूपता-दार्ढ्यं गच्छति–इति यावत्। अत एव तस्मात् पुनःआवर्तनं तस्य न स्यात्–इति।**

अनुवाद : तात्पर्य इस प्रकार है–

वह योगभ्रष्ट साधक ऊपर वर्णन किए गए देवलोकों में स्वर्गिक सुखों का चिरकाल तक उपभोग करने के उपरान्त, फिर इस संसार (मर्त्यलोक) में मनुष्यभाव को पाकर अर्थात् योगाभ्यास का साधन बन जाने के योग्य शरीर को धारण करके, पूर्वजन्म में मानसिक चञ्चलता के कारण परिपूर्ण परिणति पर न पहुंचे हुए योगाभ्यास के तार को अनायास ही फिर से (उसी बिंदु से) पकड़ लेता है, क्योंकि उसके अंतस् में वह (अधूरा रहा हुआ योगक्रम), उसी पूर्वजन्म में अंतस् में उपजी हुई श्रद्धा-भक्ति के प्रभाव से रूढ़ बनी हुई योगवासना के संस्कार से स्वयं ही उजागर हो जाता है। अनन्तर दृढ़ अभ्यास के द्वारा उसको पूर्ण परिणति पर पहुंचाने के फलस्वरूप वह मरणोपरान्त दिव्य अमृत को प्राप्त कर लेता है–भाव यह कि परमतत्त्व की भूमिका पर पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी कारण से उसको फिर कभी भी (संसारभाव में) वापस नहीं लौटना पड़ता है।

मूलग्रन्थ : एवं महति कल्याणे स्वात्म-ज्ञान-विषये मनाक् अपि प्रत्यवमर्शः संसार-सरणाय न भवति। यत् उक्तं गीतासु–

'नेहा भिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥'

(गीता अ०२, श्लोक ४१)

इति। यथा–

'अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिम् (कां गतिं कृष्ण गच्छति?)

(गीता अ० ६, श्लोक ३७)

इत्यादि-प्रश्नात् आरभ्य

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'॥

(गीता अ० ६, श्लोक ४५)

इति उत्तरपर्यन्तो ग्रन्थो मुनिना प्रतिपादित अपि स्मर्तव्यः–इति।

अनुवाद : फलतः अति श्रेयस्कर आत्मज्ञान के विषय में थोड़ा सा भी अनुसंधान करते रहना संसारभाव में भटकते रहने नहीं देता है, जैसाकि गीता में इस प्रकार का उपदेश दिया गया है–

'(हे अर्जुन!) इस बुद्धियोग (कर्मयोग) में आरम्भ का नाश नहीं है, इसमें किसी प्रकार का उलट-फेर नहीं है, इसका थोड़े से थोड़ा अंश

भी (आवा-गमनरूपी) महान भय से रक्षा करता है।

(गीता अ० २, श्लोक ४१)

इसके अतिरिक्त गीता में ही–

'(हे भगवान कृष्ण!) जो साधक श्रद्धालु होता हुआ भी संयमी न होने के कारण (अन्तकाल पर) योग से विचलित हो जाए–(वह किस गति को पाता है?) (गीता अ०६, श्लोक ३७) इत्यादि प्रश्नग्रन्थ से आरम्भ करके–

'अनेक पूर्वजन्मों के संस्कारवश वर्तमान जन्म में सिद्धिलाभ करके परम गति को पाता है'।

(गीता अ० ६, श्लोक ४५)

इस उत्तरग्रन्थ तक का सारा भाग यद्यपि व्यासमुनि ने ही प्रतिपादित किया है, तो भी स्मरणीय है–तात्पर्य यह कि यहां पर प्रस्तुत मंतव्य के साथ मेल नहीं खाता है।

कारिका-१०३

उपक्रमणिका : 'एवम् अनेन ज्ञान-योग-क्रमेण जन्तोः मनाक् अपि स्पृष्टस्य सतः, इयान् विभूति-अतिशयो यः प्रवक्तुं न पार्यते, तस्मात् सर्वात्मना विवेक-आर्द्र-हृदयैः जन्म-मरण-निवृत्तौ सावधानैः भाव्यम्'–इति निरूपयति–

अनुवाद : 'इस प्रकार से अगर किसी जन्म-मरण-शील प्राणी को प्रस्तुत ज्ञानक्रम या योगक्रम का आंशिक स्पर्श भी हो जाए, तो उसको उपलब्ध होनेवाली विभूति के अतिशय का वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता है, अतः आत्म-विवेक से सिञ्चित हृदय वाले जनों को, जन्म-मरण की पीड़ा मिटाने की दिशा में, सर्वात्मभाव से सावधानी से काम लेना चाहिए–इसका निरूपण कर रहा है–

मूलकारिका

तस्मात् सन्मार्गेऽस्मिन् निरतो यः कश्चिदेति स शिवत्वम्।
इति मत्वा परमार्थे यथातथापि प्रयतनीयम्॥

अन्वय/पदच्छेद : 'तस्मात् अस्मिन् सन्मार्गे यः कश्चित् निरतः स शिवत्वम् एति–इति मत्वा यथा-तथा अपि परमार्थे प्रयतनीयम्।

अनुवाद : 'इसलिए इस कल्याणमय मार्ग पर जो कोई भी (जन्तु) कदम रखे वह अवश्य शिवत्व का भागी बन जाता है'–इस पर श्रद्धा रखकर परमार्थ को प्राप्त करने की दिशा में जिस किसी प्रकार से भी प्रयत्न करते रहना चाहिए।

संकेत *: यहां पर उपक्रमणिका में 'जन्तोः' शब्द का प्रयोग करने से इस बात का संकेत दिया गया है कि शैवमार्ग में केवल किसी खास व्यक्ति की ही अधिकारिता का प्रश्न नहीं है, इसमें कारिकांक ९१ में वर्णित स्थिति के अनुसार कोई भी परमार्थ के अधिगम का इच्छुक व्यक्ति, यहां तक कि ईश्वरीय अनुग्रह के भागी पशु, पक्षी भी, अधिकारी हैं।*

योगराजीय व्याख्या

मूलग्रन्थ : यत एवं स्वात्म-प्रत्यवमर्श-अभ्यासः प्रतिपादित-क्रमवशात् उत्तम-फल-लाभः, तस्मात् एतस्मिन् सुशोभने मार्गे प्रकृष्ट-मुक्ति-प्रापके पथि यः कश्चित् निरतः-इति अधिकारि-नियम-अभावः प्रदर्शितः।

अनुवाद : चूंकि परिस्थिति ऐसी है कि ऊपर समझाए गए (ज्ञान या योग के) क्रम पर चलने के प्रभाव से, आंतरिक आत्म-अनुसंधान करने के अभ्यास में दृढ़ता आ जाती है, और उससे 'उत्तम फल' अर्थात् निःश्रेयस् की उपलब्धि हो जाती है, अतः (ग्रन्थकार) इस स्पष्टीकरण को प्रस्तुत कर रहा है कि अति उत्कृष्ट मुक्तिधाम पर पहुंचाने वाले इस मनभावन मार्ग पर जो कोई भी पग धरने में जुट जाए, उसके लिए अधिकारी होने के नियम का कोई प्रतिबंध नहीं है।

मूलग्रन्थ : यः कश्चित् जनो जनन-मरण-व्याधि-आदि-क्लेश-शत-परिपीडितो निरतो विवेक-बुद्धया निःशेषेण रतः तत्र एव श्रद्धधानो भूत्वा निमग्नः, स जन्तुः अचिरात् लघुना-एव कालेन शिवत्वम् एति सकल-सांसारिक-क्लेशान् अवधूय पर-श्रेयोरूप-दशाम् एकेन एव जन्मना प्राप्नोति।

अनुवाद : जो कोई भी जन्म, मरण, व्याधि इत्यादि प्रकार के सैकडों क्लेशों से पीड़ित एवं जन्म-मरणशील व्यक्ति, पूरी लगन, सत्विवेक और सर्वात्मभाव से इस शोभन मार्ग पर आगे ही आगे बढ़ता जाए, वह अति अल्पकाल में ही सारे सांसारिक दुःखों को परास्त करके, एक ही जन्म में, परम कल्याण (पूर्ण मुक्ति) के रूपवाली दशा को प्राप्त कर लेता है।

मूलग्रन्थ : यथा शिवधर्मोत्तरे शास्त्रे–

'इहैकभविको मोक्ष एष तावत्परीक्ष्यताम्।

अनेकभविका मुक्तिर्भवतां केन वार्यते॥'

इति मत्वा एवं विमृश्य तस्मिन् परमार्थे यथा तथा येन तेन अपि प्रकारेण प्रयतनीयं प्रकर्षेण समुद्यमः कार्यः।

अनुवाद : जैसा कि शिवधर्मोत्तर शास्त्र में ऐसा उल्लेख किया गया है–

'इस शैवमार्ग में एक ही जन्म में मुक्ति मिल जाती है, अतः पहले इसी का परीक्षण कीजिए, आपकी अनेक जन्मों में सिद्ध होने वाली मुक्ति पर भी तो भला रोक कौन लगा रहा है?'

इस कथन को मान्यता देकर उस परमार्थ का अनुसंधान करने के विषय में जिस किसी भी प्रकार से विशेष उद्यम (उद्यमो भैरवः) करते रहना चाहिए।

मूलग्रन्थ : 'प्रधाने यत्नः फलवान्'–इस कृत्वा अत्र अर्थे मनाक् अपि अवलेपो न विधेयः, येन योग-अभ्यासेन स्वात्म-प्ररूढिः चेत् समुत्पन्ना सिद्धं नः समीहितम्, न चेत् दिव्य-लोकान्तर-प्राप्तिः, ततोऽपि प्रत्यावृत्तस्य प्राक्-समभ्यस्त-योग-वासना-प्रबोधबलेन पुनः अपि योगसम्बन्धः,–इति श्रेयोमार्ग-परिशीलनात् न विरुद्धं किञ्चित् कर्तुः समापतति,–इति परमपुरुषार्थ-साधनायां मनाक् अपि अवलेपो न कार्यः–इति शिवम्।

अनुवाद : 'प्रधान प्रयोजन सिद्ध होने पर भी प्रयत्न सफल हो जाता है'–इस लोकोक्ति को ध्यान में रखकर इस विषय में रत्ती भर भी गर्व करना उचित नहीं है। कारण यह कि–

१. योगाभ्यास करने से यदि आत्मभाव पर स्थिरता प्राप्त हुई तो हमारी मनोकामना सिद्ध हो गई,

२. यदि न भी हुई तो (मर्त्य लोक से) इतर दिव्यलोकों की प्राप्ति निश्चित है, और

३. दिव्यलोकों से वापस लौटने पर भी पूर्वजन्म में अभ्यास का विषय बनाए गए योगक्रम की वासना के उजागर हो जाने के बल से फिर उसी (पूर्वाभ्यस्त) योगक्रम के साथ संबन्ध जुड़ जाना निश्चित है, अतः श्रेयोमार्ग का परिशीलन करनेवाले कर्मठ साधक का तनिक् भो अनहित नहीं होता है।

अतः सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ की साधना करने में तिल भर भी आना-कानी नहीं करनी चाहिए। विश्व का कल्याण हो।

श्लोकानुक्रमणी

PENMAN PUBLISHERS

ORIENTAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS

7309/5, Prem Nagar, Shakti Nagar, Delhi-7

Phone : 011-3980319

E-mail : penman-bks@hotmail.com